CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

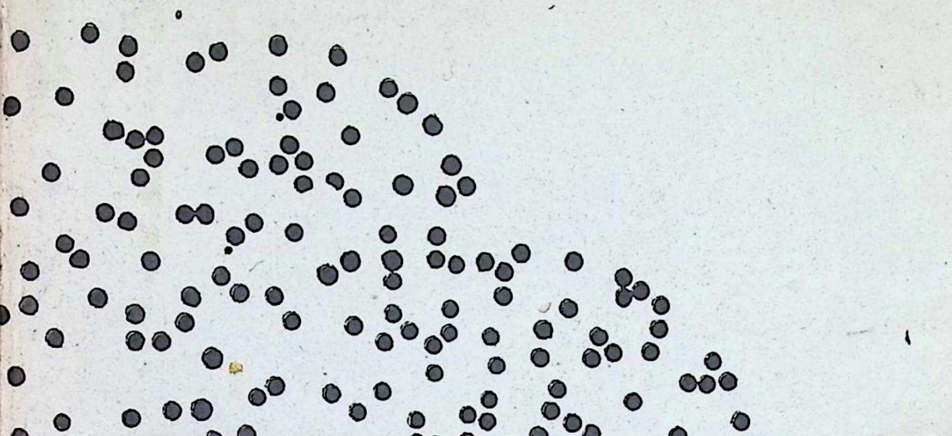

महाभारतकालीन समाज व्यवस्था

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जीवाजी विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि हेतु स्वीकृत
शोध-प्रबन्ध

महाभारत कालीन समाज–व्यवस्था

डा० भरतलाल चतुर्वेदी
(एम. ए. बी. एड. साहित्य रत्न, पी-एच. डी)

विद्या प्रकाशन मन्दिर
नई दिल्ली–२

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

© प्रकाशक
संस्करण : प्रथम 1981
मूल्य : रु० पैंसठ
प्रकाशक : ज्ञान मंडल प्रकाशन, ग्वालियर हेतु विद्या प्रकाशन मंदिर, नई दिल्ली
मुद्रक : हरिकृष्ण प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

MAHABHARAT KALIN SAMAJ VAYAVASTHA
by Dr. Bharat Lal Chaturvedi Rs. 65.00

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

समर्पण

अपनी परम पूज्या माता, साकेतवासिनी श्रीमती आनन्दीबाई,
जिन्होंने मुझे अपार वात्सल्य प्रेम देने के साथ ही साथ
सद्बुद्धि दी एवं अध्ययन में रत किया, की पुण्य
स्मृति में।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हृदयोद्‌गार

अखिल विश्व नियन्ता परमेश्वर की इच्छा से मुझे शोध कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। 'अपने राष्ट्र की संस्कृति से सभी नागरिकों का प्रेम होना चाहिए', इस नियम के अनुसार मुझे भी अपने देश की संस्कृति से प्रेम है। प्राचीन संस्कृति से अनुराग होने के कारण मैंने महाभारत कालीन समाज-व्यवस्था को ही अपना शोध विषय चुना। विषय तो चुन लिया किन्तु यह समस्या उत्पन्न हुई, कि महाभारत काल में कोई निश्चित काल ही नहीं है। बी० ए० तथा एम० ए० में जो संस्कृत साहित्य का इतिहास पढ़ाया गया था वह अधिकांश में विदेशी विद्वानों के मतों पर ही आधारित था, उन्हीं को मान्यता दी गई थी। भारत की प्राचीन परम्परा भी मुझे किशोरावस्था से ही ज्ञात थी, किन्तु वह अधिकांश विद्वानों में कल्पित मानी जाती थी। अब इस समस्या के लिए अध्ययन करना आवश्यक था। अनेक पुस्तकें पढ़ने पर ज्ञात हुआ कि अनेक भारतीय विद्वानों ने महाभारत के काल के सम्बन्ध में प्राचीन परम्परा का समर्थन किया है। जिनमें से श्री चिंतामणी विनायक जी वैद्य, भी एक हैं। उनकी पुस्तक जिसका अनुवाद माधवराव सप्रे ने 'महाभारत मीमांसा' नाम से किया है, का निर्णय मुझे युद्ध काल के लिए तर्कयुक्त व उचित ज्ञात हुआ और मैंने वही स्वीकार किया। महाभारत ग्रन्थ की रचना के सम्वन्ध में तो महाभारत में ही स्पष्ट अन्तर्साक्ष्य है, अतः अनुमान की कोई आवश्यकता ही नहीं।

'महाभारत कालीन समाज व्यवस्था' विषय पर प्रबन्ध लिखते समय मुझ अधिकांश सामग्री तो महाभारत (गीता प्रेस गोरखपुर) ग्रन्थ से प्राप्त हुई है, अतः मुनि व्यास का तो हम सब पर आभार है ही। यदि यह ग्रन्थ न होता तो उस काल की समाज व्यवस्था के सम्बन्ध में हम सब भारतीय पूर्ण अन्धकार में होते। साथ अनेक विद्वान आलोचकों ने जो विवादास्पद विषयों पर परिश्रमपूर्वक अध्ययन करके निर्णय दिये हैं उनके प्रति भी कृतज्ञ होना मेरा कर्तव्य है।

इस शोध प्रबन्ध के तैयार होने में, प्रारंभ से अद्यपर्यन्त, जिन महानुभावों से मुझे किसी प्रकार की भी प्रेरणा व सहायता प्राप्त हुईहै उनसे मैं उऋण नहीं हो सकता। वे महानुभाव हैं—सर्वप्रथम मेरे निर्देशक महोदय हरिरामचन्द्र दिवेकर, एम० ए०

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

डी० लिट० (पेरिस) साहित्याचार्य, श्री प्रभुदयाल जी अग्निहोत्री, भू० पू० संस्कृताध्यक्ष, महारानी लक्ष्मीबाई महाविद्यालय, ग्वालियर, डा० श्री कृष्ण जी गुप्त, संस्कृताध्यक्ष, डा० रामचन्द्र जी तिवारी, डा० नरेन्द्र शर्मा एवं मेरे प्रधानाध्यापक, सबलगढ़। इसके अतिरिक्त अशोक टार्यपिग एण्ड शोर्टहैण्ड इंस्टीट्यूट के कार्यकर्ताओं ने भी मेरे साथ लगन व तत्परता से परिश्रम किया, जिससे कि मैं इस शोध प्रबंध को समय पर प्रस्तुत कर सका, अतः मैं इन सबका आभारी हूं।

मेरा यह प्रथम प्रयास है तथा ज्ञान भी अत्यन्त सीमित है। शासकीय सेवक होने के कारण मुझे वन्य ग्राम में रहना पड़ा है तथा रह रहा हूं, अतः अवकाश के अवसरों पर ही अध्ययन का लाभ प्राप्त कर सका हूं। मुझसे पर्याप्त अध्ययन नहीं किया जा सका जिसके लिये मुझे हार्दिक दुख रहा है। फिर भी गुरुजनों के आशीर्वाद व निर्देशन से जो कुछ भी कार्य मुझसे बन पड़ा, वह मैंने किया। कार्य में अवश्य अनेक त्रुटियां होंगी जिनका होना अनिवार्य है। मुझे आशा है कि विद्वान पाठक मेरी उन त्रुटियों को बालक के तोतले वचनों की भांति क्षमा करेंगे।

विनीत
भरत लाल चतुर्वेदी
शोधकर्ता

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
प्रथम	उपक्रम	1
द्वितीय	वर्ण-व्यवस्था	21
तृतीय	आश्रम-व्यवस्था एवं शिक्षा	54
चतुर्थ	विवाह व्यवस्था एवं अन्य रीति रिवाज	96
पंचम्	शासन व्यवस्था एवं युद्ध नीति	148
षष्ठ	व्यापार एवं उद्योग धंधे	185
सप्तम्	महाभारत कालीन समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों के मतों पर विचार	203
अष्टम्	उपसंहार—महाभारत कालीन समाज व्यवस्था पर एक विहंग दृष्टि	226
	पुस्तक-सूची	241

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रथम अध्याय

उपक्रम

भूमिका—संसार परिवर्तनशील है। इसमें नित्य नये परिवर्तन होते ही रहते हैं। इस परिवर्तनशील जगत में सहस्रों वर्षों में विश्व का रूप ही इतना परिवर्तित हो जाता है कि परवर्ती समाज उसके उस रूप का अनुमान भी नहीं लगा सकता। यह परिवर्तन विश्व के प्रत्येक भाग में व प्रत्येक वस्तु में होता ही रहता है। जिस स्थान पर किसी समय महासागर की उत्ताल तरंगें उठा करती थीं वही भविष्य में जल समुदाय से युक्त भू-भाग हो जाता है। अनेकों द्वीप समुद्रमग्न हो जाते हैं तथा अनेकों भू-भाग समुद्र में से ऊपर आ जाते हैं। भू-गर्भ शास्त्रियों का अनुमान है कि आज जहां हिमालय पर्वत है, वहां लगभग 15-20 करोड़ वर्ष पूर्व एक महासागर (टैथिस) लहराया करता था।[1] उनका यह कथन वैज्ञानिक आधार पर है। वैसे भी संसार की परिवर्तनशीलता को देखते हुए यह कथन कुछ आश्चर्यजनक नहीं है। यह विश्व अनन्त व विचित्र है तथा इसके किसी भी रूप का परिवर्तन होना असम्भव नहीं है। आधुनिक युग में ही भूकम्पों व ज्वालामुखी के विस्फोटों से अनेक भू-भाग समुद्र में विलीन हो गये हैं। लाखों की जनसंख्या वाले नगरों के स्थान पर व्याघ्रादि हिंसक पशुओं से व्याप्त सघन वन हो गये हैं तथा गहन वनों के स्थान पर घनी जनसंख्या वाले नगर बस गये हैं।

आज जिस काल को हम प्रागैतिहासिक कहते हैं किसी समय वह भी भविष्य के गर्भ में था। मानव जाति ने न जाने कितनी बार उन्नति व पतन का अनुभव किया है। सृष्टि में सृजन व प्रलय का चक्र चलता ही रहता है। कभी कोई देश उन्नति की चरम सीमा पर प्रतिष्ठित होता है फिर वही कालचक्रवश अवनति के अगाध गर्त में मग्न हो जाता है। कभी किसी देश का अस्तित्व ही नहीं रहता और नवीन देश अस्तित्व में आ जाता है।

आज जिस अमेरिका को हम विश्व के सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र के रूप में देख रहे हैं वही

---

1. वीरेन्द्रनाथ मजूमदार तथा गोपाल शरण 'प्रागैतिहास', पृष्ठ, 125

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आज से केवल 500 वर्ष पूर्व किस स्थिति में था, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। कोलम्बस द्वारा उसे खोजे जाने व यूरोपियों के वहां बसने से पूर्व, वहां की आदिम जाति किस स्थिति में थी, इसे समस्त साक्षर जगत जानता है। इतना ही नहीं, यही अमेरिका अभी और अधिक उन्नत व समृद्ध हो सकता है, किन्तु काल की गति विचित्र है, एक वह दिन भी आ सकता है जब अमेरिका निवासियों की पुनः वही स्थिति हो, जैसी कोलम्बस के वहां पहुंचने से पूर्व थी। संभव है कि सहस्रों वर्ष पूर्व भी वह भू-भाग या तो समुद्र-मग्न रहा हो अथवा आज की भांति समुन्नत हो। रूस, इंग्लैण्ड आदि की भी यही स्थिति है।

आज जो इतिहास है वह अत्यन्त सीमित काल का है। दो-तीन सहस्र वर्ष इस विश्व के असीमित काल में नगण्य हैं। इससे पूर्व के इतिहास के ज्ञान के स्रोत ही प्राप्त नहीं होते। इस अनन्त विश्व में अनेकों बार इतिहास लिखे जा चुके होंगे। सिन्धु-घाटी में पांच-छः सहस्र वर्षों से भी अधिक प्राचीन सभ्यता प्रकाश में आने से पूर्व, इतिहासकार भारतीय संस्कृति को अति प्राचीन नहीं मानते थे किन्तु वहां जो सुन्दर-सुन्दर नगर प्राप्त हुए हैं उनसे अब भारतीय सभ्यता व संस्कृति को इतना प्राचीन माना जाने लगा। सिन्धुघाटी में नगरों की सात पर्तें प्राप्त हुई हैं। इससे आगे का ज्ञान इस कारण प्राप्त नहीं हो सका, क्योंकि जल ने वाधा उत्पन्न कर दी। जल में मग्न भी न जाने कितनी पर्त्तें हो सकती हैं, कुछ कहा नहीं जा सकता। सात स्तरों से इतना वोध तो होता ही है कि उस स्थल पर सात बार नगरों का निर्माण हो चुका तथा सात बार वे नगर नष्ट हो चुके। इसी प्रकार न जाने कितनी सभ्यतायें इस भूमि में समा गईं तथा न जाने कितनी सभ्यताओं का उदय हो चुका।

सिन्धुघाटी की सभ्यता भारत की ही सभ्यता है तथा अब विद्वान वहां के अस्थि-पंजरों का व उनके सिरों का वैज्ञानिक परीक्षण करके यह भी मानने लगे हैं कि यहां आर्यों की जनसंख्या भी पर्याप्त थी। आर्यों के अतिरिक्त अन्य जातियों के भी अस्थि-पंजर प्राप्त हुए हैं जिससे वह एक मिश्रित सभ्यता विदित होती है किन्तु विद्वान अभी किसी निर्णय पर नहीं पहुंच सके। वे नगर व्यापार के भी बड़े केन्द्र थे अतः सभी जातियों के व्यक्तियों का वहां उपस्थित होना सम्भव ही है।

हमारे साहित्य की—जिसमें वेद, उपनिषद्, इतिहास-पुराण, महाकाव्य आदि सभी सम्मिलित हैं—यह एक विशेष दुर्बलता है कि उसमें काल की चर्चा नहीं की गई। इस कारण आज हमें बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है तथा केवल अनुमानों के आधार पर हमारे प्राचीन साहित्य को व सभ्यता को, अति प्राचीन होते हुए भी, निकट भूत का ही माना जा रहा है। यद्यपि आज स्वतन्त्र भारत के भारतीय मनीषी सत्य तथ्य प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं, किन्तु आधार का अभाव है।

भारतीय साहित्य का मनन करने पर ऋग्वेद की रचना के प्रारम्भ से भारतीय सभ्यता व संस्कृति का ज्ञान होता है। हमारे प्राप्त प्राचीन साहित्य में जिस सभ्यता का वर्णन है, वह आर्य जाति की सभ्यता है। इस सभ्यता का उदय ऋग्वेद के प्रारम्भिक

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रचना काल से माना जाता है। भारतीय साहित्य के अवलोकन से इस सभ्यता का काल अतिदीर्घ ज्ञात होता है। आर्यों ने काल को चार भागों में विभाजित किया है—सत्य युग, त्रेता युग, द्वापर युग तथा कलियुग। इन युगों का काल बारह सहस्र दिव्य वर्ष अथवा तैंतालीस लक्ष्य बीस सहस्र मानव वर्ष माना गया है। युगों के विभागों का अनुपात: क्रमश: 4:3:2:1 रखा गया है। आधुनिक विद्वान, भारतीय शास्त्रों में वर्णित इस काल को भ्रमात्मक व कल्पनाप्रसूत मानते हैं किन्तु इस विषय में अभी पर्याप्त अनुसंधान की आवश्यकता है, क्योंकि हम भारतीय इस साहित्य के स्रष्टा महर्षियों को, असत्यभाषी भी सहज में कैसे मान सकते हैं।

अस्तु, इस शोध का विषय, काल निर्णय करना नहीं अपितु 'महाभारत कालीन समाज-व्यवस्था' का अध्ययन करना है। रामायण से महाभारत तक का काल भारत की समृद्धि का काल था। महाभारत युद्ध उस समय हुआ जब आर्य सभ्यता का सूर्य मध्याह्न पर था। महाभारत के पश्चात् भारत का निरन्तर पतन होता गया, यद्यपि कभी-कभी उन्नति के प्रयत्न किये गये किन्तु वह समृद्धि पुन: प्राप्त न हो सकी। भारतीय प्राचीन साहित्य—वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि—से इतिहास की विपुल सामग्री प्राप्त की जा सकती है। विदेशियों ने जो कठोर परिश्रम हमारे प्राचीन साहित्य के अध्ययन में किया है वह इस दृष्टि से तो स्तुत्य है कि उन्होंने हमें हमारे साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन करने के लिये प्रेरित किया। यह लाभ हमें अप्रत्यक्ष रूप से ही प्राप्त हो गया। किन्तु प्रत्यक्ष रूप से तो उनके परिश्रम से हमें हानि ही हुई। उन्होंने हमारे अज्ञान व दीनता से लाभ उठाकर इच्छानुसार अर्थ-अनर्थ किये। उनके परिश्रम पर विश्वास करके भारतीय भी आलस्य का आश्रय लेकर उन्हीं के पद चिह्नों पर चलने लगे। अभी तक यही स्थिति रही। अब; स्वतंत्रता के पश्चात्, भारतीय स्वतन्त्र दृष्टि से अध्ययन करने पर कटिबद्ध हुए हैं। इस कार्य में अत्यधिक परिश्रम, लगन व राष्ट्र-जाति प्रेम की आवश्यकता है। देश के कुछ विद्वान अभी भी यूरोपियों के अन्धानुकरण में रत हैं किन्तु मेरी प्रार्थना है कि यदि हमें उनका अनुकरण ही करना है तो उनके उस राष्ट्रीय व जातीय प्रेम का करना चाहिए, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने अथक परिश्रम करके हमारे साहित्य का लगनपूर्वक अध्ययन किया था तथा हमारी संस्कृति को कुछ नीचे लाकर अपनी संस्कृति को कुछ ऊपर उठाया था।

समाज व्यवस्था से तात्पर्य—"महाभारत कालीन समाज-व्यवस्था" के संबंध में कुछ लिखने से पूर्व यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि समाज क्या है? समाज व्यवस्था का क्या तात्पर्य है? उसका क्षेत्र क्या है? तथा महाभारत कालीन समाज से तात्पर्य किस समाज से है और उसकी सीमा कब से कब है? इन सब तथ्यों का पूर्ण ज्ञान हुए बिना इस प्रबन्ध का लेखन कार्य असम्भव है।

समाज से हमारा तात्पर्य मानव समाज से है। 'समाज' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—"समम् अजन्ति जनाः यस्मिन् इति समाजः" जिसमें लोग हिल-मिलकर एक

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

साथ एक गति से चलें, वही समाज है। महाभारत कालीन समाज का अर्थ उस काल के मानव समूह (की सभ्यता व संस्कृति) से है। महाभारत युद्ध, जिसका घटनास्थल भारत वर्ष था तथा जिसमें तत्कालीन भारत के अनेक राजाओं ने भाग लिया था, सभी महाभारत कालीन समाज में सम्मिलित हैं।

समाज व्यवस्था में वर्ण-आश्रम व्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था, राज्य व्यवस्था, विवाह व्यवस्था, युद्ध-नीति, व्यापार व उद्योग-धन्धे, तत्कालीन जीवन में व्यवहृत होने वाली अनेक प्रथाएं, परम्पराएं, रीति-नीति, आचार-विचार आदि सम्मिलित होते हैं। उस समय का मानव सामूहिक रूप से अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करता था, जीवन से सम्बन्धित व्यवहार में आने वाले कौन-कौन से नियम थे, रहन-सहन का स्तर क्या था, उसकी वेश-भूषा कैसी थी, भोजन क्या था, परस्पर व्यवहार के नियम क्या थे? इत्यादि तथा मानव के विचार व आचार भी समाज व्यवस्था के क्षेत्र में आ जाते हैं, क्योंकि विचाराधारा ही वह मूल भित्ति है जिसके आधार पर समाज-व्यवस्था रूपी भवन खड़ा किया जा सकता है। वे सभी सामाजिक नियम भी समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत आते हैं, जिनका, तात्कालिक समाज सामूहिक रूप से पालन करता है। इस प्रकार 'समाज-व्यवस्था' मानव के द्वारा सामूहिक रूप में की जाने वाली सभी मानसिक, वाचिक व कायिक क्रियाओं व नियमों को अपनी परिधि में लेती है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर इस विषय पर विचार किया जाना है।

महाभारत कालीन समाज व्यवस्था से तात्पर्य केवल उस काल की समाज व्यवस्था से है जो महाभारत युद्ध से लगभग दो-चार सौ वर्ष पूर्ववर्ती तथा दो-चार सौ वर्ष परवर्ती है। महाभारत ग्रन्थ में तो आख्यान-उपाख्यानों द्वारा सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग की प्रारम्भिक काल की समाज-व्यवस्था का वर्णन है किन्तु इस विषय का सम्बन्ध केवल द्वापर व कलि के सन्धिकाल की समाज व्यवस्था से है। इस काल-क्षेत्र में महाराजा प्रतीप (भीष्म के पितामह) से महाराजा जनमेजय के जीवन काल तक की समाज व्यवस्था आती है।

"महाभारत कालीन समाज-व्यवस्था" का वर्णन पढ़ते समय पाठकों के मन में इस प्रश्न का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि "यह महाभारत काल, कौनसा काल है? महाभारत युद्ध कब हुआ था? इस प्रश्न के उत्तर के लिए महाभारत युद्ध के काल की चर्चा भी आवश्यक प्रतीत होती है। महाभारत युद्ध के सम्बन्ध में इतिहासकारों का एकमत नहीं है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि यह युद्ध कोई वास्तविक घटना नहीं है, कवि की कल्पना मात्र है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् इस युद्ध को तो सत्य मानते हैं किन्तु उसका समय भिन्न-भिन्न मानते हैं। अधिक मान्यता 1400 वर्ष ई० पू० को दी गई है। तीसरा वर्ग जिसमें कुछ भारतीय ही हैं—इस घटना को सत्य तो मानता ही है साथ ही साथ इसका काल 3101 वर्ष ई० पू० मानता है।

इस वर्ग के प्रमुख विद्वान् श्री चिन्तामणि विनायक जी वैद्य हैं। वैद्य जी ने वर्षों

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के निरन्तर श्रम से महाभारत के सम्बन्ध में फैलाई गई अनेक भ्रान्तियों को अपनी पाण्डित्यपूर्ण उक्तियों से दूर किया और भविष्य के लिए इस महाग्रन्थ के सम्बन्ध में निष्पक्ष विचार दिए। उनके परिश्रम से महाभारत युद्ध का काल अब प्रायः निर्णीत ही हो गया है। वैद्य जी ने अपनी पुस्तक में, जिसका अनुवाद—माधवराव सप्रे ने मराठी से हिन्दी में "महाभारत मीमांसा" नाम से किया है—महाभारत युद्ध का काल 3101 वर्ष ई० पू० निश्चित किया है। उन्होंने इसके लिए तीन आधार लिये हैं।— 1. मैगस्थनीज की पुस्तक, 2. भारतीय ज्योतिषियों की परम्परा, 3. वैदिक साहित्य। इस प्रकार इन तीन दृढ़ प्रमाणों का आश्रय लिया गया है।

1. श्री कृष्ण महाभारत युद्ध के एक प्रधान पात्र थे तथा मैगस्थनीज ने अपने वर्णन में लिखा है कि "संड्रोकोट्स व डायानिसास के बीच में 153 पीढ़ियां व 6042 वर्ष हुए हैं। हिराक्लीज, डायानिसास से 15 पीढ़ी बाद हुआ। सौरसेनी लोग हिराक्लीज की भक्ति करते थे।" इससे विदित होता है कि हिराक्लीज अवश्य "श्री कृष्ण" ही हैं। 153 पीढ़ियों में से 15 पीढ़ियां हटा देने पर 138 पीढ़ियों का अन्तर हिराक्लीज (श्रीकृष्ण) और संड्रोकोट्स (चन्द्रगुप्त) में हुआ। यदि प्रत्येक पीढ़ी का काल लगभग बीस वर्ष मान लिया जाए तो 2760 वर्ष होती हैं तथा चन्द्रगुप्त ईसा से लगभग 320 वर्ष पूर्व, राज्याभिषिक्त हुआ। 2760 वर्षों में इस काल—320 वर्ष को मिला देने पर कुल समय ईसा से 3080 वर्ष पूर्व होता है, जो भारतीय परम्परा का निकटवर्ती ही है। मैगस्थनीज ने जो वर्णन किया है वह तत्कालीन लेखों व प्रमाणों के आधार पर ही किया है, वह सत्य व मान्य है।

2. भारतीय मान्यता के अनुसार महभारत के युद्ध के पश्चात् कलियुग का आरम्भ हो गया। भारतीय ज्योतिषियों की परम्परा के अनुसार प्रति वर्ष, एक वर्ष की वृद्धि करते हुए लगभग दो हजार वर्षों से पंचागों में कलियुग की गत वर्षों को लिखा जा रहा है। वराह मिहिर, आर्य भट्ट व ब्रह्मगुप्त आदि महान् ज्योतिषियों के समय से यही परम्परा चली आ रही है तथा उन्होंने अपने काल में प्रचलित परम्परा से अथवा उस काल में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर ही यह परम्परा प्रारम्भ की होगी जो किसी भी कारण से अविश्वसनीय नहीं है।

3. **वैदिक साहित्य से प्रमाण**—शंकर बाल कृष्ण दीक्षित ने अपनी पुस्तक 'भारतीय ज्योतिष शास्त्र' में यह सिद्ध किया है कि "वेदांग ज्योतिष का समय 1410 वर्ष ई० पू० है।" "छान्दोग्योपनिषद वेदांगज्योतिष से पूर्व की रचना है," सिद्ध हो ही चुका है। छान्दोग्य-उपनिषद् में श्रीकृष्ण की चर्चा होने से वे छान्दोग्योपनिषद से भी पूर्व के हुए। इस प्रकार महाभारत युद्ध का ऐतिहासिक काल 3101 वर्ष ई० पू० होता है जैसी कि भारतीय परम्परा है।

महाभारत की रचना का काल—"महाभारत कालीन समाज व्यवस्था" के सम्बन्ध में कुछ लिखने के लिए मुख्य आधार 'महाभारत' ग्रन्थ ही है। किन्तु वह भी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तभी प्रमाण रूप है जबकि उसकी रचना महाभारत युद्ध के निकटवर्ती हो। अतः यह ज्ञात होना भी आवश्यक है कि 'महाभारत' की रचना किस काल में हुई ?

पश्चिमी विद्वानों का मत है कि महाभारत की रचनी ईसा से एक या दो शताब्दी पूर्व तक हुई। यदि यही सत्य हो तो महाभारत काल की समाज व्यवस्था के लिए यह ग्रन्थ कैसे प्रमाणित हो सकता है, यद्यपि महाभारत ही उस काल की समाज व्यवस्था के ज्ञान का आधार है। अतः उसके रचना काल पर विचार करना भी उचित है। महाभारत का रचना काल इतना आधुनिक माना जाने के लिए एक यह प्रमाण भी दिया जाता है कि "इसमें 'यवन' शब्द अनेक बार आया है जिससे तात्पर्य 'यूनानी' से है तथा यूनानियों से हमारा सम्पर्क सर्वप्रथम सिकन्दर महान् के आक्रमण के समय से ही हुआ है।" किन्तु खोज करने पर यह असत्य सिद्ध होता है कि यवनों (यूनानियों) से हमारा सम्पर्क सिकन्दर से पूर्व नहीं था। महाभारत में कहीं भी राशियों की चर्चा नहीं है और "राशियां 450 ई० पू० से भी पूर्व ली गई" यह निश्चय श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित द्वारा किया जा चुका है।[1] अतः महाभारत का रचना काल कम से कम 500 ई० पू० को तो पार कर ही जाता है जो सिकन्दर के आक्रमण से तो प्राचीन ही है। इसके अतिरिक्त पारसीक सम्राट दाराउस और खुसरो ने पूर्व की ओर सिन्धु तक तथा पश्चिम में एशिया माइनर के किनारे के ग्रीक राज्यों को जीता था। "उसकी सेना में ग्रीक व भारतीय दोनों ही थे," ऐसा ग्रीक इतिहास से पता पड़ता है। इस प्रकार भी ई० पू० 500 से पूर्व यूनानियों से भारतीयों के सहवास का पता चलता है। इस काल से भी पूर्व भारत के रोम, यूनान आदि से जो व्यापारिक सम्बन्ध थे उनसे यह सम्पर्क और भी प्राचीन सिद्ध होता है। भारतीय सभ्यता के व्यापारिक सम्बन्ध का सर्वप्रथम परिचय मोहेन्जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से मिला है। पुरातत्व के पण्डित इस निश्चय पर पहुंचे हैं कि यहां के निवासी व्यापार भी करते थे और इनके व्यापार का सम्बन्ध विभिन्न देशों से भी हो चुका था। ई० पू० 3000 में भारत और वेवीलोन का व्यापारिक सम्बंध था। वेबीलोन की भाषा में 'सिन्धु' शब्द का अर्थ मलमल है। सम्भवतः सिन्धु प्रदेश से वहां मलमल जाता होगा और उस वस्त्र का नाम भेजने वाले देश के नाम पर पड़ गया। चालिया में कुछ उत्कीर्ण लेख मिले हैं जिनमें उर के कई जहाजों का भारत से सोना लाने का उल्लेख मिलता है।[2] ईसा से लगभग 500 वर्ष पूर्व मिश्र में भारतीय व्यापारियों की एक नगरी मैम्फिस में थी।[3]

पाणिनी के सूत्रों में यवन लिपि का उल्लेख पाया जाता है तथा उन्हें महाभारत

1. श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित—"भारतीय ज्योतिष शास्त्र", पृष्ठ 139
2. डा० रामजी उपाध्याय "भारत की प्राचीन संस्कृति", पृष्ठ 99
3. वही, पृष्ठ 100

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के मूल और उपबृंहित दोनों स्वरूपों का परिचय था।[1] गोल्ड स्कूटर एवं श्री रामकृष्ण गोपाल भांडारकर के मत से पाणिनी के सूत्रों का रचना काल लगभग 700 वर्ष ई० पू० सिद्ध हो चुका है।[2] अतः हमारा यूनानियों से सम्पर्क का काल लगभग ईसा से एक सहस्र वर्ष पूर्व तक पहुंचता है। इसके अतिरिक्त कोई ऐसा प्रमाण भी तो नहीं जिससे ऐसी सीमा निर्धारित की जा सके कि अमुक काल से पूर्व तो भारत व यूनान का सम्पर्क हो ही नहीं सकता। सिन्धुघाटी सभ्यता के प्रमाणों से तो इस सम्पर्क का अनुमान ईसा से लगभग 3000 वर्ष पूर्व भी लगाया जा सकता है। सिंधुघाटी सभ्यता को भी कुछ विद्वान आर्य सभ्यता सिद्ध करते हैं[3] तो यह भी महाभारत कालीन सभ्यता ही हो सकती है, क्योंकि विद्वानों ने इसका काल अनुमानतः 3000-2500 ई० पू० माना है।[4] जो महाभारत काल के अत्यन्त निकट है। सिन्धुघाटी सभ्यता में भारत का विदेशों से जल व स्थल मार्गों द्वारा व्यापार होता था अतः यूनान से व्यापारिक व अन्य सम्बंध उस काल में भी सम्भव हैं। आश्वलायन सूत्र में भी, जो पाणिनी सूत्रों से भी प्राचीन सिद्ध हो चुके हैं, महाभारत का स्पष्ट उल्लेख है। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य जी ने आश्वलायन सूत्र की रचना 1300 ई० पू० सिद्ध की है।[5] तैत्तरीय आरण्यक में व्यास और वैशम्पायन दोनों का नामोल्लेख है। महाभारत के प्रवक्ता पाराशर्य व्यास द्वारा उसका (महाभारत) सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से स्थापित होता है, जिसमें पाराशर का नाम मुख्य रूप से आता है। पुनश्च, जनमेजय का उल्लेख महाभारत और शतपथ ब्राह्मण दोनों में हुआ है।[6] अनुमानतः आश्वलायन सूत्र की रचना यदि पाणिनी से 400 या 500 वर्ष पूर्व की हो तो भी महाभारत की रचना का काल लगभग 2000 ई०पू०तक पहुंच जाता है।

अन्तर्साक्ष्य को देखने से ज्ञात होता है कि महाभारत के तीन संस्करण हुए हैं। प्रथम, महर्षि व्यास ने महाभारत मूल की रचना युद्ध के 60 वर्ष के पश्चात् प्रारम्भ करके तीन वर्ष में समाप्त की।[7] द्वितीय, उनके शिष्य वैशम्पायन ने, अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय के नाग यज्ञ में उस कथा को सुनाया[8], साथ ही जनमेजय के प्रश्नों के उत्तर

1. डा० राधाकुमुद मुकर्जी (अनु० वासुदेव शरण अग्रवाल), हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ 155
2. वही, पृष्ठ 136
3. एम ओरिइ० जिल्द 18, पृ० 385-395
   डा० राजबली पाण्डेय "प्राचीन भारत" पृ०38
4. श्री रमेशचन्द्र मजूमदार—"प्राचीन भारत" पृ० 17
5. श्री वासदेव शरण अग्रवाल "हिन्दू सभ्यता" अनुदित पृ० 155
6. वाचस्पति गैरोला "संस्कृत साहित्य का इतिहास" पृ० 255
7. स्वर्गारोहण पर्व—5।48
8. आदि पर्व—1।9-11

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दिये जिससे ग्रन्थ का संवर्धन हुआ। तृतीय, महर्षि शौनक के द्वादश वर्षीय सत्र में सूतजी ने इस कथा को सुनाया।[1] शौनक जी ने भी अनेक प्रश्न किये जिससे अनेक आख्यानोपाख्यान बढ़ गए। वर्तमान महाभारत संवर्धित तृतीय संस्करण ही है जो महाभारत युद्ध से 200-300 वर्ष से अधिक उत्तर काल का नहीं हो सकता। फिर भी कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। तृतीय संस्करण के पश्चात् भी सहस्रों वर्षों में थोड़े-बहुत परिवर्तन व प्रक्षेप होना सम्भव है किन्तु उनको पृथक नहीं किया जा सकता।

समाज व्यवस्था की आवश्यकता—किसी समाज को व्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए कुछ नियम निर्धारित करने पड़ते हैं तथा उन नियमों का पालन न करने वालों को समाज दण्ड देता है। सम्पूर्ण समाज उन नियमों का पालन करता है। ये नियम देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार निर्धारित किये जाते हैं। प्राचीन भारतीय समाज में नियमों को धर्म तथा इसके विपरीत आचरण को अधर्म या पाप कहा जाता था। समाज के ये नियम समय-समय पर परिवर्तित हुआ करते हैं। महाभारत काल को पांच सहस्र वर्ष से अधिक समय हो गया है। इस काल ने यद्यपि भारत ने अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं तथापि उस काल की या उससे भी पूर्ववर्ती वैदिक काल की, समाज व्यवस्था दृढ़ होने के कारण ही आधुनिक काल तक स्थिर रही। इस दीर्घकाल में समाज-व्यवस्था में थोड़े-बहुत परिवर्तन भी होते रहे। बौद्धों व जैनों के प्रयास भी इसे समाप्त कर देने में सफल न हुए। इन दोनों सम्प्रदायों के प्रयास से, वे दोष तो समाप्त हो गये जो उस काल तक वैदिक व्यवस्था में आ गये थे किन्तु वर्णाश्रम व्यवस्था समाप्त नहीं हुई। इसी व्यवस्था के कारण हमारी सभ्यता व संस्कृति दीर्घकाल तक स्थिर रही। जिस समाज की व्यवस्था धर्म चिन्तन के पश्चात् दृढ़ नियमों का निर्माण करके की जाती है तथा जिसे भंग करने में किसी न किसी प्रकार का भय रखा जाता है वही समाज अपनी सभ्यता व संस्कृति को अधिक समय तक स्थिर रख सकता है। इसीलिए समाज को व्यवस्थित रखने की आवश्यकता है। यदि समाज के नियम अस्थिर रहे तथा श्रेष्ठ नियमों का पालन न करने वालों को यदि किसी प्रकार का भय न रहा तो समाज में उच्छृंखलता आ जाती है।

समाज व्यवस्था का उद्देश्य—जो समाज उच्छृंखल होता है वह उन्नति नहीं कर सकता, जैसे शरीर की रक्षा करने वाले, उसे स्वस्थ रखने वाले नियमों का पालन न किया जाये तो शरीर हृष्ट-पुष्ट न होकर कृश व दुखित हो जाता है। यही नियम समाज पर भी लागू होता है।

समाज व्यवस्था के सम्बन्ध में एक विषय और चिन्तनीय है कि इसके नियमों में देश-काल व परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन करना अनिवार्य होता है। हम किसी अन्य देश की समाज व्यवस्था का पूर्ण अनुकरण नहीं कर सकते। किसी देश के आदर्शों

---

1. आदि पर्व—1।17-25

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

से शिक्षा अवश्य ग्रहण कर सकते हैं तथा उसका अपने देश की परिस्थितियों से सामंजस्य करके, उचित हो तो उपयोग में ला सकते हैं क्योंकि कोई व्यवस्था किसी देश के लिए उसकी परिस्थितियों, भौगोलिक दशा, संस्कृति, परम्पाराओं, व धर्म के अनुकूल होने के कारण हितकर हो सकती है परन्तु वही व्यवस्था अन्य देशों के लिए, जिसकी जनता की संस्कृति, परम्पराएं, आचार-विचार, भौगोलिक दशा व परिस्थितियां भिन्न हों, अहितकर हो सकती है। अत; नवीन समाज व्यवस्था की रचना करते समय यह आवश्यक हो जाता है कि हम स्वतंत्र रूप से अपने समस्त वातावरण के अनुसार चिन्तन करें, अन्यथा समाज व्यवस्था विफल हो जाती है। भारत की भी, वर्तमान काल में यही स्थिति है, हम विदेशी विचारकों से प्रभावित होकर, उनके उन नियमों को अपने देश में प्रयोग करते हैं जिनका निर्माण उन्होंने अपने देश की परिस्थितियों का चिन्तन करके किया था। यद्यपि उन विद्वानों की महानता में कोई संशय नहीं किन्तु यह भी सत्य नहीं कि वे सब नियम हमारे देश में भी सफल सिद्ध हों।

वर्तमान भारत लगभग 200 वर्ष से, अंग्रेजों के अधीन रहने से एवं दरिद्र, अशिक्षित व दास होने से, अंग्रेजों के अनेक रीति-रिवाजों का अनुकरण करने में गौरव का अनुभव करता था। क्या भाषा, क्या वेश भूषा, क्या आचार-विचार, व्यवहार आदि, उसके सभी आचरण भारत के सामान्य नागरिकों को अच्छे लगते हैं और यह स्वाभाविक ही है क्योंकि हम लोगों व अंग्रेजों में शासक व शासित, समृद्ध व दरिद्र, स्वामी व सेवक जैसा अन्तर था। अतः हम लोग उनकी भांति जीवन-यापन करने के लिए लालायित रहते थे। अब हम स्वतंत्र हो गए हैं और दैनिक आय में भी कुछ-न-कुछ वृद्धि हो ही गई है। अतः उनका अनुकरण करके आत्म तुष्टि करते हैं। धीरे-धीरे हमारी उन लोगों के प्रति आदर बुद्धि कम हो जावेगी, अपनी संस्कृति, राष्ट्र प्रेम व जाति (भारतीय आर्य) प्रेम के गौरव का हमें अनुभव होने लगेगा, तभी हम अन्धानुकरण के स्वभाव का त्याग करके स्वतंत्र रूप से विचार करके, देश-काल व परिस्थितियों के अनुकूल समाज व्यवस्था कर सकेंगे। अभी हमारे मस्तिष्क पर अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का प्रभाव है जो उनके स्वार्थ साधन के अनुकूल थी तथा भारतीयता की जिसमें गंध भी न थी। उसी शिक्षा व्यवस्था का कुप्रभाव हमारे विचारों को दूषित कर चुका है। कोई भी व्यवस्था, उसके परिणाम का विचार करके किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की जाती है। प्राचीन भारतीय समाज व्यवस्था का उद्देश्य चतुर्वर्ग (अर्थ, धर्म, काम व मोक्ष) की प्राप्ति था। आर्यों ने इसी उद्देश्य की पूर्ति को ध्यान में रखकर समाज व्यवस्था की थी। इस उद्देश्य में, लोक व परलोक, स्वार्थ और परमार्थ, भौतिकवाद व अध्यात्मवाद, सभी का समन्वय था। यह एकांगी उद्देश्य न था अपितु सर्वांगपूर्ण था।

जिस प्रकार एक देश से अन्य देश की परिस्थिति भिन्न होती है तथा उनकी समाज व्यवस्था भी भिन्न होती है उसी प्रकार एक देश की ही परिस्थितियां भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न होती हैं तथा उनके अनुसार ही समाज की व्यवस्था में भी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

परिवर्तन करना पड़ता है। यह कार्य उस देश के दार्शनिकों, विचारकों व मनीषियों का होता है। वे देश की उस काल की परिस्थिति का चिन्तन करते हैं तथा आवश्यकतानुसार समाज व्यवस्था में परिवर्तन करते हैं। समय-समय पर ऐसे परिवर्तन प्रत्येक देश की समाज व्यवस्था में होते रहते हैं तथा होते रहेंगे।

भारत में ही कालानुसार राजनीति, वर्ण-व्यवस्था, वेश भूषा, सेना संचालन, धर्म आदि में परिवर्तन होते रहे हैं। वैदिककाल में रहन-सहन के जो नियम थे, जिस प्रकार समाज में ब्राह्मणों का सर्वोपरि स्थान था, जिस प्रकार यज्ञों का बोलबाला था, वह सब बौद्ध धर्म की प्रधानता होने पर परिवर्तित हो गया। चूंकि शासक बौद्ध धर्मावलम्बी थे अतः ब्राह्मणों के स्थान पर, समाज में, बौद्ध भिक्षुओं की प्रधानता हो गई। शिक्षा में भी, वैदिक शिक्षा का स्थान बौद्धधर्मशास्त्रों की शिक्षा ने ले लिया। वैदिक प्रथा-स्थानों की अपेक्षा विहार व मठ अधिक सम्मानित हो गए। संस्कृत की समाज में वह स्थिति न रही जो पाली व मागधी की हो गई। वीरता का स्थान शून्यवाद की वाक् वितण्डा ने ले लिया। कालान्तर में भगवान बुद्ध व महावीर की अहिंसा का प्रयोग सही न किए जाने के कारण, भ्रम के कारण, वह खोखली व कायरतापूर्ण सिद्ध हुई जिसके कारण देश पर विदेशियों ने सुगमता से अधिकार कर लिया। यज्ञ प्रधान कर्मकांड का लोप-सा हो गया अतः ब्राह्मणों की कोई विशेष मान्यता न रही। इस प्रकार समाज व्यवस्था में अनेक परिवर्तन हो गए।

इसी प्रकार मुस्लिम काल में भी रीतिरिवाज, रहन-सहन, वेशभूषा, भाषा आदि सभी में परिवर्तन हुए। राजदरबारों में मुसलमानों का आदर बढ़ गया। वही भाषा व वेश-भूषा, जो अरब व फारस आदि देशों से मुस्लिम अपने साथ लाये थे, भारत में प्रचलित हो गई। शिक्षा की पद्धति व विषय सभी परिवर्तित हो गये। कालानुसार, हिन्दुओं में, मुसलमानों के भय से पर्दाप्रथा, सती प्रथा (पति के मर जाने पर पत्नी को उसके साथ बलात जीवित जला देना) आदि अनेक कुप्रथाएं प्रचलित हो गईं। इन दोनों उदाहरणों से हमारा उद्देश्य, इनके द्वारा एक ही देश में समय-समय पर समाज व्यवस्था में भिन्न-भिन्न परिवर्तनों का दर्शन कराना है।

यह भी ज्ञेय है कि यदि किसी देश के कर्णधार यह ठीक-ठीक न समझ सके कि समाज-व्यवस्था में अमुक-अमुक परिवर्तन अनिवार्य रूप से होना है तो समाज को भारी हानि उठानी पड़ेगी। क्योंकि समाज अपने कर्णधारों के द्वारा बनाये गये नियमों का पालन कष्ट सहकर भी किया करता है। समुचित समाज-व्यवस्था न होने से अनियमितता बढ़ जाती है। अनियमितता आने पर कोई भी समाज उन्नति नहीं कर सकता क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने धर्म (कर्तव्य-कर्म) का पालन नहीं करता। उसका कोई निश्चित धर्म न होने से, वह यह भी नहीं जानता कि मेरा क्या कर्तव्य है तथा इसका पालन न करने से मुझे निश्चित रूप से अमुक दण्ड प्राप्त होगा। इन दोनों बातों का ज्ञान न होने से वह अपने धर्म का पालन कैसे कर सकता है। प्राचीन भारतीय समाज-

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

व्यवस्था में यही विशेषता थी कि प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक प्रकार का कर्तव्य कर्म निश्चित् था तथा कर्तव्य पालन न करने का निश्चित दण्ड भी था। दण्ड भय दो प्रकार का था—एक मानव द्वारा प्रदेय दण्ड भय, तथा द्वितीय, ईश्वर की प्रकृति द्वारा प्रदेय दण्ड भय। मानव दृष्टि से, मनुष्य असद्व्यवहार से स्वयं को बचा सकता है। किन्तु ईश्वर से कुछ छिपाया नहीं जा सकता। अतः ईश्वर का भय गुरुतर भय होता है। वर्तमान समाज के मस्तिष्क में से ईश्वर का भय हट जाने से ही भ्रष्टाचार बढ़ रहा है।

वर्तमान समाज व्यवस्था में संभवतः न तो ईश्वर का भय है तथा न जीवन का चरम उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति ही। अतः केवल अर्थ व काम, जीवन के दो ही उद्देश्य व्यक्ति के समक्ष हैं। इसी कारण समाज-व्यवस्था अधूरी है। वास्तव में समाज व्यवस्था का उद्देश्य चतुर्वर्ग का ज्ञान कराना तथा उन चारों की प्राप्ति के मार्गों में सामंजस्य स्थापित करके, व्यक्ति अथवा समष्टि के लिए एक समन्वित मार्ग प्रशस्त करना है। किन्तु यह आज की समाजव्यवस्था में नहीं है। प्रत्येक देश व काल में समाज व्यवस्था का दृढ़ व स्थिर होना अनिवार्य है। बिना व्यवस्था के अपनी-अपनी इच्छा से किये गये लघु से लघु एवं महान से महान कार्य बिगड़ जाते हैं एवं संस्थाएं नष्ट हो जाती हैं। कोई भी कार्यालय, विद्यालय, यन्त्रालय तथा परिवार निश्चित व्यवस्था न होने के कारण नष्ट हो जाता है। यही नियम किसी भी राष्ट्र के लिये भी है। न तो बिना व्यवस्था के किसी समाज का कोई भी व्यक्ति सुख व शान्ति प्राप्त कर सकता है तथा न समृद्धि ही। समुचित व्यवस्था के बिना चतुर्दिक् अराजकता, लूटपाट, भुखमरी व अशान्ति के ही दर्शन होंगे। किसी भी समाज में जिस अंश तक व्यवस्था होगी उसी अंश तक उपर्युक्त परिस्थितियां होंगी तथा जिस अंश तक व्यवस्था सुदृढ़ एवं सुस्थिर होगी उसी अंश में सुख, समृद्धि, शान्ति, जीवन में स्थिरता व उन्नति का पदार्पण होगा इसीलिए प्रत्येक देश-काल में समाज व्यवस्था का सुदृढ़ होना अत्यन्त आवश्यक है।

तत्कालीन जीवन का समाज-व्यवस्था पर प्रभाव

पूर्व पाषाण युग से प्रारम्भ होकर आधुनिक युग तक मानव के जीवन में भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियां, भिन्न-भिन्न पर्यावरण रहे हैं। जीवन अपने पर्यावरण से अत्यधिक सम्बन्धित रहता है। जीवन और पर्यावरण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव जीवन पर्यावरण से प्रभावित होता है और उसे प्रभावित भी करता है। इस प्रकार दोनों ही सक्रिय भाग लेते हैं।

पर्यावरण को कई भागों में विभाजित किया जा सकता है किन्तु वे सब सुविधा के लिये हैं। विभिन्न लेखकों ने विभिन्न वर्गीकरण किये हैं। मुख्यतया इसे निम्न प्रमुख चार भागों में बांटा जा सकता है—(1) भौतिक पर्यावरण, (2) प्राणी शास्त्रीय पर्यावरण, (3) सामाजिक पर्यावरण, (अ) आर्थिक पर्यावरण, (ब) सांस्कृतिक पर्यावरण,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

(स) मनः सामाजिक पर्यावरण, (4) समाजोपरि पर्यावरण। ये पर्यावरण दो प्रकार के होते हैं—अनुकूल व प्रतिकूल।

अनुकूल पर्यावरण वह पर्यावरण है जो प्राणी को उत्कर्ष की ओर ले जाता है। प्रतिकूल पर्यावरण वह होता है जो प्राणी की आवश्यकताओं के प्रतिकूल होता है; प्राणी के विकास में बाधक एवं हानिप्रद होता है। एक पर्यावरण, एक प्राणी के लिये अनुकूल हो सकता है तो वही दूसरे के लिए प्रतिकूल। मनुष्य पर्यावरण के अनुसार अपने को बनाता रहता है। मैकीवर तथा पेज ने लिखा है—"मनुष्य अपने को अपने पर्यावरण के अनुकूल बनाता है।"[1] पर्यावरण के अनुसार प्राणी के बनने की क्रिया को अनुकूलन कहते हैं। मनुष्य एक ऐसा विचित्र प्राणी है कि वह अपने प्रतिकूल पर्यावरण से भी अनुकूलन कर लेता है। इस प्रकार सृष्टि के आदिकाल से मानव अपने पर्यावरण के अनुसार अपने जीवन को परिवर्तित करता आया है। वह अपनी समाज की व्यवस्था सदैव अपने पर्यावरण के अनुकूल करता है अर्थात् मानव के तत्कालीन जीवन जैसा कि उसे तत्कालीन पर्यावरण के अनुकूल बनना पड़ा—का उसकी तत्कालीन समाज-व्यवस्था पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। समाज शास्त्र में इसे 'सामाजिक अनुकूलन' कहते हैं। सामाजिक अनुकूलन में मूल्यों का समावेश होता है। सामाजिक अनुकूलन में कुछ तो मानव जीवन प्रभावित होता है तथा कुछ समाज को प्रभावित करता है। इस प्रकार तत्कालीन जीवन से प्रभावित होकर समाज व्यवस्था परिवर्तित होती रहती है। सामाजिक अनुकूलन को सामंजस्य की प्रक्रिया या व्यवस्था भी कहा जाता है।

इसी तथ्य को यदि ऐतिहासिक कसौटी पर कसते हैं तो खरा उतरता है। ऋग्वेद काल से प्रारम्भ करके आधुनिक काल तक जो परिवर्तन होते रहे वे इन्हीं पर्यावरणों या परिस्थितियों के कारण होते रहे हैं। मानव को जब-जब जिन-जिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा अथवा उसने अपने आत्मरक्षा या सुख-सुविधा के लिये जिन-जिन उपायों की आवश्यकता का अनुभव किया उन्हीं के अनुसार व्यवस्था में परिवर्तन कर लिये। उदाहरणार्थ आर्य जब स्वतंत्र थे, उन पर किसी विदेशी सभ्यता का कोई प्रभाव नहीं था, तब वे अपना आहार, वेश भूषा, आचार विचार आदि अपने देशकालिक पर्यावरण के अनुकूल व्यवहृत करते थे। शुद्ध सत्वगुण में स्थित सभी ब्राह्मण स्वभाव के थे। पश्चात् उन्हें दस्युओं से युद्ध करने पड़े तो शस्त्रास्त्र की रचना करनी पड़ी, अपने एक वर्ग को युद्ध के लिये सन्नद्ध करना पड़ा, उस वर्ग को उसकी कला में निपुण करने के लिये शास्त्रों की रचना करनी पड़ी इत्यादि। एक ही साथ आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि चिन्तन व उद्योग व्यवस्था, व्यापार-धन्धे नहीं हो सकते थे अतः एक वर्ग को कृषि, पशुपालन, व्यापार आदि सौंप दिये गये। इसी प्रकार शिल्प व सेवा आदि के लिये चतुर्थ वर्ण की आवश्यकता हुई और कार्य विभाजन के अनुसार

---

1. मैकीवर एण्ड पेज—"सोसाइटी", पृष्ठ 76

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

चार वर्ण हो गये। पुनः अनुलोम-प्रतिलोभ विवाह, सजातीय-विजातीय विवाह में रक्त शुद्धि को ध्यान में रखकर प्रति-लोम व विजातीय विवाह तथा व्यभिचार पर प्रतिबन्ध लगाये और वर्ण-बहिष्कार करने का दण्ड विधान किया किन्तु लोगों ने इन नियमों का पालन नहीं किया तथा श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा नैतिकताहीनों को दण्ड दिया ही गया। इस प्रकार अनेकों वर्ण संकर जातियों की उत्पत्ति हो गई। उनको अपने से पृथक रखने के लिए तथा आगामी पीढ़ियों को सावधान करने के लिये उनसे किसी प्रकार का व्यवहार सम्बन्ध नहीं रखा गया, इस प्रकार समाज में अस्पृश्यता आ गई। यह एक उदाहरण है परिवर्तनों का, इसी प्रकार अनेक परिवर्तन होते रहते हैं।

भारत पर जब पश्चिमोत्तर सीमा के दर्रों से अनेक वाह्य आक्रमण हुए तो भविष्य में सुरक्षित रहने के लिये वहां छावनी बनाई गई, स्थायी रूप से सेना रखी गई। हिमालय को उत्तर की ओर से भारत की सुदृढ़ दीवाल माना जाता था तथा वहां सेना तत्पर रखने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी किन्तु सन् 1962 में जब चीन ने भारत पर उत्तर में हिमालय पर से आक्रमण किया तब उस पर्यावरण का प्रभाव हमारी राजनैतिक व्यवस्था पर यह पड़ा कि हमें लद्दाख से लेकर उत्तर पूर्वी सीमा प्रदेश तक, हिमालय पर अपनी सेना तत्पर करनी पड़ी। इन उदाहरणों से भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि तत्कालीन जीवन का समाज व्यवस्था पर पूर्ण प्रभाव पड़ता है।

इसीलिये देश के मनीषियों के समक्ष यह चिन्तनीय विषय होता है कि एतत्काल में हमारे देश की परिस्थितियां क्या हैं ? उनके अनुकूलन के लिये हमारी समाज व्यवस्था में क्या कोई परिवर्तन आवश्यक हैं जिनके विना हमारे उत्कर्ष में वाधा हो रही है ? पर-तन्त्र भारत में महात्मा गांधी जी ने जो चिन्तन किये तथा समाज व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तनों के लिए निर्देश दिये वे सफल सिद्ध हुए, हमें स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। पर महात्मा जी ने कुछ सिद्धान्त—सत्य, अहिंसा आदि—तो सर्वदेशालिक दिये तथा कुछ सिद्धान्त केवल तत्कालीन शक्ति सम्पन्न शासन का सामना करके उनसे, शक्तिहीन होते हुए भी, विजय प्राप्त करने के लिये दिये। उदाहरण के लिये एक-एक तथ्य पर ही यदि विचार करें तो बात स्पष्ट हो जावेगी। संभवतः सन् 1931 में गांधी जी ने स्वतंत्रता संग्राम में युवकों की सहायता की आवश्यकता बतलाकर छात्रों का आह्वान किया। उनके आह्वान पर भारत के सभी नगरों के छात्रों ने अंग्रेज के विरुद्ध आंदोलन में भाग लिया, स्कूल-कालेज छोड़े, अंग्रेजी इमारतों तथा उनकी सम्पत्ति को हानि पहुंचाई, विदेशी वस्त्रों की होली जलाई। इस प्रकार अंग्रेजों के भारत त्यागने तक समय-समय पर वे अपने कार्य करते रहे। वह समय निकल गया, अंग्रेज देश से चले गये किन्तु नवयुवक छात्रों के मस्तिष्क से आज एक पीढ़ी पश्चात् भी आन्दोलनकारी प्रभाव नहीं हटा, उनमें अनुशासनहीनता बढ़ती गई। वे आज अपने देश की अपनी सम्पत्ति को नष्ट करने में भी लेश मात्र भी नहीं हिचकिचाते। परिस्थिति के अनुसार अब उनको अपने विचारों व व्यवहारों में परिवर्तन करने की आवश्यकता है। जब तक वे इस

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पर्यावरण से अनुकूलन नहीं करेंगे तव तक शिक्षा के क्षेत्र में उत्कर्ष नहीं हो सकता। इसी प्रकार अनेक नियमों को समय-समय पर परिवर्तित करना पड़ता है। हमारा संविधान जो हमारे हितों को ध्यान में रखकर हमारे अनुभवी व बुद्धिमान नेताओं ने रचा था, उसमें भी बीस वर्षों में ही अनेक धाराओं में परिवर्तन करना पड़े तथा भविष्य में भी समय-समय पर निश्चित रूप से करने पड़ेंगे।

महाभारत से पूर्व की समाज व्यवस्था पर एक विहंगम दृष्टि

महाभारत युद्ध से पूर्व की समाज व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए युद्ध से पूर्व का साहित्य ही आधार हो सकता है। साहित्य के आधार पर ही किसी काल के समाज का वर्णन किया जा सकता है, जैसाकि प्रसिद्ध है 'साहित्य समाज का दर्पण है।' महाभारत से पूर्व का साहित्य वही निश्चित् रूप से माना जा सकता है जिसका उल्लेख महाभारत ग्रन्थ में हुआ हो। महाभारत में वेदत्रयी, अथर्ववेद भी अनेक बार, मनु, रामायणोपाख्यान, बृहस्पति तथा ब्राह्मण, आख्यक तीन सूत्र ग्रन्थ तथा उपनिषदों के नाम आते हैं।

महाभारत काल में ही दीर्घजीवी, अध्यवसायी एवं महाबुद्धिमान व्यास मुनि ने भारतीय साहित्य में एक नवीन क्रान्ति की थी तथा साहित्य को एक नवीनं मोड़ दिया था, क्योंकि उन्होंने वेद के सूक्तों को, जो बिखरे पड़े थे तथा कण्ठस्थ किए जाकर सुरक्षित रखे जाते थे, जिनमें व्यास से पूर्व नवीन रचनाओं का क्रम भी चल रहा था अर्थात् ऋषि वर्ग नवीन-नवीन मन्त्रों के प्रदर्शन कर रहे थे व सूक्त रूप में रचना कर रहे थे, संहिता रूप में संगृहीत किया। लेखन क्रिया का आविष्कार तथा प्रचलन किया। 'पुराण' नाम से जो इतिहास भी वेदों के साथ-साथ कण्ठस्थ होता चला आ रहा था तथा जिसका निरन्तर विकास भी हो रहा था, उसका भी संकलन करके उन्हें साहित्य का रूप दिया। महाभारत ग्रन्थ की रचना की। इस प्रकार भारतीय साहित्य व्यास मुनि का अत्यन्त ऋणी है।

महाभारत ग्रन्थ एवं पुराणों में व्यास मुनि के पश्चात् भी वृद्धि होती रही यह सर्वसम्मति से निश्चित है किन्तु यह निर्विवाद नहीं कहा जा सकता कि वह वृद्धि, किस काल तक तथा किस मात्रा में होती रही। हां, यह निर्विवाद है कि महाभारत व पुराणों का आज का स्वरूप वह नहीं है जिसकी रचना व्यास मुनि ने की थी। आज के महाभारत में जितने साहित्य का उल्लेख प्राप्त होता है उसमें से अधिकांश की रचना महाभारत युद्ध के पश्चात् की है। महाभारत के मूल रूप की ही रचना युद्ध के पश्चात् की गई फिर उसके तीन संस्करण होने तक नवीन साहित्य का भी सृजन होता रहा तथा उसका उल्लेख महाभारत में होने लगा। महाभारत के वर्तमान स्वरूप के पूर्व ही सम्पूर्ण वैदिक साहित्य रचा जा चुका था।

महाभारत युद्ध के पश्चात् का इतिहास पुराणों के अतिरिक्त ब्राह्मण- आरण्यक

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उपनिषद व सूत्र ग्रन्थों से जाना जाता है। ये ग्रन्थ महाभारत काल में ही वैदिक संहिताओं के संगृहीत होने के पश्चात् रचे गए। इसका स्पष्ट प्रमाण है, ब्राह्मणों और उपनिषदों में परीक्षित, जनमेजय, जनक, उग्रसेन, प्रवाहणजैवली आदि राजाओं का उल्लेख, जो महाभारत के पश्चात् हुए थे।[1] अतः महाभारत के पूर्व की स्थिति के ज्ञान के लिए आज वैदिक संहिताएं, मनुस्मृति[2] व वाल्मीकि रामायण ही विशेष प्रमाण हैं। मनुस्मृति की रचना प्राचीन होने पर भी उसमें प्रक्षेप होते रहे हैं किन्तु उसका प्रक्षेप रहित मूल भाग महाभारत के मूल भाग से प्राचीन है। ऋग्वेद में, जो चारों वेदों में प्रधान व प्राचीन है, वर्णित समाज तो अधिक प्राचीन है किन्तु रामायण व मनुस्मृति का वर्णन महाभारत से अधिक प्राचीन नहीं है। मनुस्मृति के आधार पर, यहां महाभारत के पूर्व की अवस्था का कुछ संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है।

वर्ण व्यवस्था : महाभारत से पूर्व भी चार वर्ण थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र। कुछ मिश्रित जातियां थीं, जो व्यभिचार, असवर्ण या निषिद्ध स्त्रियों के साथ विवाह और स्वजाति के लिए उचित कार्य के उल्लंघन से बन जाती थीं।[3] इन जातियों के बीच में अन्तर्जातीय विवाह से उत्पन्न अनेक प्रकार से संकर संतति होती थी जो एक वर्ग में न रखी जाकर सब शूद्र कहलाती थी और व्यवसाय के अनुसार उनकी जाति का नाम पड़ जाता था।[4] एक सर्व-सामान्य नियम यह था कि जो आर्य पिता से अनार्य स्त्री में जन्म लेता है वह गुण कर्म के अनुसार आर्य बन सकता है।[5] इस प्रकार उस काल में अन्य जातियों के सम्मिश्रण की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। सामाजिक जीवन वर्ण और आश्रम के नियमों से संचालित होता था जिसे 'वर्णाश्रम धर्म कहते हैं।' ब्राह्मण सबसे ऊंचा वर्ण था,[6] किन्तु यह पद उसके धन सम्पत्ति पर नहीं अपितु उसके चरित्र और आध्यात्मिक गुणों पर निर्भर था। ब्रह्म-ज्ञान, तप नियम धारण और सब भूतों के प्रति मैत्री भाव से युक्त होता था।[7] वह अध्यापक ऋत्विज, न्यायपति, मुख्यामात्य, सभासद् और धर्म परिषद् के सदस्य के रूप में कर्त्तव्यों का निर्वाह करता था। वह दण्ड

---

1. डा० राजबली पाण्डेय—'प्राचीन भारत', पृष्ठ 67
2. मनुस्मृति मूल रूप में महाभारत से प्राचीन अवश्य है किन्तु उसका भी महाभारत की भांति बृंहण होता रहा है, जैसाकि सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय साहित्य के विषय में घटित हुआ है। ऋग्वेद के पश्चात् का अधिकांश भारतीय साहित्य समानान्तर रेखा में वृद्धि को प्राप्त होता रहा था।
3. मनु०—10।24
4. मनु०—10।40; 10।41
5. मनु०—10।67
6. मनु०—1।100
7. मनु०—1।93; 10।3; 2।87

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के अधीन था किन्तु उसे वध का दण्ड नहीं दिया जाता था।[1] क्षत्रिय का विशेष कर्म-शात्रों का अभ्यास और सैनिक वृत्ति ग्रहण करता था।[2] वैश्य के विशेष कर्म-कृति, विपणि कर्म, वाणिज्य तथा पशुपालन था जो सम्मिलित रूप से वार्ता कहा जाता था। उनके धन से ब्राह्मणों की सांस्कृतिक संस्थाएं चलती थी।[3] उसे समुद्र यात्रा की आज्ञा थी जिसके लिए जिसको अनेक भाषायें सीखनी पड़ती थीं।[4] तीनों द्विजातियों के सामान्य कर्म स्वाध्याय, यज्ञ व दान थे।

सेवा करना शूद्र के जीवन का कर्म था। उसे विवाह गृह्याग्नि[illegible] व श्राद्ध के अतिरिक्त अन्य संस्कारों का अधिकार न था।[5] मनु ने शूद्र अध्यापकों और शिष्यों का भी उल्लेख किया है[6], जिससे ज्ञात होता है कि शूद्र के लिए विद्याध्ययन का निषेध न था। दास-प्रथा थी किन्तु इस प्रथा के दोष उस दया भाव से कम हो जाते थे जो दासों के प्रति स्वामी का आवश्यक कर्त्तव्य था।[7]

स्त्री को वेदाध्ययन का अधिकार न था। विवाह के अतिरिक्त उसके सब संस्कार अमंत्रक किए जाते थे। उसका मुख्य कर्त्तव्य घर का प्रबन्ध करना था जिसमें आय की रक्षा व व्यय भी सम्मिलित थे।[8]

आश्रम चार थे। तीनों द्विजातियों को इनका पालन आवश्यक था। ब्रह्मचारी छात्रावस्था में आचार्य के घर में रहकर वेष, भोजन और नियम पालन के द्वारा व्रत व तप की शिक्षा प्राप्त करता था। इस पद्धति का मूल आधार ब्रह्मचर्य या इन्द्रियसंयम था।[9] शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक व आत्मिक उन्नति करना था।[10] शिक्षा के विषय-वेद-त्रयी, अथर्ववेद, ऐतरेय ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदांग, मीमांसा, न्याय, वेदांत, इतिहास-पुराण, वैखानस सूत्र, नास्तिक शास्त्र और वार्ता थे। स्नातक तीन प्रकार के होते थे—विद्या-स्नातक, व्रत-स्नातक तथा विद्या व्रत-स्नातक।[11] प्रथम, जिनका समावर्तन अध्ययन की समाप्ति पर, व्रत की समाप्ति हो जाने से पूर्व हो जाता था; द्वितीय, जिनका समा-

---

1. मनु०—8।9; 7।58; 8।10 तथा 8।20
2. मनु०—10।79
3. मनु०—11।12
4. मनु०—3।158; 9।332
5. मनु०—4।99
6. मनु०—3।156
7. मनु०—4।180; 10।124
8. मनु०—9।11
9. मनु०—2।93, 94
10. मनु०—2।173
11. मनु०—4।31

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वर्तन व्रत काल की समाप्ति पर अध्ययन समाप्त होने से पूर्व हो जाता था, तृतीय जो अध्ययन व व्रत दोनों को समाप्त कर लेते थे। अध्यापक दो प्रकार के होते थे—वेद, वेदांग व सूत्रों की निःशुल्क शिक्षा देने वाले 'आचार्य' तथा शुल्क लेकर शिक्षा देने वाले उपाध्याय।

व्यापार व उद्योग-धंधे

'वस्तु सम्पादन' कला विकसित रूप में थी। नगर, पुर व ग्राम के गृह मिट्टी, ईंट, पत्थर व लकड़ी से पंक्तियों में बनाए जाते थे और उनके बीच में पथ व राजमार्ग होते थे। वे अनेक मंजिलों के भी होते थे[1] ग्रामों की सीमा-सूचनार्थ ग्राम से बाहर मन्दिर निर्माण की प्रथा थी। कृषि विकसित रूप में थी। बीज शुद्धि पर विशेष ध्यान दिया जाता था। बीज में मिलावट करने वालों को दण्ड का विधान था। शरद् व बसन्त में दो फसलें बोई जाती थीं। वरत और चरस से पानी दिया जाता था। उपज के अनुसार 1।4, 1।8, या 1।12 भाग राज्य का होता था। राजा का कर्तव्य था कि दण्ड का भय दिखाकर लोगों को ठीक प्रकार से कृषि करने पर बाध्य करे। पशुपालन भी उन्नत दशा में था। दूध बेचना, घी निकालना, ऊन का विक्रय करना आदि कार्यों का ज्ञान था।[2] शूद्र जाति के श्रमिक आर्थिक ठहराव पर कृषि करते थे।[3]

शिल्पियों का समाज में आदर था। उन्हें मास में एक दिन की आय राजा को कर रूप में देनी पड़ती थी। वस्तु विनिमय व सिक्का रूप में नकद लेन-देन, दोनों ही प्रचलित थे। व्यापारियों के सामूहिक संगठन होते थे जो क्रय-विक्रय और उनके व्यवहारों का नियमन करते थे। नाप-तौल में छल के लिये दण्ड की व्यवस्था थी।[4] व्यापारिक मार्ग थे। नावों पर तरपण्य (भाड़ा) दूरी व स्थानीय दर के हिसाब से तय होता था। समुद्री यातायात के लिए कोई दर नियत न थी। निर्यात व्यापार का नियमन राज्य की ओर से होता था। जिस माल पर राजा का एकाधिकार होता या जिसका निर्यात प्रतिषिद्ध होता उसका निर्यात करने पर सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी। व्यापार शुल्क लिया जाता था जिसका आधार राज्य व व्यापार दोनों को लाभ का उचित अंश मिलना था। शुल्काध्यक्ष व्यापारियों से परामर्श करके शुल्क का निश्चय करते थे। कर, विक्रय मूल्य का 1।20 भाग लिया जाता था[5]। रुपया ब्याज पर देने की प्रथा थी।

1. मनु०—8।39, 8।250, 4।45, 9।282, 3।91
2. मनु०—8।248
3. मनु०—9।291; 6।11; 6।12; 4।253
4. मनु०—8।232-235; 3।166
5. मनु०—8।398-399, 8।406, 7।185, 7।128

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऋण-पत्र प्रतिवर्ष नया भरना पड़ता था। ब्याज की साधारण दर 15 प्रतिशत थी।[1] मुद्रायें स्वर्ण, रौप्य व ताम्र की प्रचलित थीं।[2] खनिज कर्म पर राज्य का स्वत्व था तथा राज्य लाभ का 1।2 भाग ले लेता था। इसे संचित करने वाले विशेष अधिकारी "अर्थ समाहर्ता" कहलाते थे।[3] परिवार की लड़कियां ही अधिकतर गायें दुहती थीं, जिससे उनकी संज्ञा ही 'दुहिता' हो गई थी। महत्व की बात यह है कि अनेक पेशेगर होने पर भी आर्य चर्मकार आदि किसी भी पेशे को हीन नहीं समझते थे। जन के सारे मनुष्य बिना किसी आपत्ति के इन पेशों को अंगीकार करते थे।[4]

राजनीति—ऋग्वैदिक काल से ही राजाओं को मत देने वाले पुरोहितों और प्रजा की सभाओं के उल्लेख मिलते हैं। पुरोहित कभी-कभी राज्य के साथ युद्ध भूमि में आते थे और युद्ध करते थे। सभा-समितियां संभवतः राजा के शासन प्रबन्ध और न्याय के विषय में अपना विचारपूर्ण मत देती थीं, धीरे-धीरे इनका महत्व बढ़ा। अथर्ववेद में एक राजा कामना करता है कि सभा और समिति दोनों मेरे अनुकूल रहें। इनके निश्चय का महत्व था। सभासद् इस वात का निर्णय करते थे कि सर्वसम्मति से ही कुछ निर्णय किया जाय। इनकी बैठकों में युद्ध, सन्धि, अर्थ और प्रजा की हित सम्वन्धी योजनाओं पर विवाद होते थे। छांदोग्य उपनिषद् में पांचालों की समिति का उल्लेख मिलता है जिसका सभापति प्रवांहण जैवलि, उस देश का राजा, था। मंत्रियों की आवश्यकता धीरे-धीरे बढ़ने लगी तथा मन्त्रिमण्डल रहने लगा जिसमें पुरोहित का स्थान सर्वप्रथम होता था। पुरोहित प्रायः सभी शास्त्रों के पण्डित होते थे। उसका शासन में प्रमुख हाथ रहता था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पुरोहित आधा क्षत्रिय होता था। राजा की सफलता बहुत कुछ उसी पर निर्भर थी। उसको 'राष्ट्रगोप' की उपाधि मिली थी।

सूत्र काल में गांवों व नगरों का शासन करने के लिये कर्मचारी रहते थे। नगर के पदाधिकारी का शासन क्षेत्र अपने स्थान से आठ मील चारों ओर था। गांव के पदाधिकारी का क्षेत्र केवल दो मील चारों ओर था। इस क्षेत्र में शान्ति और सुरक्षा का उत्तरदायित्व इन्हीं पदाधिकारियों पर था।[5] सभा केवल युद्ध के सम्बन्ध में जब तब पूछने पर राय दे लेती थी, वरन उसका कोई विशेष सम्मान अब न था।[6] वणिकों और शिल्पियों की श्रेणियों का राज्य में प्रभूत प्रभाव था। पुरोहितों के बाद इन श्रेणियों के

1. मनु०-9।333; 10।115, 8।140; 8।154-155
2. मनु०-8।131
3. मनु०-11।64; 8।33; 760
4. डा० रमा शंकर त्रिपाठी "प्राचीन भारत का इतिहास", पृष्ठ 27-29
5. डा० रामजी उपाध्याय—भारत की प्राचीन संस्कृति", पृष्ठ 134
6. वही, पृष्ठ 55

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मुखियों-महाजनों का ही राजा विशेष आदर करता था। जनता मांस भक्षण व सुरापाना-भी करती थी, यद्यपि अहिंसा के सिद्धान्त के प्रभाव से समाज में शाकाहारियों की संख्या नित्य प्रति बढ़ती जा रही थी। प्राचीन भारत के समुन्नत मेधावियों ने अहिंसा के सिद्धान्त की विशिष्टता प्रस्तुत कर दी थी।[1]

सारांश में, यदि विद्वान 'क्रमिक विकास' नियम के अनुसार यह निष्कर्ष निकालें कि 'वर्तमान सभ्यता पुरातन काल की सभ्यताओं से श्रेष्ठतर है' तो यह उचित नहीं है क्योंकि सभ्यताओं के विकास व ह्रास का, दिन-रात की भांति चक्र चलता रहता है। संभव है, पुरातन काल में सभ्यता का रूप आधुनिक सभ्यता से श्रेष्ठतर रहा हो। मानव इतिहास अनेक उतार-चढ़ाव देख चुका है। हो सकता है सभ्यता विकसित होकर ह्रास को प्राप्त हो गई हो अब पुन: उसका विकास हो रहा हो। वेद-काल की सभ्यता में विकासवादी यदि आधुनिक आविष्कारों की ओर संकेत पाता है—यथा नाव, विमान, प्रकाश की लहर, वैद्युत्चमत्कार, विशाल भवन आदि[2] तो इसमें चौंकने की आवश्यकता ही क्या है। महाभारत काल तक यही वैदिक सभ्यता अपने विकसित रूप में पहुंच गई तथा महाभारत युद्ध के पश्चात वही स्थिति हुई जिसका अनुमान वैज्ञानिक संभावित तृतीय महायुद्ध के परिणाम-रूप में करते हैं। वैज्ञानिकों का कथन है कि "यदि तृतीय महायुद्ध हुआ तो मानव सभ्यता नष्ट हो जावेगी तथा चतुर्थ महायुद्ध पुरानी पद्धति से होगा।" यही स्थिति पांच सहस्र वर्ष पूर्व महाभारत युद्ध ने कर दी। उस काल के जो जीर्ण अवशेष मिल रहे हैं वे उस महायुद्ध के ही परिणाम हैं तथा लगभग दो या ढाई सहस्र वर्ष का भारत का इतिहास भी उसी के परिणाम स्वरूप प्राप्त नहीं हो रहा। महायुद्ध के पश्चात् जर्जर भारतीय सभ्यता ने धीरे-धीरे उन्नति के प्रयत्न किये तथा गुप्त काल तक वह उस स्थिति को प्राप्त तो नहीं कर सकी फिर भी पर्याप्त उन्नत हो गई। महाराज हर्षवर्धन के पश्चात् इस सभ्यता का पुन: ह्रास का क्रम आया जो लगभग बीसवीं शती के पूर्वार्ध तक रहा। अब यदि सावधान रहें, सतत् प्रयत्नशील व जागरूक रहें, तो पुन: क्रमिक उन्नति का अवसर प्राप्त है।

इस क्रमिक विकास चक्र के अनुसार हमारे प्राचीन आविष्कार 'पुष्पक विमान,' 'सौभनगर' (शाल्वका), त्रिपुर दैत्य का तीन नगरों वाला विमान, लंकाधिपति पौलस्त्य रावण की चन्द्रलोक, इन्द्रलोक, यमलोक आदि लोकों की यात्राएं, ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र, अग्न्यस्त्र, वारुणास्त्र आदि अनेक दिव्यास्त्र, महाराज युधिष्ठिर का भूमि व जल से एक हाथ ऊपर चलने वाला रथ[3] आदि अनेक आविष्कार सत्य प्रतीत होते हैं।

1. छान्दोग्योपनिषद्—3।17।4
2. डा० मुंशीराम शर्मा, 'वैदिक संस्कृति और सभ्यता', पृष्ठ 247
3. 'दैनिक उजाला', 19 दिसम्बर 1968 में एक विज्ञापन प्रकाशित हुआ कि इंग्लैंण्ड में 100 सवारी, मय सामान, ले जाने वाले तथा भूमि व जल से 1-2 फुट चलने वाले रथ का आविष्कार हो चुका है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इन्हें कल्पित मानना निराधार है। भौतिक विज्ञान के अतिरिक्त, आध्यात्मिक विज्ञान में भारत ने जो आश्चर्यजनक व आशातीत उन्नति की थी, उसके प्रयास में तो आज की सभ्यता ने अभी पदार्पण भी नहीं किया है। आत्मिक शक्ति भौतिक शक्ति की अपेक्षा अनन्त गुनी है। महात्मा जी का भी यही कथन था तथा उन्होंने जीवन में इसकी प्राप्ति के लिये अनेक प्रयोग व प्रयास भी किये थे और वे किसी अंश तक सफल भी हुए, फिर भी प्राचीन भारत की तुलना में उनकी वह उपलब्धि न के बराबर है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

द्वितीय अध्याय

वर्ण-व्यवस्था

अनुक्रमणिका—महाभारत काल में वर्णव्यवस्था कैसी थी ? इससे पूर्व यह जानना भी आवश्यक है कि उस काल से पूर्व वर्ण-व्यवस्था की क्या स्थिति थी ? वर्ण व्यवस्था का उद्‌गम किस काल में तथा किस परिस्थिति के कारण हुआ ? अपने मूल-स्वरूप से, किन-किन कारणों से, परिवर्तित होती हुई, वर्णव्यवस्था विकास की ओर बढ़ती गई तथा महाभारत काल के स्वरूप को प्राप्त हुई ? महाभारत से पूर्ववर्ती स्थिति का बोध प्राप्त करने के लिये, वैदिक काल तथा रामायण काल के समाज में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप क्या था, यह जानना है।

वैदिक काल—वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ ऋग्वैदिक काल में हुआ तथा उसी में यह विकसित रूप को भी प्राप्त हो गई, ऐसा ऋग्वेद के अनुशीलन से विदित होता है। विद्वानों के मत से आर्य जिस काल में सप्तसिन्धु में निवास कर रहे थे, उन्हें अनार्यों से युद्ध करने पड़े। इन युद्धों में आर्यों की विजय एवं अनार्यों की पराजय हुई। आर्यों ने अनार्यों को दास बना लिया। आर्यों ने पराजित दस्युओं को धीरे-धीरे अपने समाज में स्थान दिया और वे समाज के अंग बन गये। आर्य व दस्यु में वर्ण का भेद था, अतएव इस भेदभाव को भुलाने की दृष्टि से, समाज को व्यवस्थित बनाने के लिये वर्ण-व्यवस्था का सूत्रपात किया गया। इस वर्ण-व्यवस्था में दस्युओं को भी स्थान दिया गया। ऋग्वेद में वर्ण व्यवस्था के अवसर पर चारों वर्णों का निर्देश है। समाज को पुरुष का रूपक दिया गया है। चारों वर्ण क्रमशः मुख, भुजा, जंघा व पैर से सम्बन्धित किये गये हैं।[1]

वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में ऋग्वेद में केवल एक बार संकेत किया गया है। 'पुरुष

---

1. ऋग्वेद 10।90।12 "ब्राह्मणो स्य मुखमासीत् बाहुराजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्‌म्या शूद्रोऽजायत् ॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सुक्त' में चारों वर्णों का उल्लेख है। कुछ विद्वानों के मतानुसार[1] ऋग्वेद का दसवां मण्डल बहुत बाद का है। किन्तु ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वह बाद में नहीं जोड़ा गया है। उसमें जिन मन्त्रों को सम्मिलित किया गया है, वे बहुत ही प्राचीन प्रतीत होते हैं। और कुछ मन्त्रों के दृष्टा तो वे ही ऋषि या उनके पुत्र हैं जिन्हें ऋग्वेद के मूल भाग का दृष्टा माना जाता है। यथा—शार्यातोमानव[2] नामानेदिष्टो[3]। गत्समद, वसिष्ठ, भरद्वाज, विश्वामित्र व कण्व आदि तथाकथित मूल भाग (म० 2-9) के दृष्टा दसवें मण्डल के मन्त्र दृष्टाओं से बहुत बाद के हैं। यह पौराणिक वंश परम्पराओं के अध्ययन से ज्ञात होता है। जिस पुरुष सूक्त में चारों वर्णों का उल्लेख है वह भी बहुत पुराना है, अतएव यह निर्विवाद हो जाता है कि वेदकाल में वर्ण व्यवस्था अपने विकसित रूप में वर्तमान थी।[4]

ऋग्वेद में 'ब्राह्मण' शब्द 'ब्रह्मन्' के रूप में अनेक बार उल्लिखित है। ऋग्वेद में वर्णन आता है कि "जो राजा ब्रह्मन् को उच्च स्थान देकर उसका आदर करता है वह शान्ति व आनन्द से रहता है, उसे धन-धान्य की कमी नहीं रहती, एवं जनता स्वयं उसको नमन् करती है। जो राजा ब्रह्मन् को सहायता प्रदान करता है उसकी रक्षा देवता करते हैं।"[5] यजुर्वेद में भी एक स्थल पर चारों वर्णों का उल्लेख है, उसमें भी ब्राह्मण को ब्रह्मन् ही कहा गया है।[6] ऋग्वेद में ब्राह्मणों के मैत्रीभाव से यज्ञ करने का उल्लेख है।[7] ऋग्वेद में क्षत्रिय शब्द भी बार-बार उल्लिखित हुआ है। 'राजन्य' शब्द भी क्षत्रिय के अर्थ में ही आया है। 'ऋत के गोपा वरूण' के वर्णन के अवसर पर 'राजा', 'क्षत्रिय', 'क्षत्र', आदि अर्थ पूर्ण शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। ऋग्वेद में वैश्य के लिये 'विश्' शब्द का प्रयोग अनेक बार किया गया है।[8]

तैत्तरीय संहिता में भी वर्णोत्पत्ति का वर्णन आता है, जहां कहा गया है कि 'प्रजापति ने वैश्य व गाय को एक साथ उत्पन्न किया।'[9] 'शूद्र' केवल एक बार उल्लिखित है। 'पुरुष सूक्त' के वर्णन से ऐसा विदित होता है कि वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था साधारणतया अर्थशास्त्र के कार्य-विभाजन सिद्धान्त पर अवलम्बित थी।

---

1. मैकडानल—"हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर," पृष्ठ 160-162
2. ऋग्वेद 10।92 1-15
3. ऋग्वेद 10।61।127, 10।62।1-11
4. डा० शिवदत्त ज्ञानी—'वेद कालीन समाज', पृष्ठ 118
5. ऋग्वेद—4।50।8, 9
6. यजुर्वेद—26।2
7. ऋग्वेद—10।71।8, 9
8. ऋग्वेद—1।69।3, 1।126।5, 4।24।4, 6।26।1
9. तैत्तरीय संहिता-7।1।1।4-6

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

समस्त समाज को एक पुरुष का रूपक दिया गया है। इस रूपक से यह ध्वनित होता है कि "जिस प्रकार शरीर के सब अंग एक दूसरे से सम्बद्ध हैं व यदि एक अंग में कुछ पीड़ा हो जाय तो उसका अनुभव समस्त शरीर में होता है तथा शरीर भर में एक प्रकार की क्रान्ति मच जाती है, उसी प्रकार समाज में भी संगठन व जीवन शक्ति रहनी चाहिये। यही जीवित समाज का लक्षण है।" प्राचीन भारत ने वर्ण-व्यवस्था के महत्व को भली-भांति समझा था। राजा को इस व्यवस्था की देखभाल करनी पड़ती थी। वह सब वर्णों को अपने-अपने कर्तव्य कर्मों में प्रेरित करता था। वैदिक काल से महाभारत काल तक समाज ने इस व्यवस्था को भली-भांति अपनाया था।[1]

पुरुष सूक्त के इस मन्त्र से कि 'पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य एवं पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए,' यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि शूद्र भी किसी अन्य जाति के (द्रविड़) नहीं थे, क्योंकि एक ही शरीर से उत्पन्न विभिन्न व्यक्ति विभिन्न जाति के कैसे हो सकते हैं? चारों ही वर्ण आर्य थे, ऐसा अनुमान होता है। वर्णभेद तो कार्य-भेद से भी हो जाता है। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि वेद-काल में समानता का व्यवहार था। सेवाकार्य के कारण शूद्र को नीचा नहीं समझा जाता था। सभी वर्ण अपने-अपने क्षेत्र में महत्वपूर्ण समझे जाते थे। समाज के विकास के लिये चारों ही वर्ण आवश्यक थे, किसी एक के न रहने से वह सुचारु रूप से नहीं चल सकता था। जिस प्रकार शरीर मुख के बिना, भुजा के बिना, जांघों के बिना तथा पैरों के भी बिना खण्डित होता है, किसी भी अंग के बिना शरीर का कार्य ठीक-ठीक नहीं चल सकता, वही स्थिति समाज की समझी जाती थी। जैसे पैरों के बिना शरीर पंगु हो जाता है उसी प्रकार शूद्र वर्ण के बिना समाज पंगु हो जाएगा, ऐसा माना जाता था।

उस काल में यद्यपि शूद्र वर्ण का कार्य अध्ययन-अध्यापन नहीं था तथापि उनमें कुछ 'मन्त्र दृष्टा ऋषि' भी थे। यह नहीं कहा जा सकता कि इन विशिष्ट व्यक्तियों को यह विशेष अधिकार किन विशिष्ट गुणों के कारण अथवा किस-किस विशिष्ट प्रतिभा के कारण समाज द्वारा प्राप्त हुआ था। ऐतरेय ब्राह्मण[2] व कौशेतकी ब्राह्मण[3] में कवष ऐलूष का वर्णन प्राप्त होता है, वह मन्त्र दृष्टा ऋषि था। उसके लिये 'दास्यः पुत्रः' विशेषण का प्रयोग किया गया है। इस 'दास्यः पुत्रः' प्रयोग से शंका होती है कि 'दासः' प्रयोग क्यों नहीं किया गया। यह भी सम्भव है कि किसी ऋषि ने दास-पुत्री से विवाह सम्बंन्ध किया हो तथा उसका पुत्र अपने पिता के कारण ब्राह्मणों के अधिकारों से युक्त हो गया हो तथा इसी कारण प्रतिभावान हुआ हो। कुछ भी हो,

1. शा० प०—76।2-11, 78।17
2. ऐतरेय ब्राह्मण—2।19
3. कौशेतकी ब्राह्मण—12।3

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उसकी विद्वत्ता के कारण गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज, वसिष्ठ आदि महान् ऋषि उसका आदर करते थे। उन्होंने उसके लिये "नमस्ते अस्तु त्वं वै नः श्रेष्ठो सि" आदि प्रयोग किये हैं। कक्षीवन्[1] भी दासी-पुत्र था। उसकी पुत्री कक्षवती घोषा भी मन्त्र-दृष्टा थी[2]। घोषा का पुत्र सुहस्त्यो भी मन्त्र-दृष्टा था।[3] अथर्ववेद में कहा गया है—"मुझे देवताओं तथा राजाओं का प्रिय बनाओ। मैं सबका प्रिय बनूं, चाहे आर्य हो चाहे शूद्र।"[4]

ऋग्वेद के समय में ही वर्ण व्यवस्था उन विशिष्टाओं से मण्डित हो चुकी थी, जिसका परिबृंहण पिछले युग में हुआ।[5] रामायण काल में, जो वैदिक काल के पश्चात आता है, वर्ण-व्यवस्था धीरे-धीरे कुछ और विकसित हुई, यद्यपि प्रेरणा व सम्बल तो उसने वेद काल से ही प्राप्त किया था। क्योंकि सांस्कृतिक दृष्टि से वाल्मीकि रामायण उपनिषदों के अत्यन्त निकट है। दोनों में भाषा और ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम निर्देशों की समानता इतनी अधिक है, जिससे यह मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती कि उपनिषदों की रचना और रामायण की मूल कथा में समय का अधिक अन्तर नहीं है[6]। रामायण काल में इन वर्णों को स्थायीत्व प्राप्त हुआ और ऋग्वेदकालीन गुण व कर्म पर आधारित वर्ण अब जन्म पर आधारित होने लगा। व्यावसायिक वर्ण विभाजन के स्थान पर पैतृक वर्ण-निर्धारण हो गया। आर्थिक विकास के साथ-साथ इन जातियों में भी उत्तरोत्तर विकास हुआ। इस प्रकार समाज उस वर्ण-व्यवस्था पर आधारित हुआ जो कि अब जन्म पर निर्धारित होने लगी थी। इस प्रकार अनेक जातियां विकासोन्मुख होकर विविध नाम गुण धारिणी हो गई।[7] रामायण काल में वर्ण परिवर्तन असम्भव हो गया। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों वर्णों की प्रमुखता स्थापित हुई। रामायण कालीन आर्यों की सामाजिक व्यवस्था वर्णाश्रम की भित्ति पर अवलम्बित थी। वर्ण चार थे। वेदों का अध्ययन, व्रत-नियम का पालन, यज्ञों का अनुष्ठान, तथा दान ये प्रथम तीन वर्ण द्विजों के साधारण धर्म थे।[8] उस समय वर्ण व्यवस्था जन्म पर ही आधारित थी, कर्म पर नहीं, क्योंकि रामायण में ऐसे उदाहरण हैं, जहां जन्मना ब्राह्मण, कर्मणा क्षत्रिय, वैश्य के प्रसंग भी हैं परन्तु उन्हें ब्राह्मण ही कहा गया है। ब्राह्मणों के भी कर्मानुसार कई वर्ग मिलते हैं। कुछ प्रवृति

1. ऋग्वेद 1।18।1, 1।51।13, 1।112।11, 4।26।1, 8।9।10
2. ऋग्वेद 10।39।1-14, 10।40-1-14
3. ऋग्वेद 10।41।1-3
4. अथर्ववेद 19।62।1
5. बलदेव उपाध्याय—'वैदिक साहित्य', पृष्ठ 517
6. इन्द्र विद्यावाचस्पति—'भारतीय संस्कृति का प्रवाह', पृष्ठ 41
7. डा० विद्यामिश्र—'वाल्मीकि रामायण एवं रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन', पृष्ठ 537-538
8. श्री शान्ति कुमार नानूराम वैश्य—'रामायण में हिन्दू संस्कृति,' पृष्ठ 307

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

धर्मी ब्राह्मण थे कुछ निवृत्ति मार्गी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र सभी अपने वर्णानुसार कर्मों का पालन करते थे।[1] कुछ जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी क्षत्रिय के लक्षणों को धारण कर, क्षत्रियत्व के कार्य भी किया करते थे, उन्हें 'क्षत्र ब्राह्मण' कहा जाता था। परशुराम इसका उदाहरण है।[2] कुछ ब्राह्मण इस वर्ग के भी मिलते हैं जो जन्मना ब्राह्मण होते हुए भी वैश्य वृत्ति अपनाते थे परन्तु फिर भी ब्राह्मण कहलाते थे 'त्रिजट' नामक ब्राह्मण का प्रसंग इस तथ्य का प्रमाण है।[3]

वाल्मीकि रामायण में ब्राह्मण धर्म की भांति क्षात्र धर्म की मर्यादा का भी दिग्दर्शन कराया गया है। क्षात्रियैं र्धार्यते चापो नार्त शब्दो भवेदिति'। राम क्षात्र धर्म के ज्वलंत प्रमाण हैं। वैश्यों का भी समाज में विशेष महत्व था। रामायण में सामाजिक संगठन की रूपरेखा में शूद्रों के लिए प्रतिबन्ध अवश्य था, जिसका स्पष्ट उदाहरण 'शंबूक वध' का प्रसंग है। जिसमें वह तपस्या के क्षेत्र में आने के कारण ही अनधिकारी माना गया और उसका वध किया गया।[4]

इस प्रकार रामायण में चातुवर्ण्य की पूर्णांग व्यवस्था का रूप मिलता है जिसमें वर्ण संकरता का कोई दोष न था।[5] ब्राह्मण वर्ण के प्रति क्षत्रिय सदैव अपनी श्रद्धा अर्पित कर उसे शीर्ष स्थान देते थे। राजनैतिक, सामाजिक व धार्मिक समस्त क्षेत्रों के कर्म ब्राह्मण वर्ण द्वारा ही संचालित होते थे। रामायण में वसिष्ठादि ऋषियों का स्थान इस तथ्य को प्रमाणित करता है। यही व्यवस्था महाभारत काल तक परिस्थितियों के कारण अनेक परिवर्तनों से युक्त हो गई।

इस प्रकार महाभारत के पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वर्ण व्यवस्था का उद्गम ऋग्वेद काल के प्रारम्भ में हुआ तथा उसी काल में उसका विकास भी हुआ। इसका भी कारण है, क्योंकि कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं होता। सर्वप्रथम कारण तो यह समझ में आता है कि कार्य विभाजन के सिद्धान्तानुसार समाज को चार वर्णों की अत्यन्त आवश्यकता थी। एक बुद्धिजीवी वर्ग जो अपने विचारों से, ज्ञान से, सम्पूर्ण समाज को मार्ग-दर्शन कर सके। द्वितीय भुजबल सम्पन्न वर्ग जो समाज में आन्तरिक शांति बनाये रखने के साथ-साथ दस्युओं अथवा बाह्य आक्रमण-कारियों से समाज की रक्षा कर सके। तृतीय वर्ग जो कृषि, वाणिज्य एवं पशु-पालन द्वारा समाज की आर्थिक उन्नति कर सके एवं समाज को जीवनोपयोगी वस्तुएं, खाद्यान्न, वस्त्र आदि जुटा सके, इसी प्रकार चतुर्थ वर्ग भी अत्यन्त आवश्यक था क्योंकि यदि

---

1. वाल्मीकि रामायण-1।6।13,17,19
2. वा० रा० 1।74।17-19
3. वा० रा० 2।32।30-44
4. वा० रा० 7।76 वां अध्याय
5. वा० रा० 1।10 'कश्चिदासी दयो द्यायां न चावत्तां न संका'

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सम्पूर्ण समाज ज्ञान, रक्षण, व व्यापार आदि में ही संलग्न हो जावे तो समाज के अन्य अनेकों दैनिक कार्य कौन सम्पादन करे। अतः उन कार्यों के लिए भी 'सेवक' वर्ग अनिवार्य रूप से आवश्यक था।

आर्यों का उद्देश्य आत्मिक, मानसिक (बौद्धिक) व शारीरिक उन्नति करना था। इस त्रिविध उन्नति के लिये उन्होंने अर्थ, धर्म, काम व मोक्ष की कल्पना की थी, जो अत्यन्त विवेक पूर्ण थी। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही वर्ण विभाग एवं आश्रम-विभाग की, दो वैज्ञानिक योजनाएं या व्यवस्थाएं निश्चित की गईं। इन दोनों के संयुक्त फलस्वरूप ही आर्यों ने वैयक्तिक व सामाजिक रूप से त्रिविध (आत्मिक, मानसिक एवं शारीरिक) उन्नति हस्तगत की। वर्ण व्यवस्था समाज को संगठित व व्यवस्थित रखने के उद्देश्य की पूर्ति में एक सफल प्रयास था। इसी कारण अनिश्चित सहस्त्राब्दियों तक यह व्यवस्था भारत में प्रचलित रही एवं आज भी अपने जर्जरित रूम में विद्यमान है।

इस अध्याय का वर्ण्य विषय, महाभारत काल में वर्ण व्यवस्था का जो स्वरूप था, उसका सविस्तार वर्णन करना है। महाभारत ग्रन्थ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस काल तक वर्ण व्यवस्था का अत्यधिक विस्तार हो गया था। चार वर्णों के अतिरिक्त अन्य जातियां व उपजातियां हो गई थी। वर्ण संकर जातियां भी बढ़ गई थीं। भेदभाव भी उग्र रूप धारण कर चुका था, जिस सबका वर्णन मूल ग्रन्थ के आधार पर इस अध्याय में किया जावेगा।

वर्णोत्पत्ति—चातुर्वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी महाभारत में अनेक स्थलों पर वर्णन मिलता है। जिसके अनुसार एक स्थल पर रंगभेद से वर्ण विभाग बतलाया गया है। "ब्राह्मणों का रंग श्वेत (उज्जवल गौर), क्षत्रियों का लाल (गेहुंआ), वैश्यों का पीत तथा शूद्रों का काला होता है। पूर्व काल में यह सम्पूर्ण जगत् बाह्मण ही था, पश्चात् विभिन्न कर्मों के कारण उनके वर्ण भेद हो गए हैं।"[1] उनमें से जो ब्राह्मणोचित धर्म का परित्याग करके, विषय भोग के प्रेमी, तीक्ष्ण स्वभाव वाले, क्रोधी और साहस के कार्य करने वाले हो गए हैं वे क्षत्रिय भाव को प्राप्त हुए। जिन्होंने गायों से तथा कृषि कर्म द्वारा, जीविका चलाने की वृत्ति अपनाली और उसी के कारण जिनके रंग पीले पड़ गये तथा जो अपने (ब्राह्मण-धर्म) धर्म को छोड़ बैठे, वे ही ब्राह्मण, वैश्य भाव को प्राप्त हुए।

जो शौच और सदाचार से भ्रष्ट होकर, हिंसा और असत्य के प्रेमी हो गए, लोभवश व्याधों के समान सभी निन्द्य धर्म करके जीविका चलाने लगे और इसीलिए जिनके शरीर का रंग काला पड़ गया वे ही ब्राह्मण शूद्र भाव को प्राप्त हुए। इन्हीं कर्मों के कारण ब्राह्मणत्व से पृथक होकर वे सभी ब्राह्मण, अन्यान्य वर्ण के हो गये किन्तु

1. शान्ति पर्व-188।5, 10

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उनके लिये नित्य धर्मानुष्ठान व यज्ञ क्रिया का निषेध नहीं किया गया है।[1]

उपर्युक्त प्रसंग से इस बात का भी बोध होता है कि चारों वर्ण आर्य ही थे अन्य कुछ नहीं। इस प्रसंग में इस बात का लेश मात्र संकेत नहीं है कि तीन वर्ण अन्य समुदाय के तथा एक वर्ण (शूद्र) किसी अन्य समुदाय का था। दो जाति होने की चर्चा अवास्तविक एवं भ्रम पूर्ण है तथा केवल एक समुदाय को, अवसर देखकर दो दलों में विभाजित करने के लिये की गई है।

महाभारत काल में वर्ण व्यवस्था दृढ़ मूल होते हुए भी केवल जन्म पर ही आधारित नहीं थी अपितु जन्म व गुण दोनों पर। शान्ति पर्व में ही एक नहीं अनेक ऐसे वर्णन प्राप्य हैं जिनमें यह बतलाया गया है कि वर्णों के अमुक-अमुक लक्षण हैं और यदि किसी वर्ण के व्यक्ति में वे लक्षण न हों तो उसे उस वर्ण का न मानना चाहिये।[2] यदि ब्राह्मण में अनिवार्य रूप से होने वाले सत्यादि सात गुण, शूद्र में दिखाई दें और ब्राह्मण में उनका अभाव हो तो वह शूद्र, शूद्र नहीं तथा वह ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं माना जाता था।[3] महाभारत कालीन कुछ श्रेष्ठ पुरुषों की ऐसी भी मान्यता थी कि ब्रह्म से उत्पन्न सभी ब्राह्मण हैं। ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, नाभि से वैश्य व चरणों से शूद्र की उत्पत्ति हुई। इस नियम से भी सभी ब्रह्म रूप व ब्रह्म के समान आदरणीय हैं।[4]

इन सब वर्णनों की निष्पक्ष आलोचना करने से यही अनुमान लगाया जा सकता है कि भले ही शूद्र वर्ण को, त्रिवर्ण को प्राप्त कुछ अधिकारों से वंचित किया गया था फिर भी वह वर्ण आर्य समुदाय से कोई भिन्न वर्ण नहीं था, सब आर्य ही थे। कर्म-विभाजन में शूद्रों के भाग में सेवाकार्य आया था, जो समाज के आवश्यक व अनिवार्य कार्यों में से एक था चाहे उसे हीन कहा जाए अथवा श्रेष्ठ।

रामायण के अतिरिक्त महाभारत में भी रामायणोपाख्यान है।[5] रावण पर राम की विजय को अधिकतर विद्वान आर्यों की अनार्यों पर विजय कहते हैं पर मुझे आश्चर्य है। हमारे ग्रन्थों में यह स्पष्ट वर्णन है कि रावण कौन था। रावण पुलस्त्य मुनि (ब्राह्मण) का पौत्र एवं विश्वश्रवा मुनि का पुत्र था। केवल सदाचार का परित्याग कर देने के कारण उसे राक्षस कहा गया था। फिर राम की रावण पर विजय को आर्यों अनार्यों पर विजय, दक्षिण में रामायण काल में अनार्यों (द्रविड़ों) का निवास एवं राज्य व राम का आर्य सभ्यता का दक्षिण में प्रसार करना, कहां तक औचित्य रखता है, मेरी समझ में नहीं आता। राम की रावण पर विजय धर्म की अधर्म पर विजय थी। राम

1. शान्ति पर्व-188।11-15
2. शान्ति पर्व-189-2-7
3. शान्ति पर्व-189-8
4. शान्ति पर्व-318।90, कर्ण पर्व अध्याय 12वां
5. सभा पर्व-38वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

व रावण दोनों एक ही समुदाय के थे, अन्य नहीं। 'आर्य' व 'अनार्य' शब्दों का प्रयोग प्राचीन काल में 'श्रेष्ठ सदाचारी' एवं 'दुष्ट' दुराचारी के भाव में प्रयुक्त होते थे। यथा—वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया,[1] 'अनार्यत्वमनाचारः'[2] 'यदार्यजन-विशिष्टम् कर्म तन्ताचरेत् बुधः।[3] इस दृष्टि (दुराचार) के फलस्वरूप ही रावण 'अनार्य कहा जाता था, राक्षस भी। वह किसी भिन्न वर्ग विशेष का नहीं था। रावण ब्राह्मण था, राम क्षत्रिय।

अब ब्राह्मणादि क्रम से महाभारत में वर्णित वर्ग व्यवस्था का वर्णन किया जा रहा है।

ब्राह्मण-वर्ण की महत्ता

महाभारत काल में ब्राह्मण वर्ण की मान्यता उच्चतम शिखर पर थी। यद्यपि वैदिक काल में व रामायण काल में भी ब्राह्मणों की ही श्रेष्ठता थी तथापि महाभारत काल में वह और अधिक हो गई थी। उस काल में ब्राह्मण समस्त प्राणियों के लिए अवध्य माना जाता था, वह अग्नि के समान दाहक होता था। कुपित किया हुआ ब्राह्मण अग्नि, सूर्य, विष एवं शस्त्र के समान भयंकर होता था। ब्राह्मण को समस्त प्राणियों का गुरु माना जाता था। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य था कि क्रोध आ जाने पर भी वह ब्राह्मण की हत्या से सर्वथा दूर रहे, उनके साथ किसी प्रकार द्रोह न करे। व्रत का पालन करने वाला ब्राह्मण क्रोध में आने पर अपराधी को जिस प्रकार जलाकर भष्म कर देता है, उस प्रकार अग्नि व सूर्य भी नहीं जला सकते।[4] राजा लोग ब्राह्मणों का उपहास व अपमान करने से सदा डरते थे तथा उनका आदर-सत्कार करते थे, क्योंकि उनके पास काफी रूप में अमोघ अस्त्र होता था। राजा परीक्षित द्वारा गौर मुख ब्राह्मण का बड़ा सत्कार किया गया था।[5] ब्राह्मणों के आदर का विशेष ध्यान रखा जाता था। वारणावत में पहुंचकर युधिष्ठिर सर्वप्रथम स्वधर्म परायण ब्राह्मणों के घर मिलने गये।[6] वैसे क्षत्रिय किसी भी परिस्थिति में ब्राह्मण को अवध्य मानते थे किन्तु युद्ध के लिए उद्यत ब्राह्मण का रणभूमि में वध शास्त्रानुकूल माना जाता था।[7]

ऐसी मान्यता थी कि धैर्यवान् व जितेन्द्रिय ब्राह्मण जिनके सहायक हों, उन्हें

---

1. उद्योग पर्व-90।53, वन पर्व-260।1
2. अनु० पर्व-48।41, सभा पर्व-67।37, 50
3. शान्ति पर्व-94।10, 93-16
4. आदि पर्व-28।3-7
5. आदि पर्व-42।16 पूजितस्तु नरेन्द्रेण द्विजो गौरमुखस्तदा।
6. आदि पर्व-145-6
7. भीष्म०-107।10 1

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कौन जीत सकता है।[1] ब्राह्मण वाणी द्वारा प्रवचन देने में शूर होते थे। ब्राह्म-बल में आत्म-बल अथवा बुद्धि की प्रधानता होती थी। एक बार महाराज युधिष्ठिर के विषय में श्रीकृष्ण ने कहा था "राजा उपवास करने से अत्यन्त कृश हो गये हैं। वे ब्राह्म-बल में स्थित हैं, क्षात्र बल प्रकट करने की उनमें सामर्थ्य नहीं है।[2] महाभारत काल में शासन में भी ब्राह्मणों का बड़ा महत्व था। एक विद्वान् सदाचारी ब्राह्मण को पुरोहित के पद पर नियुक्त करना पड़ता था। वह सब प्रकार के विषयों में राजा को निर्देश देता था। राजा शासन के तथा अंतःपुर के भी सभी कार्यों में पुरोहित के निर्देश या अनुमति के अनुसार व्यवहार करता था। इस प्रकार शासन एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण के अधीन होने से धर्म प्रधान होता था। राष्ट्र का योग क्षेम राजा के अधीन तथा राजा का योगक्षेम पुरोहित के अधीन रहता था। वे राष्ट्र सदा उन्नतिशील रहते थे क्योंकि ब्राह्मण अपने तेज से प्रजा के अदृष्ट भय का निवारण करता था तथा राजा अपने बाहुबल से दृष्ट भय का निवारण करता था। ब्राह्मण में सदा तप और मंत्र का बल उपस्थित रहता था तथा क्षत्रिय में सदा अस्त्र तथा भुजाओं का। ब्राह्मण प्रतिदिन स्नान करके जल सम्बन्धी कृत्य—सन्ध्यावन्दन तर्पणादि—करते थे और क्षत्रिय सदा शस्त्र विद्या का अभ्यास करते थे। पृथ्वी पर जो कुछ भी था वह सब इन्हीं दोनों (ब्राह्मण व क्षत्रिय) के अधीन था।[3]

ब्राह्मण के स्वभावज कर्म गुण

भीष्म पर्व में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश देते समय चारों वर्णों के स्वाभाविक कर्मों का वर्णन भी किया था जिसमें ब्राह्मण के स्वभावज कर्म निम्न प्रकार हैं—

1. शम—अन्तःकरण का निग्रह करना, 2. दम—इन्द्रियों का दमन करना अर्थात् इन्द्रियों को वश में करके बाह्य विषयों में आसक्त न होने देना, 3. तप—स्वधर्म (अहिंसा, सत्य, त्याग, व्रत व नियम आदि) के पालन करने के लिए कष्ट सहना, 4. शौच—मन इन्द्रियां और शरीर को तथा इनके द्वारा की जाने वाली क्रियाओं को पवित्र रखना, 5. क्षान्ति—अन्य व्यक्तियों के द्वारा किये गये अपने अपराधों को क्षमा कर देना, 6. आर्जव—मन, इन्द्रिय और शरीर तीनों के व्यवहार या क्रिया को सरल रखना, 7. ज्ञान-वेद—शास्त्रों का भली भांति अध्ययन व मनन करके उन्हें समझना, 8. विज्ञान—वेद शास्त्रों में बतलाये गये व महापुरुषों से सुने गये परमात्मा के स्वरूप

---

1. उद्योग पर्व-139।20
2. कर्ण पर्व-60-17
3. शान्ति पर्व-75।1-2, 14, 22

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का साक्षात्कार करना, 9. आस्तिक्य—वेद-शास्त्र, ईश्वर और परलोक की सत्ता में पूर्ण विश्वास रखना।[1]

उस काल में इन शम दमादि को ब्राह्मणों के स्वाभाविक गुण कहा गया है। वैसे ये मानव मात्र के लिए वाञ्छित साधारण गुण हैं तथापि ब्राह्मण को इन गुणों के पालन में कोई कष्ट नहीं होता था, क्योंकि इनके प्रति उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती थी। किन्तु क्षत्रियादि को ये कष्ट साध्य होते थे।

महाभारत में अन्य स्थलों पर भी ब्राह्मण के नित्य कर्मों का वर्णन किया गया है। एक स्थान पर ब्राह्मण का कर्म यज्ञ कराना, वेद पढ़ाना तथा विशुद्ध दान ग्रहण करके जीवन निर्वाह करते हुए जगत् पर अनुग्रह करना बतलाया गया है।[2] एक स्थान पर ब्राह्मणों में 'सदाचरण व संयम से वेदाध्ययन' को ही स्वाभाविक विशेष गुण कहा है।[3] उद्योग पर्व में ब्राह्मण को भिक्षावृत्ति से जीविका चलाने को कहा गया है।[4] ब्राह्मणों के लिए मन्त्रयुक्त जातकर्मादि सोलह संस्कारों का विधान था। वह जब तक जीवित रहे, समय-समय पर उसके आवश्यक संस्कार होते रहना चाहिये। मरने पर भी यथासमय श्मशान भूमि में अन्त्येष्टि संस्कार तथा घर पर श्राद्ध आदि वैदिक विधि के अनुसार सम्पन्न होना चाहिये।[5] महाभारत काल में ब्राह्मण में निम्नलिखित चेष्टाएं होना आवश्यक माना जाता था—"तप, यज्ञ, विद्याध्ययन, भिक्षावृत्ति, इन्द्रिय संयम, ध्यान, एकान्तवास का स्वभाव, संतोष तथा यथाशक्ति ज्ञानोपार्जन।[6]

ब्राह्मण का प्रमुख धर्म इन्द्रिय संयम एवं स्वाध्याय माना जाता था। ब्राह्मण को यदि स्वधर्म का पालन करते हुए ही धन की प्राप्ति हो जाए तो वह विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करे। वह दान लेने की भांति दान देता भी था, यज्ञ करता यथा दूसरों को कराता भी था, स्वयं अध्ययन करके अध्यापन कार्य भी करता था।[7] उस काल में चारों आश्रमों के पालन की व्यवस्था केवल ब्राह्मणों के लिए थी। विशेषतः संन्यास आश्रम तो केवल ब्राह्मणों के लिए ही था।[8] वह ब्राह्मण श्रेष्ठ माना जाता था जो यज्ञ करना-कराना, विद्या पढ़ना-पढ़ाना तथा दान देना और लेना—इन छः कर्मों का पालन करता था। धर्ममय कवच से सुरक्षित हो मन को वश में रखता था। निष्काम

---

1. भीष्म पर्व-42।42
2. कर्ण पर्व-32।43-48
3. सौप्तिक पर्व-4।18-20
4. उद्योग पर्व-132।30 ब्राह्मणः प्रचरेद् भैक्ष्यं क्षत्रियः परिपालयेत्।
5. शान्ति पर्व-11।12
6. शान्ति पर्व-13।8
7. शान्ति पर्व-60।9-12
8. शान्ति पर्व-61।2

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भाव रखकर भीतर-बाहर से पवित्र रहता था एवं तपस्या परायण व उदार होता था।[1]

जो श्रेष्ठ ब्राह्मण उत्तम लक्षणों से सम्पन्न तथा सर्वत्र समान दृष्टि रखनेवाले होते थे, उन्हें 'ब्रह्मा' के समान माना जाता था। जो वेदत्रयी का अध्ययन करके अपने वर्णोचित कर्म करते रहते थे उन्हें 'देवसभा:'। जो अपने वर्णोचित कर्म से हीन हो कुत्सित कर्मों में लगकर ब्राह्मणत्व से भ्रष्ट हो जाते थे, वे ब्राह्मण 'शूद्रतुल्य' समझे जाते थे। न्यायालय या कहीं भी लोगों को बुलाकर लाने का काम करने वाले, वेतन लेकर देव मन्दिर में पूजा करने वाले, ग्राम पुरोहित, तथा पांचवां 'महापथिक ब्राह्मण, चाण्डाल के तुल्य' माने जाते थे। ब्राह्मणों में से जो ऋत्विक, पुरोहित, मन्त्री, राजदूत या दूत होते थे, वे 'क्षत्रिय के तुल्य' माने जाने थे। घुड़सवार, हाथी सवार, रथी और पैदल सिपाही का काम करने वाले ब्राह्मणों को वैश्य समान समझा जाता था। यदि राजा के खजाने में कमी हो तो वह इन (ब्रह्मा व देव को छोड़कर) ब्राह्मणों से कर ले सकता था। केवल उन ब्राह्मणों से कर नहीं लिया जाता था जो 'ब्रह्म-तुल्य' या 'देव-तुल्य' होते थे। ब्राह्मणों में से जो कोई अपने वर्ण के विपरीत कर्म करने वाले होते थे उनके धन पर भी राजा का अधिकार होता था। राजा का कर्तव्य था कि वह कर्मभ्रष्ट ब्राह्मणों की उपेक्षा न करे अपितु धर्म पर अनुग्रह करने के लिए उन्हें दण्ड दे, तथा श्रेष्ठ ब्राह्मणों की पंक्ति से पृथक् कर दे।[2] यदि किसी राजा के राज्य में ब्राह्मण चोर बन जाता था तो यह राजा का ही अपराध माना जाता था।[3] यदि कोई वेद-वेत्ता या स्नातक ब्राह्मण जीविका के अभाव में चोरी करता था तो राजा का कर्तव्य था कि उसके भरण-पोषण का प्रबंध करे। यदि जीविका का प्रबंध कर देने पर भी वह चोरी करना वन्द नहीं करता था तो राजा उसे बन्धु बान्धवों सहित देश से निर्वासित कर देता था। यज्ञ, वेदाध्ययन, अपेशुनता, अहिंसा, अतिथि-पूजन दम, सत्य, तप व दान ये सब ब्राह्मण के लक्षण माने जाते थे।[4]

महाभारत काल में वही ब्राह्मण, ब्राह्मण माना जाता था जो जात कर्म आदि संस्कारों से सम्पन्न, पवित्र तथा वेदों के स्वाध्याय में संलग्न हो, अपने छः कर्मों में स्थित रहता हो, शौच एवं सदाचार का पालन तथा परम उत्तम यज्ञशिष्ट अन्न का भोजन करता हो, गुरु के प्रति प्रेम रखता हो, नित्य व्रत का पालन करता तथा सत्य में तत्पर रहता हो। ये सात गुण ब्राह्मण में होना अनिवार्य थे—सत्य, दान, अद्रोह, अक्रूरता, लज्जा, घृणा (दया) व तप।[5]

---

1. शान्ति पर्व-62।6-7
2. शान्ति पर्व-76।2-11
3. शान्ति पर्व-76।13
4. शान्ति पर्व-76।13-15
5. शान्ति पर्व-189।2-4

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ब्राह्मण प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों मार्गों का पालन करते थे। निवृत्ति मार्ग का पालन केवल संन्यास आश्रम में किया जाता था, क्योंकि उसमें कर्मों का (सकाम कर्मों का) स्वरूप से त्याग किया जाता था तथा स्वर्ग प्राप्ति आदि तथा लौकिक समस्त कामनाओं का त्याग भी किया जाता था और संन्यास आश्रम का पालन विशेषत: ब्राह्मण ही करते थे।[1] इन दोनों ही मार्गों में मनोनिग्रह एवं इन्द्रिय संयम आवश्यक माने जाते थे। मोक्ष की प्राप्ति के लिए कामनाओं का त्याग आवश्यक था। समस्त शुभ कर्मों को सकाम भाव से करना 'प्रवृत्ति मार्ग' एवं उन्हीं शुभ कर्मों को निष्काम भाव से करना 'निवृत्ति मार्ग' कहलाता था। कुछ ब्राह्मण तो सकाम भाव से, वेदाध्ययन, यज्ञ, जप, तप आदि अनेक शुभ कर्मों का पालन करते थे जिनका फल त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म व काम) होता था। कुछ ब्राह्मण निवृत्ति मार्ग का अनुसरण करते थे। वे सब प्रकार की कामनाओं व फलासक्ति का त्याग कर देते थे तथा उनके कर्मों का फल होता था मोक्ष।[2] त्यागी व विनयी ब्राह्मण सदा 'मुनि' व 'देवता' कहलाता था। वह कुटुम्ब के साथ रहकर भी निरन्तर धर्म पालन में निरत रहता था एवं निद्रा व आलस्य को त्याग देता था। ब्राह्मण के लिए मांस-भक्षण का निषेध था।[3] मांस न खाने वाले ब्राह्मण श्रेष्ठ व मांस खाने वाले हीन समझे जाते थे। मांस खाने वाले ब्राह्मण अपवाद स्वरूप ही थे, जो निन्दनीय माने जाते थे।[4]

ब्राह्मण सदा पवित्र रहते थे। पंच महायज्ञ सम्पादन करने के पश्चात् अमृतमय अन्न का भोजन करते थे। वे देवता और अतिथि का पूजन करते थे। प्रतिदिन प्रात: सायं दो बार भोजन करके मध्य में कुछ न खाकर 'नित्य उपवासी' होते थे। केवल ऋतुकाल में ही अपनी पत्नी के समागम करके 'ब्रह्मचारी' रहते थे। सदा सत्य बोलते थे एवं ज्ञान में स्थित रहते थे। केवल रात में ही (मध्य रात्रि के दोपहर) सोकर, दिन में न सोने वाले होते थे। जो सदा माता-पिता आदि भरण-पोषण करने योग्य कुटुम्बी जनों को भोजन कराकर तथा अतिथि के भोजन कर लेने के पश्चात् भोजन करता था, वह 'अमृतभोजी' तथा जो अतिथियों को भोजन कराये बिना स्वयं भोजन नहीं करता था वह 'अतिथि प्रिय' और जो देवताओं को अर्पण किये बिना भोजन नहीं करता था वह 'देव-भक्त' कहलाता था।[5] जो देव, पितृ, माता-पिता, अतिथि सहित भृत्य वर्ग से अवशिष्ट अन्न का ही भोजन करता था वह 'विघसाशी' कहा जाता था।[6]

---

1. शान्ति पर्व-159 वां अध्याय, शा० प० 244।21, शा०प० 61।1
2. शान्ति पर्व.195-21, 22
3. शान्ति पर्व-221।12, अनु० प० 93।7
4. शान्ति पर्व-221।12
5. शान्ति पर्व-221।13-14
6. शान्ति पर्व-221।15

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इस प्रसंग के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'नित्य उपवासी', 'नित्य ब्रह्मचारी', 'रात्रि स्वापी', 'अमृत भोजी', 'अतिथिप्रिय', 'देवभक्त' व 'विघसाशी' विशेषण इसलिए दिये गये हैं जिससे समाज द्वारा विशेष उपाधियां प्राप्त करने के लोभ से व्यक्ति इन हितकर नियमों का पालन करे तथा समाज के कल्याणकारी नियमों का पालन होता रहे। यज्ञों का प्रचलन होते हुए भी ब्राह्मण के लिए तप ही श्रेष्ठ यज्ञ बतलाया गया है।[1] यह संभवतः इसीलिए होगा कि यज्ञ व्यय साध्य होता था, उसमें धन की आवश्यकता पड़ती थी किन्तु तप में नहीं।

एक अन्य स्थान पर विस्तारपूर्वक ब्राह्मण के सम्पूर्ण जीवन के कतव्य कर्मों का वर्णन किया गया है जिनके अध्ययन से उस काल के ब्राह्मण-जीवन का सर्वांगीण चित्र हृदयपट पर अंकित हो जाता है। वह वर्णन इस प्रकार है: "ब्राह्मण बालक के जातकर्म से लेकर समावर्तन तक के सब संस्कार वेदों के पारंगत विद्वान् आचार्य के निकट रहकर होने चाहिये। उनमें समुचित दक्षिणा देनी चाहिये। उपनयन के पश्चात् ब्राह्मण बालक गुरु शुश्रूषा में तत्पर हो, सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करे। पश्चात् उचित दक्षिणा देकर, गुरु ऋण से मुक्त होकर, समावर्तन संस्कार के पश्चात् व ब्राह्मण बालक घर लौटे। तदन्न्तर आचार्य की आज्ञा लेकर वह विधि पूर्वक चारों आश्रमों में से एक आश्रम स्वीकार करे। यदि सन्तानोत्पत्ति चाहे तो स्त्री-परिग्रह करके गृहस्थ-धर्म का पालन करे अथवा आजीवन ब्रह्मचारी ही बना रहे अथवा वन में गुरु के समीप रहे, अथवा संन्यास धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करे। वैसे उचित मार्ग यही है कि गृही बने, क्योंकि यह आश्रम सब धर्मों का मूल है। इसमें रहकर अन्तःकरण के राग-द्वेष आदि दोष पक जाने पर जितेन्द्रिय पुरुष को सर्वत्र सिद्धि प्राप्त होती है। गृहस्थ पुरुष सन्तान उत्पन्न करके पितृ-ऋण से, वेदों का स्वाध्याय करके ऋषि-ऋण से और यज्ञों का अनुष्ठान करके देव-ऋण से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार तीनों ऋणों से मुक्त हो, विहित कर्मों का सम्पादन करके पवित्र बने। तत्पश्चात् आगे के आश्रमों में प्रवेश करे। पवित्र एवं उत्तम स्थान की खोज करके वहीं रहे तथा अपने को आदर्श उत्तम यशवान् बनाने का प्रयत्न करे।[2] ब्राह्मणों का यश, महान् तप, पूर्ण विद्याध्ययन, यज्ञ अथवा दान करने से बढ़ता है। ब्राह्मण को अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन तथा दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मों का आश्रय लेना चाहिये। परन्तु उसे न तो अनुचित प्रतिग्रह स्वीकार करना चाहिये न व्यर्थ दान ही देना चाहिये। यजमान से, शिष्य से, कन्या, शुल्क से जब महान् धन प्राप्त हो तब उसके द्वारा यज्ञ करे, दान दे, अकेला किसी प्रकार भी उस धन का उपभोग न करे। धनुष की प्रत्यंचा को खींचना, शत्रु को उखाड़ फेंकना, कृषि, व्यापार और पशु पालन करना तथा धन प्राप्ति के लिए दूसरों की

1. शान्ति पर्व-232।31
2. शान्ति पर्व-234।2-12

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सेवा करना, ब्राह्मण के लिए अत्यंत निषिद्ध कर्म थे, क्योंकि यह उसका स्वधर्म नहीं था।[1]

गृहस्थ ब्राह्मण को देवता, ऋषि, पितर, गुरु, वृद्ध, रोगी व भूखे मनुष्यों को भोजन देने के लिए प्रतिग्रह स्वीकार करना चाहिए। प्रतिग्रह के अतिरिक्त ब्राह्मण के लिए धन संग्रह का अन्य कोई पवित्र मार्ग नहीं है।[2] ब्राह्मण को चाहिये कि वह चारों वेदों का उनके छः अंगों सहित अध्ययन करे। उसे वेदों के प्रवचन में निपुण, अध्यात्म ज्ञान में कुशल, सत्वगुण सम्पन्न होकर, धर्मानुकूल व्यवहार करते हुए शिष्ट पुरुषों की भांति सदाचार का पालन करना चाहिये। ब्राह्मण किसी भी जीव को कष्ट न देकर, उसकी जीविका का हनन न करके अपनी जीविका चलाने की इच्छा करे। सज्जनों की सेवा में रहकर तत्व-ज्ञान प्राप्त करे। सत्पुरुष बने एवं शास्त्रों की व्याख्या करने में कुशल हो। जगत में अपने धर्मानुकूल कर्म करे। सत्य-प्रतिज्ञ बने। सदा श्रद्धापूर्वक पंचमहायज्ञों द्वारा यजन करे, धैर्य धारण करे, प्रमाद से बचे, इन्द्रिय संयम करे, धर्म का ज्ञाता बने, मन को अपने अधीन रखे। जो ब्राह्मण हर्ष, मद और क्रोध से रहित है उसे कभी दुःख नहीं उठाना पड़ता। दान, वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, लज्जा, सरलता और इन्द्रिय संयम से ब्राह्मण अपने तेज की वृद्धि और पाप का नाश करता है। ब्राह्मण-अध्ययन, यजन व दान इन कर्तव्य कर्मों का तो अवश्य पालन करे किन्तु अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह से सावधान रहे कि कहीं इनमें आसक्त न हो जावे। जो ब्राह्मण नियमपूर्वक रहकर मन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है उसे यह लोक और परलोक कहीं भी सिद्धि प्राप्त होते देर नहीं लगती। गृहस्थ ब्राह्मण क्रोध और दोष-दृष्टि से रहित होकर श्रेष्ठ पुरुषों के धर्मानुसार चले। शिष्टाचार का पालन करे। कर्म-संकरता न फैलावे।[3]

ब्राह्मणत्व यद्यपि जन्म सिद्ध ही होता था अर्थात् ब्राह्मण वर्ण में जन्म लेने मात्र से ही ब्राह्मण कहलाते थे, चाहे स्वधर्म का पालन करें या न करें।[4] उसे अपने जन्मजात वर्ण के कर्म करने का ही अधिकार था; अतः वर्ण जन्म लेने से ही जाना जाता था। ब्राह्मण के कर्म क्षत्रिय को व क्षत्रिय के कर्म ब्राह्मण को अधर्म थे।[5] अश्वत्थामा, यद्यपि क्षत्रिय कर्म में निरत थे फिर भी भीम ने ब्राह्मण मानकर उनका वध नहीं किया।[6] युधिष्ठिर का चरित्र ब्राह्मणोचित होते हुए भी, ब्राह्मण नहीं माने जाते थे।[7] स्वधर्म से

1. शान्ति पर्व-63।22
2. शान्ति पर्व-234।13
3. शान्ति पर्व-235।1-8, 23-27
4. शान्ति पर्व-268।12
5. शान्ति पर्व-14।15, 321।22-24, अनु० 35।1, 8।21
6. द्रोण पर्व-197।31 सौप्तिक 16।32
7. वन पर्व-35।20

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भ्रष्ट होने पर भी निन्दनीय तो होते थे किन्तु अपने वर्ण में ही माने जाते थे।युधिष्ठिर की राजसूय यज्ञ में गुणों की परीक्षा करके वर्ण मानने का व्यवहार नहीं किया गया। इसीलिए शूद्र वर्ण का प्रवेश वर्जित रहा था। किन्तु साथ ही उन ब्राह्मणों का भी प्रवेश वर्जित रहा था, जो व्रतहीन थे।[1] इससे यह सिद्ध होता है कि जन्म व गुण दोनों को मान्यता दी जाती थी, गुणों की अपेक्षा जन्म को अधिक मान्यता थी। क्योंकि स्वधर्म त्यागी ब्राह्मणों को शान्ति पर्व में 'क्षत्रियतुल्य', 'शूद्रतुल्य' आदि ही कहा है यह नहीं कि ऐसा ब्राह्मण क्षत्रिय हो जाता है, शूद्र हो जाता है आदि। जाति तो जन्म जात ही होती थी। किन्तु साधु-असाधु, प्रशंसा व निन्दा के पात्र होते थे। जन्म-गत वर्ण व कर्मगत वर्ण दोनों का सामंजस्य किया गया ज्ञात होता है, तथा दोनों के ही पर्याप्त उदाहरण प्राप्त होते हैं।[2] शिशुपाल रुक्मिणी को ऐसे ही न पा सका जैसे शूद्र वेदऋचा नहीं सुन सकता।[3] यह जन्मगत वर्ण व्यवस्था का एक उदाहरण है।

ब्राह्मणत्व की प्राप्ति के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है, उनका अनेक स्थलों पर वर्णन है। एक स्थान पर कहा गया है[4], जो सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर ले, गुरु की सेवा में रहे, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे, वेदत्रयी का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर ले, समस्त प्राणियों को अपने कुटुम्ब की भांति समझ कर, उन पर दया करता हो, जानने योग्य तत्व का ज्ञाता और कामना से रहित हो, वही सच्चा ब्राह्मण है। इस संसार में जो कोई भी विधि निषेध रूप शास्त्र कहा जाता है, उसमें पारङ्गत विद्वान होना, गृहस्थ ब्राह्मणों के लिए उत्तम बात मानी जाती थी। ब्राह्मण का कर्तव्य था कि वह सदा यज्ञोपवीत धारण किये रहे, स्वच्छ वस्त्र धारण करे, उत्तम व्रत का पालन करे, शौच संतोष आदि नियमों और सत्य अहिंसादि नियमों के पालन पूर्वक यथाशक्ति दान करता रहे, तथा शिष्ट पुरुषों के साथ निवास करे। शिष्टाचार का पालन करते हुए जिह्वा और उपस्थ को नियन्त्रण में रखे। मननशील गृहस्थ को चाहिये कि वह हाथ, पैर, वाणी तथा नेत्र द्वारा होने वाली सफलता का त्याग करे। ब्राह्मण के छः कर्मों में से—अध्यापन आदि तीन कर्म तो उसकी जीविका के साधन हैं, तथा अध्ययन आदि तीन कर्म धर्नोपार्जन के लिए होते हैं।[5] ब्राह्मण जब तक विधि पूर्वक चारों आश्रमों के नियमों का पालन नहीं करता तब तक नाना प्रकार की इष्टियों और बड़ी-

---

1. सभा पर्व-36।9 न तस्यां संन्निधौ शूद्रः कश्चि चाव्रती।
अन्तर्वेद्यां तदा राजन् युधिष्ठिरः निवेशने।।
2. शान्ति पर्व-321वां अध्याय, भीष्म पर्व-41।48, वन पर्व-206वां अध्याय
सभा० 33।41
3. शान्ति पर्व-251।2, 3
4. सभा०-45।15
5. आश्व०-45।14।13

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञों का अनुष्ठान करने मात्र से किसी प्रकार भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त नहीं हो सकता। जिस समय वह किसी प्राणी से भयभीत नहीं होता तथा कोई प्राणी उससे भयभीत नहीं होता, जब वह इच्छा व द्वेष का सर्वथा परित्याग कर देता है उसी समय उसे ब्रह्म भाव की प्राप्ति होती है। जब वह मन, वाणी और क्रिया द्वारा किसी भी प्राणी की बुराई करने का विचार अपने मन में नहीं करता, जो कामना के बन्धन से छूट जाता है, वही ब्रह्म-भाव को प्राप्त होता है। भोग ही उस स्थित-प्रज्ञ पुरुष की कामना करता है परन्तु वह भोगों की कामना नहीं करता।[1]

वेद का सार है सत्य वचन, सत्य का सार है इन्द्रियों का संयम, संयम का सार है दान, दान का सार तपस्या, तप का सार त्याग, त्याग का सार सुख, सुख का सार है स्वर्ग (ऐकान्तिक सुख), स्वर्ग का सार शान्ति है। अतः संतोष-पूर्वक रहकर शान्ति के उत्तम उपाय सत्वगुण को अपनाने की इच्छा करनी चाहिये। सत्व गुण, मन की तृष्णा, शोक और संकल्प को इस प्रकार जलाकर नष्ट करने वाला है, जैसे गर्म जल चावल को गला देता है।[2] जिसका सदाचार एवं सत्कर्म कभी लुप्त नहीं होता वह ब्राह्मण (अग्नि-होत्र न करने पर भी) अग्निहोत्री ही है। सदाचार का ठीक-ठीक पालन होने पर यदि अग्निहोत्र न हो सके तो भी अच्छा है, किन्तु सदाचार का त्याग करके केवल अग्निहोत्र करना कदापि कल्याणकारी नहीं है।[3]

यदि ब्राह्मण जीविका के अभाव में क्षत्रिय या वैश्य के धर्म से जीवन निर्वाह करे तो पतित नहीं होता किन्तु जब वह शूद्र के धर्म को अपनाता है, तब पतित हो जाता है।[4] ब्राह्मण की जीवनचर्या शान्ति पर्व में ही एक अन्य स्थल पर इस प्रकार वर्णित है। ब्राह्मण बालक यज्ञोपवीत संस्कार व पश्चात् गुरु-आश्रम में जाकर वेदाध्ययन में तत्पर हो जाय। तपस्या, गुरु की सेवा तथा ब्रह्मचर्य का पालन—इन तीन कर्मों का पालन करते हुए वेदाध्ययन सम्पन्न करे। घर आने पर निवास करके गार्हस्थ्य धर्म का पालन करे और अपनी ही स्त्री के प्रति अनुराग रखे। दूसरों के दोष न देखकर सबके साथ यथोचित व्यवहार करे और अग्नि की स्थापना के पश्चात प्रतिदिन अग्निहोत्र करता रहे। वहां पुत्र-पौत्र उत्पन्न करके, पौत्रोत्पति के पश्चात् पुत्र को गार्हस्थ्य धर्म का भार सौंप कर वन में जाकर वानप्रस्थ आश्रम में रहे। उस समय भी शास्त्र विधि के अनुसार उन्हीं गार्हस्थ्य अग्नियों की आराधना करते हुए अतिथियों का प्रेम पूर्वक सत्कार करें। इसके पश्चात् धर्मज्ञ पुरुष शास्त्रीय विधि के अनुसार अग्निहोत्र की अग्नियों का आत्मा में आरोप करके एवं वीत राग होकर, ब्रह्मचिन्तन से सम्बन्ध रखने वाले संन्यास आश्रम

1. शान्ति पर्व-251।5-10
2. शान्ति पर्व-251।11-13
3. शान्ति पर्व-292।21
4. शान्ति पर्व-294।3

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

में प्रवेश करे।[1] व्रत का नियम लेकर उसका पालन न करना ब्राह्मण के लिये महान् दोष माना जाता है[2]।

क्षत्रिय व ब्राह्मण का उस समय कैसा सम्बन्ध था इसके दो एक प्रसंग इससे पूर्व वर्णित हो चुके हैं, फिर भी भीष्म पितामह ने इसके सम्बन्ध में जो अपने विचार प्रकट किये वे यहां उद्धृत किये जा रहे हैं। "मेरे द्वारा ब्राह्मणों के प्रति किन्हीं श्रेष्ठ कर्मों में कभी छोटा-मोटा किंचित मात्र भी अपराध नहीं हुआ है। मैंने मन, वाणी और कर्म से ब्राह्मणों का जो थोड़ा बहुत उपकार किया है, उसी के प्रभाव से आज इस अवस्था में पड़ जाने पर भी मुझे पीड़ा नहीं होती है। लोग मुझे ब्राह्मण-भक्त कहते हैं, उनके इस कथन से मुझे बड़ा संतोष होता है। ब्राह्मणों की सेवा ही सम्पूर्ण पवित्र कर्मों से बढ़कर परम पवित्र कार्य है। जैसे स्त्रियों के लिये पति की सेवा ही संसार में सबसे बड़ा धर्म है, पति ही उनका देवता और वही उनकी परम गति है, उनके लिये दूसरी कोई गति नहीं है, उसी प्रकार क्षत्रिय के लिये ब्राह्मण की सेवा ही परम धर्म है। ब्राह्मण ही उनका देवता है और परम गति है, अन्य नहीं। क्षत्रिय 100 वर्ष का हो और श्रेष्ठ ब्राह्मण दस वर्ष का हो तो उन दोनों को परस्पर क्रमशः पुत्र (क्षत्रिय) और पिता के समान जानना चाहिये। क्षत्रिय भूपति इसलिये हैं क्योंकि ब्राह्मण भूपतित्व स्वीकार नहीं करते। ब्राह्मणों के तेज और तप से सदा डरना चाहिये तथा उनके सामने अपने तप और तेज का अभिमान त्याग देना चाहिये। क्षत्रियों का कर्तव्य है कि वे ब्राह्मण व वेद की सदा यत्नपूर्वक रक्षा करें।[3]

पंक्ति पावन ब्राह्मण—विद्या और वेदव्रत में स्नातक समस्त ब्राह्मण यदि सदाचार परायण हों तो पंक्ति पावन माने जाते थे।[4] पंक्ति दूषक ब्राह्मण निम्नलिखित माने जाते थे—

पशुपालक, जुआरी, गर्भ हत्यारा, यक्ष्मी, अपढ़, ग्राम का हरकारा, सूदखोर, गायक, सब प्रकार की वस्तु बेचने वाला, घर जलाने वाला, विष देने वाला, सामुद्रिक, राजभृत्य, अपनी स्त्री के जार से उत्पन्न पुत्र के यहां भोजन करने वाला, सोमविक्रयी, तेल बेचने वाला, झूठी साक्ष्य देने वाला, पिता से झगड़ा करने वाला, जिसके घर में जार का प्रवेश हो, कलंकित, चोर, शिल्पजीवी, बहुरूपिया, चुगलखोर, मित्रद्रोही, परस्त्री-लम्पट, व्रतरहित मनुष्यों का अध्यापक, अस्त्र-शस्त्र बनाकर जीविका चलाने वाला, कुत्तों को साथ लेकर घूमने वाला, कुत्ते का काटा हुआ, जिसके छोटे भाई का विवाह हो गया हो ऐसा अविवाहित बड़ा भाई, चर्म-रोगी, गुरु पत्नीगामी, नट का काम करने

1. शान्ति पर्व-326।14-19
2. शान्ति पर्व-328।20
3. अनु० पर्व-8।28
4. अनु० पर्व-90।25

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वाला, मन्दिर की पूजा से जीविका चलाने वाला, और नक्षत्रों का फल बताकर जीने वाला।[1] इन्हें पंक्ति से बाहर रखा जाता था और माना जाता था कि इनका खाया हुआ हविष्य राक्षस खाते हैं, देवता नहीं।

ये ब्राह्मण पातकी समझे जाते थे—अनध्याय के समय अध्ययन करने वाला, मांसाहार करने वाला, ऋतुकाल आये बिना पत्नी के साथ समागम करने वाला, स्त्री की कमाई पर जीविका चलाने वाला, शूद्र की पत्नी से संसर्ग रखने वाला, शुल्क लेकर कन्या दान करने वाला, वर्षा में परदेश घूमने वाला, भृत्य होने वाला, सबसे वैर करने वाला, उपाध्याय को नीचे बैठाकर अध्ययन करने वाला।[2] राज्य की सेवा करने वाला, वेतन लेकर घण्टा बजाने वाला, दूसरों का सेवक, व्यापार व गौरक्षा कर्म (धन्धा) करने वाला, शिल्पी, नट, शूद्रा का पति।[3]

इन ब्राह्मणों को शूद्र के समान माना जाता था—चिकित्सक, शास्त्र विक्रेता, ग्रामाध्यक्ष, पुरोहित, ज्योतिषी तथा वृथाध्यायी।[4]

ब्राह्मण के छः कर्मों के अतिरिक्त, सत्य, मनोनिग्रह, तप और शौचाचार का पालन, यह उसका सनातन धर्म है। सदा तप करना ही ब्राह्मण का धर्म है इसमें संशय नहीं। यज्ञ करना तथा किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ब्राह्मण का परम धर्म है।[5] उसी अध्याय में आगे वर्णन है—सदा स्वाध्यायशील होना ब्राह्मण का प्रमुख धर्म है, यज्ञ करना सनातन धर्म है, तथा अपनी शक्ति के अनुसार विधिपूर्वक दान देना उसका प्रशस्त धर्म है[6]। गुणों के द्वारा वर्ण परिवर्तन का भी विधान था किन्तु वह स्वभाव से ही जाति के नाम से नहीं। ब्राह्मण अपने कर्मों से शूद्रत्व को तथा शूद्र अपने कर्मों से ब्राह्मणत्व को प्राप्त होता जाता है, इस भाव का यह फल होता है कि आगामी जन्मों से ब्राह्मण शूद्र के यहां या शूद्र ब्राह्मण के यहां जन्म लेता है। महात्मा भीष्म ने इस क्रमिक उन्नति व पतन का अत्युत्तम वर्णन किया है। वे कहते है कि "ब्राह्मणादि वर्ण यद्यपि नैसर्गिक (जन्म जात) हैं, फिर भी ब्राह्मण यदि अपने वर्णोचित कर्मों का अनुष्ठान न करके पाप कर्म करे तो अपनी महत्ता से नीचे गिर जाता है। अतः द्विज का कर्तव्य है कि वह उत्तम वर्ण में जन्म पाकर अपनी मर्यादा की रक्षा करे। यदि क्षत्रिय या वैश्य

---

1. अनु० पर्व—90।6-11
2. अनु० पर्व—93।113-129
3. अनु० पर्व-126।24-25
4. अनु० पर्व-135।11 चिकित्सकः काण्डपष्ठः पुराध्यक्षः पुरोहितः।
   सावत्सरी वृथाध्यायी सर्वे ते शूद्र सम्मिताः॥
5. अनु० पर्व-141 वां अध्याय सत्यं शान्तिष्तपः शौचं तस्य धर्मः सनातनः।
   तप एव सदा धर्मो ब्रह्मणस्य न संशयः॥
6. अनु० पर्व-141।69 दान प्रशस्यते चास्य यथाशक्तिर्यथा विधिः।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ब्राह्मण धर्म का पालन करते हुए ब्राह्मणत्व का आश्रय लेता है तो ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। जो ब्राह्मण अपने धर्म को त्यागकर क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र धर्म का आश्रय लेता है वह इस जन्म में निन्दनीय व अधम माना जाकर आगामी जन्म में उसी वर्ण में उत्पन्न होता है। क्षत्रिय और वैश्य भी यदि शूद्र का कार्य करने लगते हैं तो इस जीवन में जाति से भ्रष्ट हो वर्ण संकर हो जाते हैं तथा आगामी जन्म में शूद्र वर्ण में जन्म लेते हैं, जो पुरुष अपने वर्ण धर्म का पालन करते हुए बोध प्राप्त करता है—और ज्ञान—विज्ञान से सम्पन्न, पवित्र तथा धर्मज्ञ होकर, धर्म में ही लगा रहता है वही धर्म के वास्तविक फल का उपयोग करता है। वैश्य व क्षत्रिय भी यदि सदाचार का पालन करते हुए अपने धर्म का विधिवत् पालन करते हैं तो वैश्य, क्षत्रिय योनि में तथा क्षत्रिय ब्राह्मण योनि में उत्पन्न होता है।[1]

ऐसी मान्यता थी कि हृदय की शुद्धि सैंकड़ों अश्वमेघ व वाजपेय यज्ञों से, कठोर तप से व बड़े-बड़े दानों से भी श्रेष्ठ होती है। अन्तःकरण की पवित्रता के बिना यज्ञ, दान व तप जो महान शुभ कर्म हैं, वे भी निष्फल हैं।[2] भोजन का हृदय के विचारों से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसीलिये उस काल में भोजन करने के सम्बन्ध में कठोर प्रतिबन्ध थे।[3] ब्राह्मण को ब्राह्मण व क्षत्रिय के घर भोजन करना चाहिये, शूद्र के घर कदापि नहीं। वैश्यों के यहां भी, जो नित्य अग्निहोत्र करने वाले, पवित्रता से रहने वाले और चतुर्मास्य व्रत का पालन करने वाले हैं, उन्हीं का अन्न ब्राह्मण के लिये ग्राह्य है। जो द्विज शूद्रों के घर का अन्न खाता है वह समस्त पृथ्वी के मल व मूत्र का ही भक्षण करता है।[4] ब्राह्मणों के लिये उन ब्राह्मणों के यहां भी भोजन करने का निषेध था, जो शूद्रोचित कर्म करने वाले थे। इसी अध्याय में वर्णित चिकित्सकादि, शूद्र माने जाने वाले व्यक्तियों के यहां जो ब्राह्मण अन्न भक्षण करता था उसके विषय में ऐसी मान्यता थी कि वह अभक्ष्य भक्षण का पाप करके दारुण भय को प्राप्त होता है। उसके कुल, वीर्य, और तेज नष्ट हो जाते हैं और धर्म-कर्म से हीन होकर कुत्ते की भांति तिर्यक योनियों में पड़ता है। चिकित्सक का अन्न मिष्ठा के समान, व्यभिचारिणी स्त्री या वैश्या का अन्न मूत्र के समान तथा कारीगर का अन्न रक्त के तुल्य माना जाता था। इनके अतिरिक्त श्रेष्ठ पुरुष को उचित था कि वह विद्या बेचकर जीविका चलाने वाले ब्राह्मण का, शूद्रान्न-तुल्य, अन्न न खावे।[5] महाभारत काल में भोजन के सम्बन्ध में इतने कठोर नियम थे।

---

1. अनु० पर्व 142 वां अध्याय
2. अनु० पर्व 127।17, 18
3. अनु० पर्व 135।2
4. अनु० पर्व 135।3-5
5. अनु० पर्व 135।11-15

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

छः प्रकार के 'चाण्डाल ब्राह्मण' चाण्डालों से भी नीच माने जाते थे—1. बिना ब्याही कन्या से उत्पन्न, 2. ब्याह के समय गर्भवती कन्या से उत्पन्न, 3. पति की जीवितावस्था में व्यभिचार से उत्पन्न, 4. पति के मर जाने पर पर-पुरुष से उत्पन्न, 5. संन्यासी से उत्पन्न, एवं 6. पतित मनुष्य से उत्पन्न।[1] वीर्य रक्षा का बड़ा महत्व था। गृहस्थ को भी यथा-शक्ति ब्रह्मचर्य पालन का विधान था। अतिथि के रूप में यदि चाण्डाल भी ब्राह्मण के घर आवे तो ब्राह्मण का कर्तव्य था कि उसका सत्कार करे।[2] इससे समानता के भाव का भी स्पष्ट बोध होता है। कर्मों के सम्पादन में तो भेद था क्योंकि कर्म-विभाजन कर लिया गया था उसमें कर्म-संकरता उत्पन्न न हो जाय किन्तु वैसे मानव ही क्या प्राणी मात्र के प्रति सहृदयता के दर्शन होते हैं। जो अतिथि सत्कार नहीं करता उसका ऊनी वस्त्र ओढ़ना, रसोई बनवाना, भोजन करना सब व्यर्थ माना जाता था। जो सांगोपांग वेदों का प्रतिदिन स्वाध्याय करता है किन्तु अतिथि सेवा नहीं करता उसका जीवन व्यर्थ है।[3] ब्राह्मण का कर्तव्य था कि वाल्यकाल में विद्याध्यन, युवावस्था में विवाह करके सन्तानोत्पत्ति कर तथा वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति का आश्रय ले किन्तु धर्माचरण सभी अवस्थाओं में करता रहे।[4]

उत्तम कुल में उत्पन्न, शास्त्रोक्त कर्मों का अनुष्ठान करने वाले विद्वान् दयालु, श्री सम्पन्न, सरल और सत्यवादी ब्राह्मण सुपात्र माने जाते थे और जो भगवान में मन लगाकर उनके ही शरणागत हों वे पंक्ति पावन समझे जाते थे।[5]

आपद् धर्म—जब क्षत्रिय ही ब्राह्मणों के विरुद्ध विद्रोह कर देते थे तब उनका

---

1. आश्व० पर्व 92 अध्याय कानीनश्चे सहोढ़स्य तथा मौकुण्डगोलकौ।
आरूढ़ पतिताज्जातः पतित स्यापि यः सुतः॥
षडेते विप्रचाण्डाला निकृष्टा श्वपचादपि।
2. आश्व० पर्व 92 अध्याय आयुस्तेजां वलं वीर्यं प्रज्ञा श्री श्च महद् यशः।
पुण्य च मत्प्रियत्वं च लभते ब्रह्मचर्यया॥
चाण्डालौ प्यतिथिः प्राप्तौ देश कालेन्न कांक्षया।
अम्युदयो गृहस्थेन पूजनीयश्य सर्वदा॥
3. आश्व० पर्व 92 अध्याय माघं ध्रुवं प्रोर्णयति मोघमस्य तु पच्यते।
मोघमन्नं सदाश्नाति यो तिथिं न च पूजयेत्॥
खांगोपांगास्तु यो विद्वान् पठतीह दिने दिने।
न चातिथिं पूजयति वृथा भवति स द्विजः॥
4. आश्व० पर्व 92 वां अध्याय वाल्ये विद्यां निषेवेत यौवने दार संग्रहम्।
वार्धिकं मौन मतिण्डेत सर्वदा धर्ममाचतरेत्॥
5. आश्व पर्व 92 वां अध्याय मद्भक्ता ये द्विज श्रेष्ठा मद्गता मद्परायणाः।
ताम् पंक्ति पावनात् विद्धि पूज्यांचैव विशेषतः॥

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

धर्म था कि वे तप से, ब्रह्मचर्य से, शस्त्र के बल से, निष्कपट व्यवहार अथवा भेद नीति से जैसे भी सम्भघ हो, क्षत्रियों पर नियन्त्रण करें। क्षत्रिय यदि प्रजापालन के विपरीत प्रजा पर अत्याचार करने लगते थे, यहां तक कि ब्राह्मणों पर भी, तो ब्राह्मण ही उन पर नियंत्रण कर सकते थे एवं करते थे। यद्यपि क्षत्रियों का तेज और बल प्रचण्ड होता था तथापि, ब्राह्मण से टक्कर होने पर शान्त हो जाता था।[1] आपत्तिकाल में जब अपनी रक्षा करने के लिये, अन्य वर्णों में यदि कोई दोष आ गये हों तो उसे रोकने के लिये तथा दुर्दान्त दुष्टों का दमन करने के लिये ब्राह्मण को भी शस्त्र ग्रहण करने की व्यवस्था थी।[2] आपत्तिकाल में स्वधर्मानुकूल वृत्ति का त्याग करने वाले पुरुष के लिये अपने से नीचे वर्ण की वृत्ति से जीविका चलाने का विधान था।[3] ब्राह्मण यदि छः समय तक भूखों मर ले और उसे भिक्षावृत्ति या स्वधर्म से अन्न प्राप्त न हो तो वह इतना अन्न जिससे उसका परिवार एक समय तक भोजन कर सके तथा दूसरी बार को कुछ शेष न रहे, किसी खलियान, खेत, उद्यान या जहां मिले वहां से चोरी कर ला सकता था किन्तु उसे स्वतः ही राजा से जाकर यह कह देना पड़ता था, ऐसा धर्म विधान था।[4]

क्षत्रिय वर्ण—महाभारत में क्षत्रिय वर्ण के सम्बन्ध में अत्यधिक ज्ञान उपलब्ध होता है (मैंने क्षत्रिय धर्म से राजनीति को पृथक करने का प्रयत्न किया है) क्षत्रिय वर्ण की उत्पत्ति जैसा कि मूल स्रोत 'पुरुष सूक्त' से विदित होता है तथा जैसी कि परम्परा महाभारत में भी प्रचलित थी, जिसका महाभारत[5] में भी वर्णन मिलता है। कार्य विभाजन की दृष्टि से ऋग्वेद में क्षत्रिय की उत्पत्ति 'पुरुष' की भुजाओं से बतलाई गई है अर्थात् क्षत्रिय का धर्म भुजबल प्रधान होना है। महाभारत के प्रारम्भ से ही देखने में आता है कि क्षत्रिय ब्राह्मणों का सम्मान करते थे।[6] किन्तु परस्पर स्पर्धा रखते थे। राजा लोग कुलीन क्षत्रिय से ही युद्ध करते थे। जब कर्ण ने रंगभूमि में प्रवेश करके अर्जुन के साथ युद्ध मांगा तो कृपाचार्य ने कर्ण से कहा कि 'तुम अपना वंश परिचय दो'। सूत पुत्र होने के कारण कर्ण लज्जित हुआ किन्तु दुर्योधन ने कहा कि वीर तो राजा ही होते हैं और कर्ण को अंग देश के राजपद पर अभिषिक्त कर दिया।[7] तब कर्ण राजा होकर राजकुमारों के साथ युद्ध करने का पात्र हो गया। इससे यह भी ज्ञात होता है कि उस काल तक क्षत्रियों में ऊंच-नीच की भावना अधिक बढ़ गई थी।

---

1. शान्ति पर्व-78।20-24
2. शान्ति पर्व-78।34
3. शान्ति पर्व-130।25-26
4. शान्ति पर्व-165।11-13
5. शान्ति पर्व-318।90
6. आदि पर्व-42।16
7. आदि पर्व-135।36-38

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ब्राह्मण के पश्चात् सम्मान में क्षत्रिय का ही अधिकार होता था। राजा भी अधिकांश क्षत्रिय ही होते थे। वारणावत पहुंच कर युधिष्ठिर सर्वप्रथम ब्राह्मणों के घर जाकर फिर नगर के अधिकारी क्षत्रियों के घर गये, वैश्यों व शूद्रों के यहां पश्चात्।[1] क्षत्रिय राजा होकर, राजसूय यज्ञ भी करते थे। वे बाहुबल से ही जीविका चलाने वाले होते थे।[2] ऐसी मान्यता थी कि राजा के द्वारा सुरक्षित हुई प्रजा जिस धर्म का अनुष्ठान करती है उसका चतुर्थ भाग उसे मिल जाता है।[3] राजा की दण्डनीति यदि स्वधर्म के अनुसार प्रयुक्त हुई तो वह चारों वर्णों को नियन्त्रण में रखती और अधर्म से निवृत्त करती है।[4] क्षत्रिय लोग युद्ध को शस्त्र-यज्ञ कहते थे।[5] किसी कारण से यदि कोई ब्राह्मण क्षत्रिय धर्म स्वीकार कर लेता था तो वह उसी धर्म को स्वधर्म मानता था। यथा—द्रोणाचार्य व उनके पुत्र अश्वत्थामा क्षत्रिय धर्म को ही अपनी जीविका का साधन मानते थे। जब भीष्म के साथ अर्जुन ने भयंकर युद्ध किया तब द्रोणाचार्य ने अश्वस्थामा से कहा कि—"अपना प्यारा पुत्र निरंतर जीवित रहे, यह कौन नहीं चाहता है, तथापि क्षत्रिय धर्म पर दृष्टि रखकर मैं तुम्हें इस कार्य में नियुक्त कर रहा हूं। बेटा, आश्रित रहकर जीविका चलाने वाले पुरुषों के लिये, यह अपने प्राणों की रक्षा का अवसर नहीं है। तुम स्वर्ग को सामने रखकर यज्ञ और विजय की प्राप्ति के लिये भीष्मजी के समीप जाओ"[6] क्षत्रिय युद्ध में प्राण त्याग करना परम सौभाग्य मानते थे। उस काल की मान्यता थी कि "क्षत्रिय केवल बाहुबल से ही उन उत्तम लोकों को जीत सकते हैं, जिन्हें तपस्वी (ब्राह्मण) कठोर तपस्या करके प्राप्त कर सकते हैं"[7] द्रोण ने जयद्रथ को इसी प्रकार सांत्वना दी एवं श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को भी अभिमन्यु वध के पश्चात इसी प्रकार समझाया है। उन्होंने कहा कि "सौभाग्य की बात है कि पराक्रमी व वीर अभिमन्यु क्षत्रियोचित कर्तव्य का पालन करके उस उत्तम गति को प्राप्त हुआ है, जिसकी वीर पुरुष अभिलाषा करते हैं। तपस्या, ब्रह्मचर्य, शास्त्र ज्ञान" और सद्बुद्धि के द्वारा साधु पुरुष जिस गति को पाना चाहते हैं, वही गति तुम्हारे पुत्र को भी प्राप्त हुई है।"[8] क्षत्रियों का कर्तव्य था कि विनय पूर्ण दृष्टि और श्रद्धा पूर्ण

---

1. सभा पर्व-145।6
2. शान्ति पर्व-132।31 "बाहु वीर्योपजीविनः" "क्रूराय कर्मणेनित्यं प्रजानां परि-पालने।
3. उद्योग पर्व-132।13
4. उद्योग पर्व-132।14
5. उद्योग पर्व-141।29 धार्तराष्ट्रस्य वार्ष्णेय शस्त्र यज्ञो भविष्यति।
6. भीष्म पर्व-112।23, 40
7. द्रोण पर्व-74।34
8. द्रोण पर्व-77।13-16

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हृदय से ब्राह्मणों को संतुष्ट रखें, क्योंकि वे अग्नि की ज्वाला के समान तेजस्वी होते थे ।[1]

क्षत्रिय लोग न्याय पूर्ण युद्ध करते थे, भीष्म, द्रोण, कृप, शल्य व अश्वत्थामा आदि अनेक वीरों को पाण्डव प्रिय थे किन्तु वे युद्ध में इस सम्बन्ध को भूल कर स्वधर्म का पालन करते हुए बड़े उत्साह से युद्ध करते थे। एक बार दुर्योधन के कटुवचन के उत्तर में अश्वत्थामा ने कहा कि "पाण्डव मुझे तथा मेरे पिता जी को भी अत्यंत प्रिय हैं। इसी प्रकार उनको भी हम दोनों प्रिय हैं किन्तु युद्धस्थल में हमारा यह भाव नहीं रहता।"[2] क्षत्रिय युद्ध में अत्यंत कुपित होने पर भी अपनी प्रतिज्ञा नहीं भूलते थे। कर्ण ने अर्जुन के अतिरिक्त किसी भी कुन्ती-पुत्र का वध न करने की प्रतिज्ञा की थी, उसने उसका सदा पालन किया। इसी प्रकार अर्जुन ने सदा भीमसेन की इस प्रतिज्ञा की रक्षा की कि "मैं धृतराष्ट्र के समस्त पुत्रों का वध करूंगा।"

क्षत्रियों की मान्यता थी कि छात्र धर्म, सभी धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। प्रजा पालन एवं दस्यु दमन ही प्रमुख छात्र धर्म था। धर्म के कारण सब लोग अपने-अपने धर्मों का पालन कर सकते हैं। क्षत्रिय मानव मात्र की रक्षा करते थे, वे अपने धर्म को महान् कल्याणकारी मानकर उसके पालन में तत्पर रहते थे।[3] भिन्न-भिन्न उपायों, नियमों, पुरुषार्थों तथा सम्पूर्ण उद्योगों के द्वारा चारों वर्णों की स्थापना एवं रक्षा करने के कारण क्षात्र धर्म एवं गृहस्थ आश्रम को ही सबसे श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण धर्मों से सम्पन्न माना जाता था। क्षत्रिय धर्म अर्थ की प्राप्ति कराने के साथ-साथ उत्तम नीति का ज्ञान कराता था। अतः आश्रम धर्मों से भी श्रेष्ठ माना जाता था।[4] धर्म पालन इसलिये होता रहता था कि महा मनस्वी क्षत्रिय लोग दण्डनीति के द्वारा पापियों को पाप करने से रोकते रहते थे। राजा का परम कर्तव्य था कि वह अपने राज्य में कल्याणमय शासन स्थापित करने के लिए सभी वर्ण के लोगों को अपने-अपने धर्म पालन में लगाये रखे।[5] साधारण स्थिति में तो क्षत्रिय ही युद्ध करते थे किन्तु यदि दस्यु मर्यादा का उल्लंघन करके, स्वेच्छाचारिता में प्रवृत्त होकर प्रजा में वर्ण संकरता फैला रहे हों, तो उस अत्याचार को रोकने के लिये सभी वर्णों के लोग शस्त्रास्त्र लेकर युद्ध के लिये उद्यत हो जाते थे, यही उनका धर्म था।[6]

क्षत्रिय के लिये भिक्षावृत्ति या वैश्य अथवा शूद्र की जीविका अपनाने का

---

1. द्रोण पर्व-151।38
2. द्रोण पर्व-106।3
3. शान्ति पर्व-60।18-19
4. शान्ति पर्व-63।1
5. शान्ति पर्व-65।6, 29, 30
6. शान्ति पर्व-65।6,7

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विधान नहीं था। परन्तु जब अपनी जाति के लिये प्रतिपादित धर्म का अवलम्बन करके जीवन निर्वाह नहीं कर सकता था तब वह स्वधर्म से विपरीत वृत्ति भी अपना सकता था।[1] जो क्षत्रियोचित युद्ध आदि कर्म का सेवन करता था, वेदों के अध्ययन में लगा रहता था, ब्राह्मण को दान देता था, प्रजा से कर लेकर उसकी रक्षा करता था, वह श्रेष्ठ क्षत्रिय कहलाता था।[2] क्षत्रिय का पुत्र यदि समरांगण में घायल हो कर वाणों की चिता पर दग्ध होता है तो स्वर्गीय सुख का भागी होता है। क्षत्रियों का नियम था कि जो युद्ध में थका हो, भयभीत हो, जिसने हथियार नीचे डाल दिया हो, रोता हो, पीठ दिखाकर भाग रहा हो, जिसके पास युद्ध का कोई भी सामान न रह गया हो, जो युद्ध विषयक उद्यम छोड़ चुका हो, रोगी हो और प्राणों की भीख मांगता हो तथा अवस्था में बालक या वृद्ध हो, ऐसे शत्रु का वध नहीं करना चाहिये। किन्तु जिसके पास युद्ध का सामान हो, जो युद्ध के लिये तैयार हो और अपने बराबर का हो, संग्राम भूमि में उस क्षत्रिय कुमार को अवश्य जीतने का प्रयत्न करे। अपने समान या अपने से बड़े वीर के हाथ वध होना श्रेष्ठ है, ऐसा, युद्ध-शास्त्र के ज्ञाताओं का निर्णय था। पापी, पापाचारी और नीच पुरुष के हाथों वध होना पाप रूप माना जाता था।[3]

क्षत्रिय को भिक्षावृत्ति का तो सर्वथा निषेध था, कृषि भी उसके धर्मानुकूल नहीं मानी जाती थी। दूसरों का 'क्षति से त्राण' करने का कार्य क्षत्रिय का था। क्षत्रिय का धर्म है कि वह राजधर्म के अनुसार युद्ध करे, कायर होकर बाप-दादों का नाम न डुबावे। यदि वह ऐसा करता है तो पुण्य-गति से च्युत होता है[4] गृहस्थ-धर्मों का त्याग कर देने पर भी क्षत्रिय को ऋषि भाव से वेदान्त श्रवण आदि संन्यास धर्म का पालन करते हुए जीवन रक्षा के लिये ही भिक्षा का आश्रय लेने की व्यवस्था थी— सेवा कराने के लिये नहीं।[5]

क्षत्रिय वर्ग स्वभाव से ही कष्ट सहिष्णु व धीर वीर होता था। जब कर्ण ने (जो परशुराम जी के पास भार्गव बनकर शिक्षा प्राप्त करने गया था) एक भयंकर जन्तु के द्वारा जांघ में काटे जाने पर भी परशुराम जी को, जो उसकी गोद में सिर रखे सो रहे थे, नहीं जगाया, भले ही रक्त बहता गया, तब जागने पर परशुराम ने कहा— 'ओ मूर्ख; ऐसा भारी दुःख ब्राह्मण कदापि सहन नहीं कर सकता। तेरा धैर्य तो क्षत्रिय के समान है।'[6]

1. शान्ति पर्व-130।23-26
2. शान्ति पर्व-189।5
3. शान्ति पर्व-297।37
4. उद्योग पर्व-132-31, 34
5. शान्ति पर्व-63।22
6. शान्ति पर्व-325

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सारांश यह है कि यद्यपि महाभारत काल में क्षत्रिय वर्ग वीरता, धीरता, त्याग व धर्म पालन में सचाई आदि गुणों से युक्त होकर दस्यु-दमन व राष्ट्र रक्षण में कुशल तथा सरल स्वभाव व धर्म-परायण था, तथापि उस वर्ग में परस्पर ईर्ष्या व अभिमान के दोष होने के कारण देश विनाश को प्राप्त हुआ। इतना सब होने पर भी उनके गुण सराहनीय हैं।

वैश्य वर्ण—ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में ही वैश्य वर्ण की उत्पत्ति पुरुष की जंघा से बतलाई गई है।[1] जंघा पर शरीर का सम्पूर्ण भार होता है, उसी प्रकार वैश्य पर समाज के पालन-पोषण, आर्थिक समृद्धि आदि का सम्पूर्ण भार था। वर्णों की क्रमिक श्रेष्ठता में वैश्य का तृतीय स्थान (क्षत्रिय के पश्चात्) है। वारणावत में पहुंचकर महाराज युधिष्ठिर ब्राह्मणों व क्षत्रियों के घर जाकर मिलते के पश्चात् वैश्यों के घर भी उपस्थित हुए।[2] वैश्य का कर्म कृषि, पशुपालन और धर्मानुसार दान देना है।[3] एक अन्य स्थल पर कृषि गौरक्ष्य वाणिज्य वैश्यकर्म स्वभावजम् कहा गया है।[4] चारों वर्णों के एक-एक स्वाभाविक विशेष गुण के अनुसार वैश्य का विशेष गुण व्यापार कुशलता माना जाता था। वैश्य को भी ब्राह्मण के प्रथम तीन कर्मों—दान, यज्ञ व अध्ययन का अधिकार था। उसके लिए भी ये कर्तव्य थे किन्तु साथ ही उसका एक विशिष्ट धर्म था, पवित्र कर्मों द्वारा धन का संग्रह करना। महाभारत काल में पशुपालन का बड़ा महत्व था। वह कर्म वैश्य वर्ण का था। पशुओं का पालन अपने पुत्र की भांति करना परम कर्तव्य था। यदि वैश्य पशुपालन का त्याग करके अन्य कर्म करता था तो उसके लिए वह कर्म अधर्म माना जाता था।[5] वैश्य अपने पशुओं के साथ-साथ अन्य पशुओं का भी पालन करते थे। पशुपालन का उन्हें वेतन भी मिलता था, जो इस प्रकार था: यदि वैश्य किसी की छः दुधारू गायों का पालन करता था तो एक गाय का दूध वह लेता था तथा पांच गायों का दूध पशुओं के स्वामी को देता था।

दुधारू गायों के अतिरिक्त यदि वह किसी के सौ पशुओं का पालन करता था तो एक वर्ष के वेतन में वह एक गाय व एक बैल ले लेता था। साथ-ही-साथ यदि उन पशुओं में से दूध, घी व सींग बेचने से जो आय होती उसका उसे 1।7 भाग प्राप्त होता था। पशु विशेष के यदि बहुमूल्य खुर बेचे जाते थे तो उसका 1।16 भाग ही उसे मिलता था। यदि वह अन्य व्यक्ति की फसल की रक्षा करता था तो उसके लिए भी उसे एक वर्ष में 1।7 अंश ही प्राप्त होता था। वैश्य के लिए यह सोचना भी पाप था

1. ऋग्वेद-1090।12
2. आदि पर्व-145।6,7
3. कर्ण पर्व-32।47
4. भीष्म पर्व-42।44
5. शान्ति पर्व-60।21,22

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कि…मैं पशुओं का पालन नहीं करूंगा।[1]

अपने वर्ण धर्म का परिश्रम पूर्वक पालन करके कृत कृत्यं हुआ वैश्य अधिक अवस्था व्यतीत हो जाने पर राजा की आज्ञा लेकर क्षत्रियोंचित वानप्रस्थाश्रम को ग्रहण कर सकता था।[2] महाभारत काल में दिए हुए धन पर 'ब्याज' लेने की प्रथा थी। वैश्य का तो यह वर्ण धर्म था।[3] किन्तु ब्राह्मण के लिए अधर्म था। ब्याज लेने के लिए 'कुसीद' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है।[4] वैश्य का कर्तव्य था कि वह वेदाध्ययन से सम्पन्न होकर, व्यापार, पशुपालन और खेती का काम करके अन्न संग्रह करने में रुचि रखे और सदा पवित्र रहे।[5] जो वैश्य धर्म के अनुसार धनोपार्जन में तत्पर रहता था वह धर्माचरण के कारण लोक में सम्मानित होता था। प्राणों को कष्ट देकर भी यदि ध्यान से कमाई हुई थोड़ी-सी कौड़ियां भी दान में दी जायें तो महान् फल देने वाली होती हैं फिर ऐसी प्रचुर द्रव्य आदि दान की जाय तो बात ही क्या है।[6] अतिथि सत्कार सभी वर्णों का सामान्य व अनिवार्य कर्म होने पर भी वैश्य वर्ण के लिए उसके पालनार्थ अधिक बल दिया गया था। एक स्थान पर लिखा है कि 'वैश्य के अपने कर्तव्य कर्म का पालन करने से सब लोगों का जीवन निर्वाह होता है, वह कर्म है—कृषि, गौरक्षा एवं वाणिज्य। उसे अपने कर्म से घृणा नहीं करनी चाहिए। जो वैश्य अपना कर्म त्याग कर शूद्र का कर्म अपनाता है उसे शूद्र के समान समझना चाहिए।[7]

एक अन्य स्थल पर वैश्य के कर्तव्य कर्मों का वर्णन इस प्रकार मिलता है कि 'वैश्य, सत्यवादी, अहंकार शून्य, निर्द्वन्द शान्ति के साधनों का ज्ञाता, स्वाध्याय परायण व पवित्र होकर यज्ञों का यजन करे। वह जितेन्द्रिय होकर ब्राह्मणों का सत्कार करते हुए, सब वर्णों की उन्नति कर; गृहस्थ के व्रत का पालन करते हुए प्रतिदिन दो ही समय भोजन करे; यज्ञशेष अन्न का आहार करे! सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग दे; विधि पूर्वक अग्निहोत्र कर्म का सम्पादन करता रहे; अतिथि सत्कार से अवशिष्ट अन्न का स्वयं भोजन करे; त्रिविधि प्रकार की अग्नियों की मन्त्रोच्चारण पूर्वक परिचर्या करे। वह वैश्य पवित्र एवं महान् क्षत्रिय कुल में जन्म लेता है।'[8] वैश्यों के लिए ब्याज लेना,

1. शान्ति पर्व-60।23,26
2. शान्ति पर्व-63।15
3. शान्ति पर्व-62।9
4. शान्ति पर्व-79।14
5. शान्ति पर्व-189।6
6. शान्ति पर्व-293।16
7. अनु पर्व-135।9
8. अनु० पर्व-143।30-34

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कृषि, पशुपालन और व्यापार महान् कर्म माने जाते थे ।[1]

शूद्र वर्ण—प्राचीन भारत के साहित्य में, जिसमें ऋग्वेद सर्वप्रथम रचना है, तीन वर्णों के साथ ही शूद्र वर्ण की भी चर्चा आती है। पुरुष सूक्त में जहां चारों वर्ण एकत्रित मिलते हैं, शूद्र की उत्पत्ति पुरुष (ब्रह्म) के पद (चरणों) से मानी गई है। आगे चलकर भारतीय साहित्य में गंगा नदी की उत्पत्ति ब्रह्म के चरणों से मानी गई अतः जिस प्रकार गंगा भारतीय समाज की, अपने जल से अनेक प्रकार से सेवा करने वाली एवं सबको पवित्र करने वाली होती है वही स्थिति आर्यों के शूद्र वर्ण की थी।

महाभारत काल तक, यद्यपि शूद्र वर्ण की स्थिति वैसी न रही जैसी वैदिक काल में थी, फिर भी उस काल में भी शूद्र सम्माननीय था। वारणावत में पहुंचकर महाराज युधिष्ठिर जिस प्रकार ब्राह्मणादि तीन वर्णों के घर मिलने गये ठीक उसी प्रकार शूद्रों के घर भी मिलने गये।[2] शूद्र वर्ण का व्यक्ति योग्य होने पर भी राजकुमारों के साथ युद्ध नहीं कर सकता था किन्तु यदि वह मूर्धाभिषक्त राजा हो जाय तो युद्ध कर सकता था। कर्ण सूत वंश में पाला जाने के कारण शूद्र वर्ण का था और इसी कारण कृपाचार्य ने उसे अर्जुन के साथ युद्धकला-प्रदर्शन की आज्ञा नहीं दी। किन्तु जब दुर्योधन ने उसे अंग देश का राजा बना दिया, ब्राह्मणों द्वारा उसका अभिषेक करवा दिया तब वह अर्जुन के साथ युद्ध कर सका।[3] इसी प्रकार राजसूय यज्ञ में शूद्रों को वेदी के समीप पहुंचने की विधि नहीं थी।[4] वेदाध्ययन करने का तो शूद्रों को बिल्कुल निषेध था उन्हें वेद की ऋचाओं को सुनने का भी अधिकार न था।[5] शूद्रों का कर्तव्य ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की सेवा करना था।[6] चारों वर्णों के एक-एक स्वाभाविक विशेष गुण के अनुसार शूद्र का विशेष गुण 'सब वर्णों के अनुकूल चलने की वृत्ति' माना जाता था।[7] यद्यपि शूद्रों को वेदाध्ययन से व यज्ञ वेदी से दूर रखा जाता था फिर भी उनके साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं किया जाता था। धर्म के अतिरिक्त उन्हें राजनीति, दण्ड-नीति आदि में अच्छा स्थान प्राप्त था। दण्डनीति के अनुसार ब्राह्मण को वाणी द्वारा दण्डित करने का विधान था किन्तु शूद्र के दण्ड-विधान में निर्दण्डः शब्द का प्रयोग किया गया है।[8] यह कहा नहीं जा सकता कि शूद्र को 'निदण्ड' क्यों माना गया था।

---

1. शान्ति पर्व-62।9
2. आदि पर्व-42।66
3. आदि पर्व-153।36-38
4. सभा पर्व-36।9
5. सभा पर्व-45।15 न ए तां प्राप्तवान् मूढ़ शूद्रोवैदश्रुतीभिव।
6. उद्योग पर्व-132।30
7. सांप्तिक पर्व-3।19-20
8. शान्ति पर्व-9।15

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शूद्र को वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने का निषेध था किन्तु विशेष परिस्थितियों में शूद्र भी वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश प्राप्त कर सकता था। जो शूद्र तीनों वर्णों की सेवा करके कृतार्थ हो गया हो जिसने पुत्र उत्पन्न कर लिया हो, शौच और सदाचार की दृष्टि से जिसमें अन्य त्रैवर्णिकों की अपेक्षा बहुत कम अन्तर रह गया हो अथवा जो मनुप्रोक्त[1] दस धर्मों के पालन में तत्पर रहा हो, वह शूद्र यदि राजा की आज्ञा प्राप्त कर ले तो उसके लिये वानप्रस्थ का विधान था।[2]

उपर्युक्त प्रकरण को देखने से स्पष्ट है कि उस काल में वर्ण आश्रम धर्मों के पालन कराने का कर्तव्य राजा का था। कोई व्यक्ति यदि अपने वर्ण धर्म या आश्रम धर्म का पालन नहीं करता अथवा अन्य धर्मों का पालन करता है, जिसका उसे अधिकार नहीं है तो राजा को अधिकार रहता था कि वह उस पर शासन करे। तभी तो सब लोग अपने-अपने वर्ण व आश्रम धर्मों की मर्यादा का पालन करते थे। रामायण काल में मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने भी शूद्र तपस्वी शंबुक को दण्डित किया था, ऐसी कथा है।[3]

शूद्र के लिये तीनों वर्णों की सेवा करना ही शास्त्र विहित कर्म माना जाता था। यह व्यवस्था थी कि शूद्र धन का संग्रह न करे क्योंकि ऐसा करने से वह अपने से उच्च वर्ण वालों की सेवा त्यागकर स्वयं उनको अपने अधीन कर सकता था। शूद्रों का धर्म ही जब केवल सेवा करना था तो उनकी वृत्ति (जीविका) की व्यवस्था करना भी सेव्यों का धर्म था। वह जिन-जिन की सेवा करता था उन्हीं के द्वारा उसका भरण-पोषण किया जाता था। उसे भोजन, पुराने वस्त्र, छाता, पगड़ी, जूता पंखा व लेप आदि द्रव्य देने का भी विधान था। यह व्यवस्था थी कि वह किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव न करे।[4] शूद्र यज्ञ भी कर सकता था किन्तु वेद मन्त्रों से हीन। अतः उसके द्वारा मानसिक संकल्प से भावात्मक यज्ञ किये जाने की व्यवस्था थी। मानसिक यज्ञ श्रद्धा प्रधान होती थी। अतः परम पवित्र मानी जाती थी।[5]

एक अन्य स्थल[6] पर भी शूद्र के कर्तव्यों का वर्णन मिलता है जो इस प्रकार है कि "शूद्र के लिये तीनों वर्णों की सेवा से जीवन निर्वाह करना ही सबसे उत्तम है। शूद्र के लिये निर्दिष्ट, सेवावृत्ति का यदि वे प्रेम पूर्वक पालन करें तो वह सदा उन्हें धर्मिष्ठ बनाती है। यदि शूद्र के पास बाप दादों को दिया हुआ जीविका का कोई निश्चित साधन

1. धृतिःक्षमा दमस्तेयं, शौचभिन्द्रिय निग्रहः।
   धी ज्ञानं सत्यमक्रोधः दसयकं धर्म लक्षणम्—मनुस्मृति
2. शान्ति पर्व-63।12, 13
3. वाल्मिकी रामायण-7।76 वां सर्ग
4. शान्ति पर्व-60।30-34
5. शान्ति पर्व-60।39-45
6. शान्ति पर्व-293।1, 2, 8

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नहीं है तो वह दूसरों को किसी वृत्ति का अनुसंधान न करे। तीनों वर्णों की सेवा को ही जीविका के उपयोग में लावे। धर्म के विपरीत कर्म यदि लौकिक दृष्टि से कितना ही लाभकारी हो तो भी बुद्धिमान पुरुष को उसका सेवन नहीं करना चाहिये। जो कार्य धर्मानुकूल हो वह अल्प लाभदायक होने पर भी निशंक होकर कर लेने योग्य है, क्योंकि वह अन्त में अत्यंत सुख देने वाला होता है।''

शूद्रों को उपनयन आदि संस्कारों का अधिकार नहीं था।[1] न उन्हें वैदिक-अग्निहोत्र आदि कर्मों का ही अधिकार था।[2] किन्तु सामान्य धर्मों के पालन का निषेध भी नहीं था। कर्म जो आजकल के लोगों की दृष्टि में इतना निम्न होने पर भी प्राचीन आर्यों की दृष्टि में उच्च समझा जाता था, उसके कारण शूद्रों को सम्पूर्ण जगत के प्रधान रक्षक भगवान विष्णु के तुल्य बताया जाता था[3] क्योंकि विष्णु के पालन-कर्म के समान उनका भी सेवा द्वारा सबका पालन करना धर्म था। शूद्र यदि अपना उद्धार करना चाहता था तो सदाचार का पालन करते हुए आत्मा को उन्नत बनाने वाली समस्त क्रियाओं का अनुष्ठान कर सकता था। परन्तु वैदिक मन्त्रों का उच्चारण नहीं कर सकता था। इतर जातीय लोग भी सदाचार से ही सुख प्राप्त कर सकते थे। इसमें संदेह नहीं कि कर्म और जाति दोनों ही दोष कारक मानें जाते थे, किन्तु इसमें भी कुछ विशेषता थी—जो जाति और कर्म इन दोनों से श्रेष्ठ हो व पाप कर्म का सेवन नहीं करता हो एवं जाति से दूषित होकर भी जो पाप कर्म नहीं करता हो वही पुरुष कहलाने योग्य माना जाता था।[4] जाति से श्रेष्ठ पुरुष भी यदि निन्दित कर्म करता है तो वह कर्म उसे कलंकित कर देता है। जो कर्म हिंसा से रहित हैं वे सदा मनुष्य की रक्षा करते हैं। सभी वर्णों के लोग इस जीव जगत में अपने-अपने धर्मानुसार कर्म का भलीभांति अनुष्ठान करके, सदा सत्य बोलकर तथा भयानक पाप कर्मों का सर्वथा परित्याग करके स्वर्ग को जाते हैं।[5] (सुख भोगते हैं) चारों वर्णों के भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञ थे जिनमें शूद्रों का अधिकार 'सेवायज्ञ' पर था। ब्राह्मण का जप-यज्ञ, क्षत्रिय का उत्साह-यज्ञ, व वैश्य का हविष्य-यज्ञ था। अनुशासन पर्व में ही कहा गया है कि 'शूद्र का कर्तव्य है कि वह अपने मन को वश में रखकर तीनों वर्णों की व विशेषतः आश्रमवासियों की सेवा करे। विशेषतः संन्यास आश्रम वाले मुनि की सेवा करना उसका परम कर्तव्य है।[6] शूद्र को चाहिये कि वह नियम पूर्वक सेवा में तत्पर रहे,

---

1. शान्ति पर्व-296।27
2. शान्ति पर्व-296।27
3. शान्ति पर्व-296।28
4. शान्ति पर्व-296।29-33
5. शान्ति पर्व-296।34-39
6. अनु० पर्व-96 वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सदा यज्ञाशिष्ट अन्न भोजन करे, मन और इन्द्रियों को वश में रखे तथा कर्तव्याकर्तव्य को जाने। जो कार्य संन्यास-आश्रम के विरुद्ध न हो तथा जो धर्म के अनुकूल हो, शुभ की इच्छा रखने वाले शूद्र को व बिना विचारे ही करना चाहियें। आश्रम वासियों के स्वाध्याय में विघ्न न हो इसके लिये सदा सचेष्ट रहे। शूद्र को सदा इस प्रकार विचार करना चाहिये कि 'मैं तो शास्त्रों में धर्मतः तीनों वर्णों का सेवक बतलाया गया हूं—फिर जो संन्यास आश्रम में रहकर जो कुछ मिल जाय उसी से निर्वाह करने वाले वृद्ध संन्यासी हैं, उनकी सेवा के विषय में तो कहना ही क्या है ? उनकी कृपा व तपस्या से मैं परम गति प्राप्त कर लूंगा'। ऐसा निश्चय कर यदि वह संन्यासियों की सेवा में लग जाय तो परम गति प्राप्त कर लेता है।

शूद्र सेवा कार्य से जिस मनोवांच्छित गति को प्राप्त कर लेता है वैसी ही गति दान, तप व उपवास द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता। वह जैसे पुरुष का सेवन करता शीघ्र वैसा ही हो जाता है। जो राह चलने से थके मांदे कष्ट पा रहे हों तथा रोग से पीड़ित हों उन संन्यासियों की उस आपत्ति के समय यत्न और नियम के साथ विशेष सेवा करे। उनकी रूचि के अनुसार सारा कार्य करता रहे। रोगी हों तो उनके कपड़े धोवे, औषधि ले आवे, तथा चिकित्सा के लिये प्रयत्न करे। इस प्रकार शूद्रों को आलस्य रहित होकर संन्यासियों की सेवा के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये। उनका अपराध कभी न करे, अवहेलना भी न करे, कठोर बात का कभी उत्तर न दे और वे कुपित हों तो प्रसन्न करने की चेष्टा करे। सदा कल्याणकारी बात बोले, सदा कल्याणकारी कर्म करे।[1]

जीवों के क्रमिक विकास से भी उस काल के समाज की मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है। पशु-पक्षी की योनि में पड़े हुए सभी प्राणी यदि कभी मनुष्य योनि में जाते हैं तो प्रथम पुल्कस या चाण्डाल के रूप में जन्म लेते हैं। फिर वह पाप योनि प्राप्त जीव सुदीर्घ काल तक उसी योनि में चक्कर लगाता है। तदनन्तर एक हजार वर्ष बीतने पर वह चाण्डाल या पुल्कस शूद्र योनि में जन्म लेता है। उसमें भी अनेक जन्मों तक चक्कर लगाता रहता है। तत्पश्चात् तीन गुना समय बीतने पर वह वैश्य योनि में आता है और चिरकाल तक उसी में चक्कर काटता रहता है। इसके पश्चात् साठ गुना समय बीतने पर वह क्षत्रिय की योनि में जन्म लेता है फिर उससे भी साठ गुना समय बीतने पर वह पतित ब्राह्मण के घर में जन्म लेता है। दीर्घकाल तक ब्राह्मणधम रहकर जब उसकी अवस्था परिवर्तित होती है तब वह अस्त्र-शस्त्रों से जीविका चलाने वाले ब्राह्मण के घर जन्म लेता है। तदनन्तर तीन सौ वर्ष का समय व्यतीत होने पर वह गायत्री मन्त्र का जप करने वाले ब्राह्मण के घर में जन्म लेता है। उस जन्म को पाकर वह चिरकाल तक उसी योनि में जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता रहता है, फिर चार सौ वर्षों का समय व्यतीत होने पर वह वेदवेत्ता ब्राह्मण से कुल में जन्म लेता है। उसी योनि में चिरकाल

1. अनु० पर्व—96 वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तक उसका आवागमन होता रहता है। तब वह यदि हर्ष-शोक, राग-द्वेष, अतिमान व अतिवाद आदि दोषों को जीत लेता है तो उसकी सद्गति हो जाती है और वे दोष यदि उसे जीत लेते हैं तो उसका मानों ताल वृक्ष की चोटी पर चढ़कर गिर पड़ने की भांति प्रकरण हो जाता है।[1]

इस प्रकार उस काल की मान्यताओं के अनुसार ब्राह्मणत्व की प्राप्ति अति दुर्लभ मानी जाती थी। प्राप्त होने पर कर्तव्य कर्म भी अति कठिन थे। उनके पालन कर सकने पर मोक्ष तथा न कर सकने पर पुनः वही पतन—कीट-पतंगादि तिर्यंक योनियों में जन्म। उस काल में सभी की कामना रहती थी कि हमारे राष्ट्र में ब्रह्मतेज से सम्पन्न पवित्र ब्राह्मण एवं शत्रुओं को संताप देने वाले महारथी क्षत्रिय की उत्पत्ति हो।[2] इन सभी वर्णनों को पढ़कर विदित होता है कि महाभारत काल के शूद्र वर्णन एवं ब्राह्मण वर्ण में महान अन्तर था।

शूद्रों के लिए भगवन्नाम के उच्चारण का अधिकार था किन्तु उसके साथ भी प्रणव का उच्चारण नहीं किया जा सकता था। उनका यही परम धर्म था कि भगवान् की भक्ति करते हुए, व सदाचार का पालन करते हुए द्विजातियों की सेवा में संलग्न रहें।[3] उत्कृष्ट गुणों का आदर तो सर्वदा होता रहता है। उस काल में भी महात्मा विदुर, दासी पुत्र होते हुए भी महान् नीतिज्ञ व उपदेशक थे तथा राजाओं, ब्राह्मणों आदि द्वारा सम्मानित थे तथा कर्ण सारथी-पुत्र होते हुए भी समाज अत्यधिक सम्मानित था।

उपसंहार—उपर्युक्त प्रकार से महाभारत का आलोचनात्मक अध्ययन करने से उस काल की वर्ण-व्यवस्था की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। महाभारत काल तक वर्ण-व्यवस्था की स्थिति में वैदिक काल की अपेक्षा पर्याप्त अन्तर आ गया था, क्योंकि अनेकों सहस्त्राब्दियों में परिवर्तन होना अनिवार्य होता है। किन्तु परिवर्तन की दिशा वेद के आधार पर ही हुई होगी क्योंकि भारतीय जनता, जो सदैव से धर्म-प्राण रही है, उसका धार्मिक आधार या प्रमाण वेद ही है। ईसा से पूर्व छठवीं शताब्दी तक कोई उल्लेखनीय धर्मक्रान्ति भारत में नहीं हुई। बौद्ध व जैन धर्म के प्रादुर्भाव के पश्चात् भी अद्यपर्यन्त सनातन धर्म पर एक मात्र वेद का ही प्रभाव रहा है। कोई भी शास्त्र यदि वेद विरुद्ध होते हैं तो वे सनातन आर्य धर्म में प्रमाणित नहीं माने जाते। शास्त्रों के खरेपन की कसौटी वेद ही है। उपनिषद, सूत्र-ग्रन्थ, स्मृतियां, धर्म-शास्त्र, इतिहास-पुराण आदि सभी की रचना वेद को प्रमाण मानकर की जाती रही है।

1. अनु० पर्व-28।6-15
2. अनु०-34।3
3. आश्व०-92वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इसीलिए वेद के वर्णन में अथवा वेद-काल से चले आए नियमों में मनीषियों ने समय-समय पर ऐसे परिवर्तन किए या परिस्थिति वश करना पड़े जिनका मूल वेद में था।

ऋग्वेद में चारों वर्णों के एक स्थान पर नाम केवल पुरुष सूक्त में आते हैं। किन्तु पुरुष सूक्त में भी भले ही चारों वर्ण एक ही पुरुष के या समाज के चार अंग हैं तथापि चारों अंगों की स्थिति तो भिन्न-भिन्न है। ब्राह्मण पुरुष का शीर्ष है तो उससे अधः भुजाएं, उनसे भी अधः जंघा तथा सबसे निम्न स्थान पर चरण। अर्थात् ब्राह्मण उस काल के आर्य-समाज के शीर्ष स्थान पर थे। द्वितीय स्थान राजन्य (क्षत्रिय) वर्ग का था तथा उससे निम्न तृतीय स्थान वैश्य का था और सबसे निम्न स्थान शूद्र वर्ण का था। ऋग्वेद में बीज रूप में दिखाई देने वाला यही भेद धीरे-धीरे उत्तरवैदिक काल में एक पौधे के रूप में आया और महाभारत काल में उसने वृक्ष का रूप धारण कर लिया, किन्तु उस काल तक एकीकरण पूर्ण रूप से था। शूद्र केवल धर्मक्षेत्र से, वेदाध्ययन व यज्ञ आदि में अधिकृत न थे। इतना होने पर भी ब्राह्मणों ने राजनीति में तथा समाज के अन्य कार्यों में भाग लिया था। उनको समाज से भिन्न नहीं समझा जाता था। चाण्डाल पुल्कश आदि थोड़ी सी वर्ण संकर जातियों को ही पतित व अस्पृश्य समझा जाता था। उनका आचार-विचार व रहन-सहन भी बहुत ही निम्न कोटि का था। वे अनेक जातियां, जैसा कि मैं प्रथम कह चुका हूं कि "भेद वृद्धि में कारण परिस्थितियां थीं।" इस नियमानुसार परिस्थितियों के कारण समाज से पृथक व पतित गिनी जाने लगी।

ब्राह्मणों की स्थिति महाभारत काल में भी आचार एवं विचार दोनों ही दृष्टि से अत्युन्नत थी। वे नैतिकता प्रिय थे। उन्होंने समाज को नैतिक बनाए रखने के कारण प्रतिलोम विवाह को निषिद्ध घोषित किया एवं इसे रोकने के लिए कठोर नियम बनाये। सर्वप्रमुख नियम यह था कि प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को वर्ण संकर कहा जाता था तथा उसे समाज से भ्रष्ट समझा जाता था, किन्तु कठोर नियमों के होते हुए भी अनियमितता बढ़ती गई और समाज भी अनियमित संतानों के प्रति कठोर बना रहा तथा उन्हें समाज से पृथक करके पतित समझता गया। सुदीर्घ काल में इस प्रकार वर्ण संकरों की अनेक जातियां हो गईं और शनैः-शनैः वह भी एक बृहद् समाज हो गया। अनुलोम व प्रतिलोभ विवाह का वर्णन 'विवाह व्यवस्था' नामक अध्याय में किया जाएगा।

इस पतित समाज में शूद्र वर्ण न तब सम्मिलित था न आधुनिक काल में, शूद्र वर्ण के साथ महाभारत काल के पश्चात भी खान-पान व विवाह के अतिरिक्त अस्पृश्यता नहीं थी, किन्तु इस नये पंचम वर्ग को अस्पृर्श्य समझा गया, यद्यपि समाज की सेवा में हाथ तो इन्होंने भी बटाया।

महाभारत काल में ब्राह्मण व क्षत्रिय दोनों ही अधिक प्रभावशील थे जिनमें भी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ब्राह्मण अपने तपोबल व बुद्धिबल (ज्ञान-बल) के कारण शीर्ष स्थान पर ही थे। क्षत्रिय भी धीर वीर व न्यायपूर्ण युद्ध करने वाले, धार्मिक तथा ब्राह्मण भक्त थे। वैश्य भी न्यायपूर्ण कर्म करने वाले, धार्मिक तथा अपने-अपने कर्तव्यों का न्याय तथा सत्यता से पालन करने वाले थे। शूद्र भी अपने स्वधर्म को यज्ञ मानकर उसका पालन करते थे। चारों ही वर्ण धर्म से डरते थे कि कहीं अधर्म न हो जाए अतः कर्तव्यों का दृढ़ता से पालन करते रहते थे। देश, उस काल में, विद्या, शक्ति, आर्थिक स्थिति व समाज की शान्तिमय सुव्यवस्था--इन चारों ही बातों में पूर्ण समुन्नत था।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तृतीय अध्याय

आश्रम-व्यवस्था एवं शिक्षा

वैदिक काल में आश्रम व्यवस्था

अनुक्रमणिका—महाभारत कालीन आश्रम-व्यवस्था के चित्रण के पूर्व जानना आवश्यक है कि आश्रम-व्यवस्था क्या है ? उसका उद्देश्य क्या है ? महाभारत काल से पूर्व आश्रम व्यवस्था की स्थिति क्या थी ? आदि।

आश्रम व्यवस्था का उद्गम वेद-काल से ही हुआ जैसे कि वर्ण व्यवस्था का। वेदकाल के समाज ने मनुष्य की आन्तरिक व बाह्य दोनों स्थितियों का अध्ययन करके उसकी आत्मा, मन बुद्धि को समझ, मानव व्यक्तित्व का अध्ययन किया। इसी व्यक्तित्व के विकास के लिए आश्रम-व्यवस्था का विकास किया गया। आश्रम एवं वर्ण व्यवस्था द्वारा व्यक्ति तथा समष्टि का सुन्दर समन्वय स्थापित होता है। इसके अतिरिक्त वेदकालीन समाज में जीवन का विकास अध्ययनशीलता से प्रभावित था। जीवन का उद्देश्य न तो विशुद्ध भौतिकता से परिपूर्ण था और न विशुद्ध आध्यात्मिकता से ही। तत्कालीन समाज ने भौतिकता व आध्यात्मिकता के मध्य सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया। इस प्रकार वेदकालीन समाज ने सर्वतोन्मुखी प्रगति आरम्भ कर दी थी तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि की प्राप्ति को जीवन का ध्येय बनाया था।

आश्रम-व्यवस्था प्राचीन सामाजिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण आधार स्तम्भ थी। साधारणतया विद्वानों का मत है कि आश्रम व्यवस्था का विकास वैदिक युग में, विशेषतः ऋग्वेद काल में नहीं हुआ था। किन्तु ऋग्वेद, अथर्ववेद आदि के आलोचनात्मक अध्ययन से उक्त व्यवस्था के अस्तित्व का बोध होता है। जीवन के मर्म को भली-भांति समझकर ही आश्रम व्यवस्था का विकास किया गया था। प्राचीन भारत में इस जीवन को पवित्र यात्रा माना गया था। यात्रा में जिस प्रकार क्रम से अग्रसर होते हुए तथा विश्राम स्थलों पर ठहरते हुए अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच जाते हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण यात्रा कुछ भागों में बंट जाती है, उसी प्रकार ये आश्रम हैं। वे मनुष्य को

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उसके अन्तिम ध्येय, मोक्ष प्राप्ति, तक पहुंचाते हैं।

आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास। वैदिक साहित्य[1] से ज्ञात होता है कि मनुष्य की आयु साधारणतया 100 वर्ष की मानी गयी थी। उसके चार विभाग किये गए थे। प्रत्येक विभाग का नाम आश्रम रखा गया था। जीवन के 20-25 वर्ष के चार विभागों में से प्रथम विभाग ब्रह्मचर्य आश्रम कहलाता था किन्तु जन्म से 12 वर्ष तक बालक माता-पिता के घर ही रहता था। इसके पश्चात् वह गुरु के घर भी कम से कम 12 वर्ष रहता था।

यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् ही प्रत्येक बालक को गुरुकुल में जाकर ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करना पड़ता था। वहां गुरु के चरणों में बैठकर वेदाध्ययन द्वारा ज्ञानोपार्जन करना पड़ता था। 'ब्रह्मचर्य' शब्द ही इस आश्रम के महत्व का द्योतक है। ब्रह्मचर्य में ऐसी जीवन चर्या का समावेश हो जाता है जो ब्रह्म की प्राप्ति करा सके। 'सत्यं वै ब्रह्म'।[2] 'सत्य की खोज' ब्रह्मचर्य जीवन का मूल मंत्र था। ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर ब्रह्मचारी अपनी विभिन्न शक्तियों के सम्यक् विकास का पाठ सीखता था। इस आश्रम में प्रत्येक विद्यार्थी को अपना जीवन अत्यन्त सरल बनाना पड़ता था तथा विचार बहुत ही उदात्त रखने पड़ते थे। उसका सबसे बड़ा कर्तव्य अग्निचर्या था। यज्ञ की पवित्र अग्नि के लिए उसे प्रातःकाल व सायंकाल समिधा लाना पड़ती थी। दैनिक चर्या के पश्चात् उसे भैक्ष्य चर्या के लिए जाना पड़ता था। शत पथादि ब्राह्मण[3] में भैक्ष्यचर्या को अनिवार्य बताया गया है। उसका सबसे बड़ा कर्तव्य वेदाध्ययन था। इसके अतिरिक्त उसे अपना दैनिक जीवन बहुत ही पवित्र बनाना पड़ता था।

यद्यपि वैदिक साहित्य में विकसित रूप में इस व्यवस्था का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है फिर भी चारों आश्रमों के सदस्यों का उल्लेख यत्र-तत्र प्राप्त होता है, जिससे वैदिक युग में इस व्यवस्था के अस्तित्व का स्पष्ट ज्ञान होता है। 'ब्रह्मचारी' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद[4] तथा अथर्ववेद[5] में आता है। अथर्ववेद[6] में ब्रह्मचारी व ब्रह्मचर्याश्रम का विशद वर्णन आता है। सूर्य को ब्रह्मचारी की उपमा देकर ब्रह्मचारी के कर्तव्यों व ब्रह्मचर्य के महत्व पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। आचार्य उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी को अन्तेवासी बनाता था।[7] ब्रह्मचारी के समिधाहरण, मेखला, तप आदि का

---

1. यजुर्वेद-36।24
2. बृहदारण्यकोपनिषद्-2।3।6, 5।4।1, 5।5।1
3. शत० ब्रा०-11।3।3, 5, 7
4. ऋग्वेद-10।109।5
5. अथर्ववेद-5।17।5
6. अथर्ववेद-11।5।126
7. अथर्ववेद-11।5।3

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

स्पष्ट उल्लेख है[1] तथा उसकी भेक्ष्य चर्या का भी वर्णन किया गया है।[2]

ऋग्वेद में गृहस्थाश्रम का उल्लेख अप्रत्यक्ष रूप से आया है। गृहपति, गृह पत्नी, गार्हपत्याग्नि आदि का उल्लेख बार-बार आता है। ऋग्वेद में सोम व सूर्य के विवाह का सुन्दर वर्णन आता है, जिसमें गृहस्थाश्रम के जीवन व कर्तव्यों पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है कि "हे गृह पत्नी, अपने घर में आओ। वहां प्रजादि द्वारा समृद्ध होकर अपने गार्हपत्य के प्रति जागरूक रहो।"[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्नातक को विवाह संस्कार के पश्चात् अपनी नवविवाहिता पत्नी के साथ गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना पड़ता था तथा उस आश्रम के कर्तव्यों का निर्वाह करना पड़ता था। प्रत्येक गृहस्थ को अपनी गृहपत्नी के साथ गार्हपत्याग्नि को प्रज्वलित कर प्रतिदिन उसमें तीन बार हविष् की आहुतियां प्रदान करनी पड़ती थी।[4]

पूर्व आश्रम में तीन ऋणों को चुकाने की जो तैयारियां की गई थीं उन सबको कार्य रूप में प्रयुक्त करने का अवसर इसी आश्रम में रहता था। गृहस्थों को सच्चा नागरिक बनना पड़ता था। उन्हें अपना जीवन इस प्रकार का बनाना पड़ता था जिससे कि मानव जीवन के उदात्त ध्येय तक पहुंच सके। पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए उत्तम संतान उत्पन्न करनी पड़ती थी। साथ ही धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष-वर्ग चतुष्टय की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होना पड़ता था। उस काल में गृहस्थ धार्मिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक व राजनैतिक जीवन में भी भाग लेता था। गृहस्थ के भी कर्तव्य अत्युच्च थे।

गृहस्थाश्रम के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति को वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना पड़ता था। इसकी आयु 50 से 75 वर्ष तक की होती थी। इस आश्रम में प्रत्येक को तप आदि की साधना द्वारा संयम प्राप्त करना पड़ता था। इस प्रकार आत्म विकास करके जीवन के चतुर्थ भाग में संन्यासाश्रम में प्रवेश किया जाता था। इस आश्रम में सांसारिक बंधनों का स्वरूप से तथा मन से भी त्याग करना पड़ता था। ये संन्यासी आत्म बल से युक्त होकर देश-देशान्तरों में घूम-घूम कर सत्य सिद्धान्तों का प्रचार करते थे तथा समाज-सुधार करते थे। समाज सेवा ही इनका कार्य था।

वैदिक साहित्य में वानप्रस्थाश्रम का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है किन्तु उसमें 'यति', 'मुनि' आदि शब्दों का उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है। कुछ विद्वानों का मत है कि यति के उल्लेखों से वानप्रस्थाश्रम का तथा मुनि के उल्लेखों से संन्यासाश्रम का तात्पर्य

1. अथर्व वेद-11।5।4
2. अथर्व वेद-11।5।9
3. ऋग्वेद-10।85।26, 27
4. एस० सी० दास 'ऋग्वैदिक कल्चर', पृ० 128

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लिया जा सकता है। ऋग्वेद[1] में यतियों का उल्लेख आता है। अथर्व वेद[2] में कहा गया है कि इन्द्र ने यतियों के समान वृत्र का हनन किया। वैदिक साहित्य में मुनि का उल्लेख भी अनेक स्थलों पर आता है। ऋग्वेद[3] में कुछ मन्त्रों के दृष्टा भी "मुनयो वातरशनाः" है। उसी प्रकरण में यह भी कहा गया है कि "...मुनि अच्छे कार्यों के लिये देवताओं का मित्र है।" इन्द्र को मुनियों का सखा भी कहा गया है।[4]

इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि मुनियों के जीवन का उद्देश्य समाज की सेवा तथा उसका उपकार करना था। वे समस्त देश में विचरण करते थे। ये मुनि संन्यासी ही थे।

संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में आश्रम-व्यवस्था थी। यज्ञ, दान, तप तथा मोक्षचर्या वैदिक काल में पूर्णतया प्रचलित थे। प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों मार्गों के बीच सामंजस्य करने के लिए आश्रम-व्यवस्था की गई थी। मनु का काल वैदिक काल व महाभारत काल का मध्यवर्ती काल है क्योंकि मनु का उल्लेख महाभारत में अनेक बार आया है। मनुस्मृति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि महाभारत काल में आश्रम व्यवस्था थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ मनु के सिद्धान्तों पर ही आधारित थी। वर्णाश्रम व्यवस्था के लिये तत्कालीन समाज में 'मनु' प्रमाण थे। मनुकालीन समाज में वेदाकालीन समाज की आश्रम व्यवस्था, विकास होते-होते महाभारत काल जैसी स्थिति में ही आ पहुंची थी। मनु की व्यवस्था में 'सामाजिक मूल्य' ही सर्वोच्च माने गए। चारों आश्रम चार प्रकार के यज्ञ के समान हैं।

प्रथमाश्रम एक प्रकार का ज्ञान यज्ञ है। गृहस्थ का जीवन ज्ञान तथा कर्तव्य का एक अनवरत निर्झर है जहां स्वार्थरहित सेवा, अनुराग, स्नेह तथा समाज के प्रति कर्तव्य का मधु प्रवाहित होता है। प्रथम आश्रम में उपार्जित ज्ञान का यह प्रयोगात्मक स्थल है। इस प्रकार यह एक 'कर्म यज्ञ' है। तृतीय आश्रम जीवन के अन्तिम यज्ञ की तैयारी है तथा चतुर्थ आश्रम में सम्पूर्ण अनुरक्तियों से विरक्त होकर आत्मा निश्चित उद्देश्य से प्रेरित होकर पूर्णता की ओर बढ़ती है। इन दोनों आश्रमों को हम 'भक्ति यज्ञ' कह सकते हैं।[5]

महाभारत काल तक आश्रम-व्यवस्था विकसित हो गई। आश्रम व्यवस्था को

---

1. ऋग्वेद-8।3।9,8।6।18
2. अथर्ववेद-10।72।7
3. ऋग्वेद-10।136।1-7
4. ऋग्वेद-8।17।14 इन्द्रः मुनीनां सखा।
5. प्रभु, "हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन", पृ० 92

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उस काल तक ईश्वरकृत माना जाने लगा।[1] वैदिक काल की भांति आश्रम चार ही—ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास थे। आश्रम-व्यवस्था का उद्देश्य मानव की व्यक्ति गत उन्नति करना था। मानव जीवन के चार फलों की कल्पना की गई थी—धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष। इनमें से तीन को 'त्रिवर्ग' व मोक्ष सहित चारों को 'चतुर्वर्ग' कहा जाता था। त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म व काम) दैहिक, लौकिक या सामाजिक कहा जाता था। धर्म का स्थान प्रथम था।[2] शान्ति पर्व में धर्म क्या है? इस सम्बन्ध में, एक वाक्य में, साररूप से कहा गया है कि 'इहलोक' व परलोक के अनुकूल आचरण करना ही धर्म है।[3] 'त्रिवर्ग का एक साथ उपभोग किया जाना चाहिये।' 'यह तीनों अन्योन्याश्रित हैं। तीनों में से एक का भी पालन न करना अपूर्णता मानी जाती थी। कहा गया है कि 'जिसकी भार्या धर्मानुकूल हो, वह गृहस्थ धर्म, अर्थ व काम का एक साथ उपभोग कर सकता है।[4] धर्म का उद्देश्य—आत्म तुष्टि, चितशुद्धि, लोकस्थिति तथा मोक्ष प्राप्ति था। महाभारत में धर्म की अनेक शाखाएं पाई जाती हैं तथा समाज धर्म, वर्णाश्रम धर्म, राज धर्म, कुल धर्म आदि। जीवन के सभी कार्यों में धर्म (कर्तव्य कर्म) की प्रधानता रहती थी। धर्म से अर्थ लाभ होता है और अर्थ, कामनाओं की पूर्ति करने में सहायक होता है।[5] जिसके द्वारा व्यष्टि एवं समष्टि रूप से लोकस्थितिविघृत हो अर्थात् जिसको केन्द्र मान-कर प्रत्येक का जीवन चलता हो अथवा जो वस्तु, अर्थ-काम आदि की प्राप्ति कराये उसे धर्म कहते हैं।[6] व्यवहार में शरीर, वाणी की अनिन्द्य क्रियाओं को तथा मन की अनिन्द्य भावनाओं को धर्म कहा गया है।

धर्म जिस प्रकार अर्थ प्राप्ति व काम पूर्ति में सहायक होता है उसी प्रकार वह मोक्ष प्राप्ति में भी सहायक होता है। "जो लोक व परलोक दोनों में अपना कल्याण चाहता हो उसे धर्माचरण में मन लगाना चाहिये।"[7] धार्मिक कृत्यों का प्रधान लक्ष्य चितशुद्धि है।[8] धर्माचरण से युक्त पुरुष अर्थ व काम का उपभोग करते हुए भी बहि-र्विषयों पर पूर्ण संयम प्राप्त कर लेता है। संयम से चित्तशुद्धि होती है तथा वैराग्य का

---

1. शान्ति पर्व-191।8, 63।13, आदि० पर्व 109।20
2. शान्ति पर्व-67 वां अध्याय
3. शान्ति पर्व-142।19

   यदा धर्मश्चभार्या च परस्पर वंशानुर्गा।
4. वन पर्व-312।102

   तदा धर्मार्थ कामना त्रयाणामपि संगमः।।
5. शान्ति पर्व-270।24-27
6. शान्ति पर्व-90।17
7. शान्ति पर्व-258।4-6
8. ब्राह्मण-व्याध संवाद-वन 209।47

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बीजारोपण होता है। कालान्तर में वह व्यक्ति विषयों से विमुख होकर एवं वैराग्य सम्पन्न हो मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर होता है। कौन सा कर्म धर्म है तथा कौनसा कर्म अधर्म है इसके लिए वेद ही प्रमाण है।[1]

उपर्युक्त चतुर्वर्ग की प्राप्ति के लिये ही आश्रम-व्यवस्था की गई थी। ब्रह्मचर्य आश्रम में तपस्या, गुरुसेवा व पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ-साथ वेदाध्ययन किया जाता था। गृहस्थाश्रम में विवाह करके, अतिथि सेवा एवं पर-हित हानि किये बिना अपने वर्ण-धर्म का पालन करते हुए, सांसारिक सुख भोगे जाते थे। यही वास्तविक प्रधान आश्रम था जिसकी योग्यता प्राप्त करने की पूर्व तैयारी प्रथम आश्रम में की जाती थी तथा इसमें त्रिवर्ग का सेवन करते हुए मोक्ष प्राप्ति के लिये सुख-सम्पति से अनासक्त भी रहना पड़ता था। पश्चात् तृतीय आश्रम में चतुर्थाश्रम के लिए योग्यता सम्पादन की जाती थी। चतुर्थाश्रम में कर्मों का स्वरूप से एवं मन से भी त्याग करके केवल ब्रह्म चिन्तन में स्थिति रहती थी। इस प्रकार चारों आश्रमों का यथोचित पालन करने से मनुष्य, मानव जीवन के चारों फलों को प्राप्त कर लेता था। कितना उच्च विचार था वर्णाश्रम धर्म विभाजन का। आर्यों की यह एक अत्यन्त महत्वशाली महान उपलब्धि थी। त्रिवर्ग के सेवन से मानव धर्म व अर्थ दोनों से युक्त होकर, कामनाओं की पूर्ति करके सुख-सुविधामय जीवन व्यतीत करता था। इन तीनों का सामंजस्य करना आवश्यक था। 'यदि कोई व्यवस्था न रखी जाय तो जीवन अस्त-व्यस्त हो जाय।' यही सोचकर आर्यों ने जीवन को सुव्यवस्थित रखने के लिये तथा चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिये, जिनमें चतुर्थ (मोक्ष) को परम पुरुषार्थ या मानव जीवन का परम फल अथवा चरम उद्देश्य माना जाता था तथा चारों में सामंजस्य बनाये रखने की गहन चिन्तन व मनन के पश्चात्, वर्ण व आश्रम व्यवस्था की, जो अत्यन्त उपयोगी होने के कारण ही अनेकों सहस्त्राब्दियों तक चलती रही। यदि उपयोगी न होती तो छिन्न-भिन्न हो जाती।

ब्रह्मचर्याश्रम--आश्रम-व्यवस्था के नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार हैं और इन आधारों को ठीक से समझने के लिये पुरुषार्थ की धारणा को समझना आवश्यक है।[2] चरम लक्ष्य मोक्ष की ओर बढ़ने के लिये विभिन्न आश्रम सोपान की भांति हैं। प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य में पवित्र जीवन तथा आचरण के द्वारा लोग अपनी बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक तथा नैतिक शक्तियों का विकास करते थे। पुरुषार्थों की दृष्टि से इस काल में धर्म का विशेष महत्व था। प्रथम आश्रम को धर्म से सम्बद्ध कर देना उस काल के समाज का आध्यात्मिकता की ओर विशेष उन्मुख होना सिद्ध करता है। इस आश्रम का उद्देश्य नैतिक, मानसिक तथा शारीरिक क्षमताओं की वृद्धि थी जिससे भावी जीवन, धर्म के कृत्यों के समुचित संपादन तथा आनन्द की प्राप्ति के योग्य बन सके। यह आश्रम चारों

---

1. वन-205।41 'श्रुति प्रमाणो धर्मः स्यात्'
2. प्रभु, 'हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन' पृ० 79

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आश्रमों की नींव है क्योंकि जीवन-भवन का निर्माण इसी पर आधारित होता है। ब्रह्मचर्याश्रम को वर्तमान में विद्यार्थी जीवन कहते हैं।

यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् बालक को ब्रह्मचारी बनकर गुरु के घर निवास करना पड़ता था। कुछ राजा-महाराजा नगर के समीप ही आश्रम बनवाकर आचार्य को अपने यहां रख लेते थे। यथा—भीष्म ने कौरव-पाण्डवों के शिक्षण के लिए कृपाचार्य एवं द्रोणाचार्य को अपने ही यहां रखा था एवं उनके रहने का व सुख-सुविधाओं का समुचित प्रबन्ध किया था।[1] किन्तु जन-समुदाय में गुरु-गृहवास की प्रथा ही प्रचलित थी।

बालकबाल्य काल से ही इस आश्रम में प्रवेश करता था। वेदकाल की भांति बारह वर्ष से कम उम्र बालों के लिए निषेध न था।[2] ब्रह्मचर्य की बड़ी महत्ता मानी जाती थी कि मनुष्य, ब्रह्मचर्य की सहायता से अमरत्व प्राप्त कर सकता है। देवताओं ने भी ब्रह्मचर्य की शक्ति से देवत्व प्राप्त किया है ऋषियों की ब्रह्मलोक प्राप्ति ब्रह्मचर्य के ही अधीन है।[3] ब्रह्मचर्य आश्रम के चार चरण माने जाते थे। प्रथम—गुरु शुश्रुषा, वेदाध्ययन, अभिमान एवं क्रोध को जीतना। द्वितीय—आचार्य के प्रिय कर्मों का अनुष्ठान। तृतीय—आचार्य के अनुग्रह को स्मरण रखते हुए सदा उनके प्रति श्रद्धा रखना एवं चतुर्थ—अभिमान त्याग कर विनीत भाव से गुरु को भक्ति-पूर्वक दक्षिणा देना।[4]

आमरण ब्रह्मचर्य का महाभारत में अनेक प्रकार से गुणगान किया गया है। जो मृत्यु पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करता है। उसके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं है। वे महापुरुष मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, ब्रह्मचर्य के तेज से उनकी पापराशि भस्म हो जाती है। ऋषियों में जो अलौकिक क्षमता पाई जाती है, वह भी ब्रह्मचर्यं का ही फल है। मनुष्य ब्रह्मचर्य से दीर्घआयु का भोग करता है।[5] यह भी कहा गया है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारियों पर पितृ-ऋण नहीं रहता। अतएव गृहस्थ-धर्म के अनुसार विवाहादि न करने पर भी वे पाप के भागी नहीं होते।[6] जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं करते थे उन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते थे। भीष्म उसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

ब्रह्मचारी के कर्तव्याकर्तव्यों के विषय में महाभारत में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। 'ब्रह्मचारी का कर्तव्य था कि वह अकेला ही वेद मंत्रों का चिन्तन व अभीष्ट मन्त्रों का जप करता हुआ सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न करे। एक मात्र आचार्य की परिचर्या में

1. आदि पर्व-132वां अध्याय
2. यजुर्वेद-26।24
3. उद्योग पर्व-(सनत्सुजात पर्व) 44।20
4. उद्योग पर्व-44।215
5. अनु०पर्व-75।35-40
6. अनु० पर्व-18वां व 20वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ही संलग्न रहे, किसी भी परिस्थिति में सेवा को तत्पर रहे। मन व इन्द्रियों को वश में रखते हुए व्रत एवं दीक्षा के पालन में लगा रहे। वेदों का स्वाध्याय करते हुए सदा कर्तव्य कर्मों के पालन पूर्वक गुरु गृह में निवास करे। निरन्तर गुरु की सेवा में तत्पर रहकर उन्हें प्रणाम करे। जीवन निर्वाह के उद्देश्य के किए जाने वाली यजन-याजन अध्ययन-अध्यापन, तथा दान-प्रतिग्रह, इन छः कर्मों से वह अलग रहे और किसी असत्य कर्म में प्रवृत्त न हो। उसका कर्तव्य था कि वह अधिकार प्रदर्शन करते हुए कोई कर्म न करे और द्वेष करने वालों का संग न करे।[1] एक स्थान पर ब्रह्मचर्य की महिमा का गान इस प्रकार किया गया है उसमें ब्रह्मचारी के अनिवार्य कर्तव्य भी ध्वनित होते हैं—"जो तपस्या करते, कुमारावस्था से ही ब्रह्मचर्य के पालन में तत्पर रहते और विद्या और वेदों के अध्ययन सम्बन्धी व्रत को पूर्ण करके स्नातक हो चुके हैं वे ब्रह्मचारी संसार से तर जाते हैं।'

शान्ति पर्व में ही एक अन्य स्थल पर वर्णन मिलता है जिसके अनुसार ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक गुरुकुल वास को ही प्रथम आश्रम कहते थे। उसमें रहने वालों को, बाह्याभ्यन्तर शुद्धि, वैदिक संस्कार तथा व्रत नियमों का पालन करते हुए मन को वश में रखना, प्रातः-सायं सन्ध्या वन्दन, अग्निहोत्र, तन्द्रा व आलस्य त्याग कर प्रतिदिन गुरु को प्रणाम करना, वेदों के श्रवण व अभ्यास से आत्म शुद्धि, त्रिकाल-स्नान और ब्रह्मचर्य पालन कर्म आवश्यक थे। ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षा मांग कर लाते थे व जो कुछ प्राप्त होता वह गुरु को अर्पण कर देते थे। अपनी आत्मा भी गुरु के चरणों में न्यौछावर कर देते थे। गुरुजी जो कहें, जिसके लिए संकेत करें, उसके विपरीत आचरण नहीं करते थे। गुरु के कृपा प्रसाद से मिले स्वाध्याय-परायण रहते थे।'[2] वे किसी के दोषों पर दृष्टि नहीं डालते थे। इस प्रकार धर्म व अर्थ के ज्ञान में कुशल हो जाते थे। ब्रह्मचारी के लिए विधान था कि गुरु के सोने के पश्चात् नीचे आसन पर सोवें। उनके जागने से पूर्व ही जग जावें। गुरु के घर में एक शिष्य या दास के करने योग्य जो कुछ भी कार्य हो, उसे वह स्वयं पूरा करे। गुरु जी जो भी आज्ञा दें उसके लिए सदा यही उत्तर दें कि "भगवन् ! इसे अभी पूरा किया," और वे सब कार्य करके उनके पास आकर खड़ा हो जावे, 'मेरे लिए क्या आज्ञा है' यह पूछते हुए, एक आज्ञाकारी सेवक की भांति गुरु का सम्पूर्ण कार्य करने के लिए तैयार और सभी कार्यों के सम्पादन में कुशल हो। अपनी उन्नति चाहने वाले शिष्य को गुरु की सेवा टहल का सम्पूर्ण कार्य समाप्त करके, उनके समीप बैठकर अध्ययन करना चाहिए। वह सबके प्रति सदा उदार रहे और किसी को कोई कलंक न लगावे। गुरु के बुलाने पर तुरन्त उनकी सेवा में उपस्थित हो जाए। बाहर-भीतर से पवित्र रहे, कुशल बने, गुणवान बने। भीतर से

1. शान्ति पर्व—61।18-21
2. शान्ति पर्व—191।8

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सद्भावना रखकर बीच-बीच में ऐसी बात बोले, जो गुरु को प्रिय लगने वाली हों। शान्त भाव से भक्ति भरी दृष्टि से गुरु की ओर देखे और इन्द्रियों को वश में रखे। आचार्य जब तक जलपान न कर लें तब तक स्वयं भी न करे। 'उनके बैठने से पहले स्वयं भी न बैठे और उनके सोने से पहले स्वयं भी न सोवे। दोनों हाथ फैलाकर अपने दाहिने हाथ से गुरु का बांया चरण तथा बांए हाथ से गुरु का दाहिना चरण धीरे-धीरे स्पर्श करके प्रणाम करे। इस प्रकार अभिवादन के पश्चात् हाथ जोड़कर गुरु से कहे, 'भगवन् अब आप मुझे पढ़ावें, मैंने अमुक कार्य पूर्ण कर लिया है और यह अमुक कार्य अभी करूंगा। इस प्रकार सब बातें विधिवत् निवेदन करके, गुरु की आज्ञा लेकर फिर अन्य कार्य करे और उसे पूर्ण करके उसका सम्पूर्ण समाचार गुरु जी को निवेदन करे।[1]

इस प्रसंग में महाभारत कालीन समाज में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध कैसे थे, इस विषय पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। शिष्यों में अपने गुरुओं के प्रति कितनी श्रद्धा, कितना आदर-प्रेम व सद्भावना थी यह देखने योग्य है। आज के गुरु शिष्य के सम्न्रन्ध को देखते हुए एवं तत्कालीन सम्बन्धों को देखते हुए आकाश-पाताल का अन्तर प्रतीत होता है। तभी तो प्राचीन आर्य महान् विद्वान बनते थे। गुरु अज्ञान रूपी तम या नरक में से निकाल कर शिष्य को नाना प्रकार का ज्ञान प्रदान करके ज्ञान रूपी प्रकाश या स्वर्ग में लाते हैं उनके प्रति कृतज्ञ न होने वालों को धिक्।

इसी अध्याय में ब्रह्मचारी के अन्य धर्मों के विषय में भी वर्णन मिलता है। 'जिन-जिन गंधों और रसों का ब्रह्मचारी को सेवन नहीं करना चाहिए, उनका वह ब्रह्मचर्य काल में त्याग करे। समावर्तन संस्कार के पश्चात् ही वह उनका सेवन कर सकता है। शास्त्रों में ब्रह्मचर्य के लिए जो कोई भी नियम विस्तारपूर्वक बताए गए हैं, उन सबका वह पालन करे और गुरु के समीप रहे। इस प्रकार शिष्य यथाशक्ति सेवा करके गुरु को प्रसन्न करे और उन्हें उपहार देकर उनकी आज्ञा से अन्य आश्रमों में प्रवेश करे। जब वेदाध्ययन का व्रत और उपवास समाप्त हो जाए तब आयु के चतुर्थ भाग के समाप्त हो जाने पर, गुरु को दक्षिणा देकर, विधिपूर्वक समावर्तन संस्कार सम्पन्न करे ?[2] एक स्थान पर कहा है कि गुरु की सेवा में तत्पर रहने वाला, ब्रह्मचर्य परायण, दृढ़ निश्चय वाला तथा योग युक्त ब्रह्मचारी ही उत्तम ब्राह्मण हो सकता है।

ऐसी मान्यता थी कि 'अनेक जन्मों से कर्म करते-करते जब सम्पूर्ण इन्द्रियां पवित्र हो जाती हैं तब शुद्ध अन्तःकरण वाला मनुष्य प्रथम आश्रम में ही मोक्ष रूप ज्ञान प्राप्त कर लेता है।' इससे यह ध्वनित होता है कि 'विना ज्ञान के मोक्ष नहीं हो

1. शान्ति पर्व-242।16-24
2. शान्ति पर्व-242।25-29

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सकता'[1] तथा 'ज्ञान के बिना' अन्तकरण की शुद्धि' (केवल अध्ययन से) नहीं हो सकती तथा अन्तःकरण की शुद्धि का उपाय भी वहीं वर्णित है। विद्वान लोक मर्यादा की व कर्म मर्यादा की परम्परा की रक्षा हेतु चारों आश्रमों सहित वर्ण-धर्मों का पालन करे। इस प्रकार क्रमशःनाना प्रकार के कर्मों का अनुष्ठान करते हुए, शुभाशुभ कर्मों की आसक्ति का परित्यागकरने से अन्तः करण की शुद्धि हो जाती है।[2] इस प्रसंग से यह ज्ञान होता है कि कर्तव्यकर्मों का त्याग न करके उनका पालन करते हुए उनमें आसक्ति का न होना ही "अन्तःकरण की शुद्धि" है तथा मोक्ष के लिए यह अत्यावश्यक है।

ऐसा विधान था कि 'यदि ब्रह्मचर्याश्रम में ही तत्वज्ञान का साक्षात्कार हो जाय तो "जीवन्मुक्त" विद्वान के लिये गृहस्थ आदि तीन आश्रमों में प्रवेश करने की आवश्यकता ही नहीं रहती।[3] ब्रह्मचारियों के लिये अन्य आवश्यक नियम भी थे, जिनका उन्हें पालन करना पड़ता था। वेद का अध्ययन करके उसका अभ्यास अवश्य करते रहना चाहिये नहीं तो दोष होता है।[4] विद्वान पुरुष ब्रह्मचर्याश्रम में (विवाह से पूर्व) कभी मैथुन न करे, अन्यथा वह ब्रह्मचर्य व्रत को भंग करने का अपराधी माना जाता है। ऐसी स्थिति में उसे प्रायश्चित करना चाहिये। वह पर-स्त्री की ओर न तो देखे और न एकांत में एक आसन पर बैठे ही। इन्द्रियों को सदा अपने वश में रखे। स्वप्न में भी शुद्ध मन वाला होता रहे। गुरु के साथ कभी हठ न करे। यदि गुरु अप्रसन्न हों तो उन्हें हर प्रकार का मान देकर, प्रसन्न करने की चेष्टा करे। गुरु यदि प्रतिकूल व्यवहार करते हों तो भी उनके प्रति अच्छा व्यवहार करे। क्योंकि गुरु निन्दा मनुष्य की आयु को दग्ध कर देती है।[5]

एक स्थान पर लिखा है कि 'वेदोक्त व्रत का पालन करना, हवन और गुरु सेवा करना-ब्रह्मचर्य आश्रम का धर्म है। ब्रह्मचारी के लिये भैक्ष्य-चर्या परम-धर्म है। प्रतिदिन वेद का स्वाध्याय करना व आश्रम के नियमों का पालन करना भी उसका प्रधान धर्म है।[6] ब्रह्मचारी गुरु की आज्ञा लेकर भोजन करे। भोजन के समय अन्न की निन्दा न करे। भिक्षा के अन्न को पवित्र अन्न मानकर ग्रहण करे। एक स्थान पर रहे। एक आसन से बैठे और नियत समय पर भ्रमण करे। मूंज की मेखला, जटा, यज्ञोपवीत धारण करे, तथा प्रतिदिन स्नान करे। वेद के स्वाध्याय में लगा रहे और लोभहीन होकर नियमपूर्वक व्रत का पालन करे।[7]

---

1. 'कृते ज्ञानान्य मुक्ति :'
2. शान्ति पर्व-326।24-26
3. शान्ति पर्व-326।27
4. शान्ति पर्व-328।20
5. अनु० पर्व-104।47, 48, 80, 81
6. अनु० पर्व-141।36
7. आश्व पर्व-46।3, 6

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आर्य लोग उपयुक्त विधि से जीवन के प्रथम भाग में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके ही दीर्घ आयु, निरोग एवं मेधावी होते थे। तभी भारत का सिर विश्व में उन्नत था।

गृहस्थ आश्रम—महाभारत काल में गृहस्थ-आश्रम को चारों आश्रमों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता था।[1] शान्ति पर्व में भी भीष्म जी ने इसकी महत्ता का इस प्रकार प्रतिपादन किया है। "मनीषियों ने विवेक की तराजू पर आश्रमों को तौला, एक ओर ब्रह्मचर्यादि तीन आश्रम रखे तथा दूसरी ओर केवल गृहस्थाश्रम, तो गृहस्थ-आश्रम का पलड़ा ही भारी रहा। क्योंकि इसमें भोग और स्वर्ग दोनों सुलभ हैं। यह गृहस्थाश्रम लोकवेत्ताओं का भी आश्रय रूप है एवं मुनियों का भी मार्ग है। त्यागी वही है जो धर्मपूर्वक भोगों को भोगता हुआ, मन से भोगों की आसक्ति का त्याग करके कर्मों में निरत रहता है। जो केवल गृह-त्यागकर वन में चला जाता है वह त्यागी नहीं। यदि धर्मध्वजी पुरुष वन में रहकर भी भोगों का स्मरण करता है तो यमराज के द्वारा दण्ड दिये जाने का पात्र होता है। त्याग पूर्वक किया गया सम्पूर्ण कर्म ही महान फलदायक होता है केवल इसी आश्रम में धर्म, अर्थ व काम-त्रिवर्ग-की सिद्ध होती है।

क्षत्रिय समाज विशेषतः गृहस्थ धर्म को ही विशेष महत्व देता था, संन्यास धर्म को नहीं। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम तो ब्राह्मणों के लिये अथवा वैश्य धर्म का विधिवत पालन कर चुकने के पश्चात् वृद्धावस्था आने तक भी यदि धर्म-युद्ध में वीर-गति प्राप्त करने का सुयोग प्राप्त न हुआ तो क्षत्रिय के लिये भी उचित बतलाये गये थे। श्रेष्ठ क्षत्रिय, सामान्यतः क्षत्रियों के लिये, वानप्रस्थ व संन्यास आश्रमों की आवश्यकता का कम अनुभव करते थे।[2] महा मनस्वी अर्जुन ने संन्यास लेने को उद्यत महाराज युधिष्ठर से इस प्रकार कहा—"आप अपनी धर्मपत्नी का परित्याग करके, जो एकाकी जीवन बिताना चाहते हैं, इससे आप पापकर्मा हो गये हैं, अतः आपके लिये न यह लोक सुखद होगा न परलोक।" "जितेन्द्रिय संन्यासी गृहस्थ-आश्रम से अलग होकर भी उसी के सहारे जीवन धारण करते हैं, वहीं उनकी उत्पत्ति होती है तथा वहीं प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। केवल त्याग से, मूढ़ता से व याचना से किसी को संन्यासी न समझिये। जो समभाव से स्वार्थ का त्याग करता है और सुख में आसक्त नहीं होता उसे ही त्यागी समझना चाहिये। यदि हृदय का कषाय दूर न हुआ तो काषाय-वस्त्र धारण करना स्वार्थ सिद्धि के लिये ही समझिये। मेरा तो विश्वास है कि यह (काषाय वस्त्र धारण) धर्मध्वज लोगों के लिये जीविका चलाने का धन्धा मात्र है।[3]

इस तर्क से भी गृहस्थाश्रम की महत्ता प्रकट होती है कि प्राचीन भारतीय

1. शान्ति पर्व-12।12-20
2. शान्ति पर्व-18।15
3. शान्ति पर्व-18।29, 30, 34

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मनीषियों ने आश्रम व्यवस्था अत्यधिक चिन्तन के पश्चात् ही विवेकपूर्ण निश्चित की थी। यह व्यवस्था मानव जीवन को अत्यन्त आवश्यक थी, वर्तमान में है तथा भविष्य में रहेगी। ये चार आश्रम क्रम से, ब्रह्मप्राप्ति की (मोक्ष) चार सीढ़ियां मानी गई थीं।[1] इनको क्रम पूर्वक, एक के पश्चात् दूसरी को पार करना अनिवार्य था। जैसे एक सीढ़ी पर चढ़कर दूसरी सीढ़ी पर चढ़ने की योग्यता हो जाती है, जिस प्रकार एक कक्षा को उत्तीर्ण करके अगली कक्षा की योग्यता प्राप्त होती है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों को भी क्रमशः पूर्व पूर्व को उत्तीर्ण करने से अर्थात् तद् तदाश्रम का विधिवत् पालन करने के पश्चात् ही उत्तरोत्तर आश्रम के धर्म पालन की योग्यता का सम्पादन होता है तथा अन्त में मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यदि क्रमशः चारों आश्रमों को विधिवत् पालन किया जावे तो मानव जीवन के चारों फलों की प्राप्ति अवश्यम्भावी है। इनमें से यदि गृहस्थ आश्रम का पालन न किया जावे तो उपर्युक्त नियमानुसार वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम के पालन की क्षमता, जीवन्मुक्तों को छोड़कर, कदापि नहीं हो सकती। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी यही कहा है[2] कि "बिना गृहस्थ धर्म का पालन किये यदि अपरिपक्व स्थिति में संन्यास ले लिया जाये तो पात्रता न होने के कारण मन इसी प्रकार बिगड़ जाता है जिस प्रकार बिना पकाया मिट्टी का कच्चा घड़ा पानी भरने से फूट जाता है।"

चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही श्रेष्ठ माना जाता था किन्तु उस महान् आश्रम के कर्तव्य इतने उच्च थे कि उनका विधिवत् पालन करना दुष्कर था। अन्य तीनों आश्रमों, अतिथियों यहां तक कि पशु-पक्षी आदि सभी जीवों के पालन का अधिकांश भार इसी आश्रम पर था। यह आश्रम, देखने मात्र को सुखों का स्थान था किन्तु कर्तव्य पालन की दृष्टि से, "कांटों के मुकुट" की भांति था। दुर्बल इन्द्रिय वालों के द्वारा इस आश्रम का पालन दुष्कर था।[3]

जो वेदों का अध्ययन पूर्ण करके, समस्त शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने के पश्चात् अपनी विवाहिता पत्नी के गर्भ से, सन्तान उत्पन्न कर, उस आश्रम के न्यायोचित भोगों को भोगता और एकाग्रचित्त हो मुनिजनोचित धर्म से युक्त दुष्कर गार्हस्थ्य धर्म का पालन करता था, वह उत्तम माना जाता था।[4] गृहस्थाश्रम सब आश्रमों का मूल माना जाता था क्योंकि ब्रह्मचारी, संकल्प के अनुसार व्रत, नियम व धर्म का पालन करने वाले वानप्रस्थी, सब कुछ त्याग कर सर्वत्र विचरने वाले संन्यासी भी इस आश्रम से ही

---

1. शान्ति पर्व-242।15
2. विनय पत्रिका-पद सं० 173

   "विगरत मन संन्यास लेत, जल नावत आम घरो सो।
3. शान्ति पर्व-21वां अध्याय
4. शान्ति पर्व-61।10

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भिक्षा, भेंट, उपहार तथा दान आदि पाकर अपने-अपने धर्म के पालन में प्रवृत्त होते थे।[1] इसके अतिरिक्त गृहस्थाश्रम में रहकर, यज्ञ करने से देवता, श्राद्धतर्पण करने से पितर, वेद-शास्त्रों के श्रवण, अभ्यास व धारण से ऋषि तथा संतानोत्पादन से प्रजापति प्रसन्न होते थे।[2]

"गृहस्थाश्रम में फूलों की माला, नाना प्रकार के आभूषण, वस्त्र, अंगराग, नित्योपभोग की वस्तुएं, नृत्य-गीतवाद्य, श्रवण सुखद शब्द, नयनाभिराम रूप के दर्शन, की प्राप्ति होती है। भक्ष्य, भोज्य लेह्य, पेय और चोष्य रूप नाना प्रकार के भोजन सम्बन्धी पदार्थ खाने-पीने को मिलते हैं। अपने उद्यान में घूमने-फिरने का आनन्द प्राप्त होता है तथा काम-सुख की उपलब्धि भी। जिस पुरुष को गृहस्थ आश्रम में सदा धर्म, अर्थ और काम के गुणों की सिद्धि होती रहती है उसके लोक एवं परलोक दोनों बन जाते हैं।"[3]

'महाभारत' के शान्ति पर्व[4] में, भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को, महात्मा जाजलि--जिन्होंने घोर तपस्या की थी, तथा तुलाधार वैश्य जिसने केवल अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन किया था—के आख्यान द्वारा यही बतलाया कि वन में की हुई घोर तपस्या से भी श्रेष्ठ, गृहस्थपुरुष द्वारा पालन किया गया उसका वर्ण-धर्म है। इसी पर्व में एक अन्य स्थान पर लिखा है कि 'जो गृहस्थाश्रम में दोष देखकर उसका परित्याग करके दूसरे आश्रम में चला जाता है, वह भी कुछ छोड़ता है और कुछ ग्रहण करता है। अतः संग दोष से उसे छुटकारा नहीं मिलता।[5] राजा जनक के आख्यान[6] को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी पुरुष ऐसे ज्ञानी हो जाते थे कि महर्षियों के पुत्र भी उनसे अध्यात्म विद्या का उपदेश ग्रहण करने पहुंचते थे। परम हंस शुकदेव जी, जो महर्षि वेद-व्यास के पुत्र थे, महाराज जनक के निकट, अपने पिता व्यास जी द्वारा, प्रवृत्ति धर्म तथा निवृत्ति धर्म सम्बन्धी किसी भी संदेह की निवृत्ति के लिये भेजे गये थे।[7] जनक न तो वर्ण से ब्राह्मण थे तथा न आश्रम से संन्यासी। तात्पर्य यह है कि जनक[8], तुलाधार[9] व व्याध[10] के उदाहरणों को देखते हुए

1. शान्ति पर्व-151।10
2. शान्ति पर्व-191।13
3. शान्ति पर्व-191।16
4. शान्ति पर्व-261 व 262 वें अध्याय
5. शान्ति पर्व-320।44
6. शान्ति पर्व-326 वां अध्याय
7. शान्ति पर्व-326।10-11
8. शान्ति पर्व-326।10-11
9. शान्ति पर्व-267 वां अध्याय
10. वन पर्व-206 वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यह कहा जा सकता है कि केवल गृहस्थाश्रम का विधिवत् पालन करते हुए भी पूर्व ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है।

गृहस्थाश्रम के कर्तव्य—जब आयु का एक चौथाई भाग वेदाध्ययन व व्रत-उपवास करते हुए समाप्त हो जाये तब गुरु को दक्षिणा देकर, समावर्तन संस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। धर्मतः पत्नी का पाणिग्रहण करके उसके साथ यज्ञ पूर्वक अग्नि की स्थापना करे और आयु के द्वितीय 'चतुर्थ' भाग की समाप्ति तक उत्तम व्रत का पालन करते हुए गृहस्थ बना रहे।[1] गृहस्थ का कर्तव्य था कि वह अपनी ही पत्नी में अनुराग रखता हुआ संतुष्ट रहे, ऋतुकाल में पत्नी के साथ समागम करे, शास्त्रों की आज्ञा का पालन करता रहे, शठता व कुटिलता से दूर रहे, उपकार करने वालों के प्रति कृतज्ञता प्रगट करे, सत्य बोले, सबके प्रति मृदुभाव रखे, किसी के प्रति क्रूर न बने, सदा क्षमाभाव रखे, इन्द्रियों का संयम करे, गुरुजनों की आज्ञा का पालन करे, देवताओं और पितरों की तृप्ति के लिये हव्य और कव्य समर्पित करने में कभी भूल न करे, ब्राह्मणों को निरंतर अन्नदान करे, ईर्ष्या द्वेष से दूर रहे, अन्य सब आश्रमों को भोजन देकर उनका पालन-पोषण करता रहे तथा यज्ञादि में लगा रहे।[2] गृहस्थ पुरुष इस लोक में सत्य, सरलता अतिथि सत्कार, धर्म, अर्थ अपनी पत्नी के प्रति अनुराग तथा सुख का सेवन करे। ऐसा होने पर ही उसे परलोक में भी सुख प्राप्त होते हैं। गृहस्थ ब्राह्मण का कर्तव्य था कि वह स्त्री-पुत्रों का भरण-पोषण तथा वेद शास्त्रों का स्वाध्याय करता रहे।[3]

यों तो घर पर आये अतिथि का आदर सत्कार करना सभी का कर्तव्य था परन्तु पंचमहायज्ञ के अधिकारी गृहस्थ का यह प्रधान धर्म था, क्योंकि अतिथि सत्कार, पंचमहायज्ञ में से, जो नित्य कर्म थे, एक महायज्ञ था। 'जो गृहस्थ मोह वश गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी, पंच-महायज्ञों का अनुष्ठान नहीं करता था, उसके उभय लोक नष्ट हो जाते हैं, ऐसी मान्यता थी। अतिथि की सेवा पूजा महान् धर्म माना जाता था।[4] ऐसी ही धारणा शरणागत पालन के प्रति भी थी, उसे भी महान धर्म माना जाता था।[5] यज्ञ, दान, दया, वेद, सत्य और तप ये छः पवित्र कर्म माने जाते थे। तथा पवित्र तीर्थ स्थानों की यात्रा करना भी परम पवित्र कर्म माना जाता था।[6] दम को चारों ही आश्रमों में उत्तम व्रत माना जाता था किन्तु उसके अभ्यास व परिपक्वता का काल तो

1. शान्ति पर्व-242।28, 29
2. शान्ति पर्व 61।11, 12
3. शान्ति पर्व-61।14, 15
4. शान्ति पर्व-146। 6, 7, 21
5. शान्ति पर्व-149।18
6. शान्ति पर्व-152। 7

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

गृहस्थ आश्रम ही था क्योंकि शेष तीन आश्रमों का स्थान 'वन' था अतः गृहस्थ आश्रम में ही दम की विशेष आवश्यकता थी। इन्द्रिय निग्रह और मनोदमन के फलस्वरूप निम्न लक्षणों के उदय को 'दम' कहा जाता था—क्षमा, धीरता, अहिंसा, समता, सत्य-वादिता, सरलता, इन्द्रिय-विजय, दक्षता, कोमलता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, क्रोध-हीनता, संतोष, प्रिय वचन, किसी को कष्ट न देना, तथा किसी के दोष को न देखना।[1]

एक अन्य स्थल के वर्णनानुसार गृहस्थाश्रम में पालन करने योग्य समस्त उत्तम आचरण इस प्रकार थे—जो सदाचार का पालन करने वाले ब्रह्मचारी विद्या पढ़कर, गुरुकुल से स्नातक होकर लौटते थे उन्हें यदि सहधर्मिणी के साथ रहकर धर्माचरण करने की इच्छा होती तो उनको गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की विधि थी। इस आश्रम में धर्म, अर्थ और काम तीनों की प्राप्ति होती है, इसलिये त्रिवर्गी साधन की इच्छा रख कर गृहस्थ को उत्तम कर्म के द्वारा धन संग्रह करना चाहिये। वह स्वाध्याय से प्राप्त विशेष योग्यता से, ब्रह्मर्षियों द्वारा धर्मशास्त्रों में निश्चित् किये हुए मार्ग से अथवा पर्वत से प्राप्त सारभूत मणि, रत्न एवं स्वर्ण आदि से धन का संचय करे। अथवा यज्ञ व श्राद्ध या वेदाभ्यास या देवप्रसाद से प्राप्त धन द्वारा गृहस्थ अपनी गृहस्थी का निर्वाह करे।

गृहस्थ ब्राह्मण के लिये विद्वानों ने चार प्रकार की आजीविका बतलाई है—(1) कोठे भर अन्न का संग्रह करके रखना यह प्रथम जीविका वृत्ति है : (2) कुन्डे भर अन्न का संग्रह करना, द्वितीय वृत्ति है। (3) उतने ही अन्न का संग्रह करना जो दूसरे दिन के लिए शेष न रहे, तृतीय वृत्ति। (4) कपोती वृत्ति या (उञ्च वृत्ति) का आश्रय लेकर जीवन निर्वाह करना, यह चतुर्थ वृत्ति है। इन चारों में से प्रथम से द्वितीय आदि उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। अन्तिम वृत्ति का आश्रय लेने वाला धर्मतः सर्वश्रेष्ठ है।[2] प्रथम श्रेणी के अनुसार जीविका चलाने वाले ब्राह्मण को यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, तथा दान और प्रतिग्रह ये छः कर्म करने चाहिये। द्वितीय श्रेणी वाले को अध्ययन, यजन और दान इन तीन कर्मों में ही प्रवृत्त होना चाहिये। तृतीय श्रेणी वाले को—अध्ययन और दान—ये दो ही कर्म करने चाहिये। चतुर्थ श्रेणी वाले को केवल ब्रह्मयज्ञ (अध्ययन) करना उचित है।[3]

ब्राह्मण केवल अपने ही भोजन के उद्देश्य से रसोई न बनावे, देव, पितृ, ऋषि व अतिथि के निमित्त रसोई बनावे। पशु हिंसा न करे। गृहस्थ पुरुष दिन में कभी न सोवे, रात के प्रथम व चतुर्थ भाग में भी निद्रा का त्याग करे। प्रायः और सायं दो ही समय भोजन करे, मध्यान्तर में कुछ न खाये। ऋतुकाल के अतिरिक्त पत्नी को शैय्या

1. शान्ति पर्व-160।10-13
2. शान्ति पर्व-243।2, 3
3. शान्ति पर्व-243।4

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पर न बुलावे। उसके घर पर आया हुआ कोई अतिथि-ब्राह्मण आदर सत्कार और भोजन पाये बिना न रह जाय। यदि द्वार पर अतिथि के रूप में, वेद के पारंगत विद्वान्, स्नातक, श्रोत्रिय, हव्य और कव्य भोजन करने वाले, जितेन्द्रिय, क्रियानिष्ठ, स्वधर्म से ही जीवन निर्वाह करने वाले और तपस्वी ब्राह्मण आ जायें तो उनकी विधिवत् पूजा करके उन्हें हव्य और कव्य समर्पित करने चाहिये। उनके सत्कार के लिये यह सब करने का विधान है।[1]

गृहस्थ के पंच महायज्ञों में से 'नृयज्ञ' (अतिथि सेवा) भी एक है। बलि-वैश्वदेव के पश्चात् गृहस्थ कुछ देर के आगमन की प्रतीक्षा करे। अन्य ग्राम से आया हुआ क्षुधातृष्णा से पीड़ित, परिश्रान्त, व्यक्ति ही अतिथि है।[2] अतिथि की सेवा न करना पाप माना जाता था।[3] घर के द्वार से अतिथि को लौटाने से देवता व पितर उस गृहस्थ का त्याग कर देते हैं।[4] अतिथि के उद्देश्य से कोई वस्तु बनाना उचित नहीं माना जाता था।[5] किसी अतिथि के पधारने पर गृहपति खड़े होकर उसका स्वागत करता था, आसन देता था तथा उसकी यथाविधि अर्चना करता था। शत्रु यदि अतिथि के रूप में किसी के द्वार पर उपस्थित होता था तो उसकी भी यथारीति आवाभगत करना गृहस्थ के लिए अनिवार्य था।[6] जो धार्मिकता का ढोंग दिखाने के लिये अपने नख और बाल बढ़ाकर आया हो, अपने ही मुख से अपने किये हुए धर्म का विज्ञापन करता हो, अकारण अग्निहोत्र का त्याग कर चुका हो, अथवा गुरु के साथ कपट करने वाला हो, ऐसा मनुष्य भी गृहस्थ के घर अन्न पाने का अधिकारी था।[7] गृहस्थ पुरुष का कर्तव्य था कि वह पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, शरणागत, वृद्ध, बालक, रोगी, वैद्य, भाई-बन्धु, सम्बन्धी, माता-पिता, स्त्री, भाई, पुत्र, पुत्री व सेवक समूह के साथ कभी विवाद न करे।[8] इनसे हार मानने वाला पुरुष सुखी रहता है। बड़ा भाई पिता के समान है, पत्नी-पुत्र अपने ही शरीर हैं तथा सेवक गण अपनी छाया के समान है, बेटी तो और भी अधिक दयनीय है। अतः उनके द्वारा कभी अपना तिरस्कार हो जाय तो सदा क्रोध रहित होकर सह लेना चाहिये।

गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले विद्वान् पुरुष को निश्चिन्त होकर क्लेश और

---

1. शान्ति पर्व-243।5-9
2. शान्ति पर्व-146।7
3. अनु० पर्व-126।26, 28, शा०-110।5
4. अनु० पर्व-दूसरा अध्याय
5. आश्रम० पर्व-26।36
6. सभा पर्व-21।54
7. शान्ति पर्व-243।10, 11
8. शान्ति पर्व-243।15, 16

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

थकावट को जीतकर निरन्तर धर्म का पालन करते रहना चाहिये। चारों आश्रम उत्तरोत्तर श्रेष्ठ कहे गये हैं।[1] उन आश्रमों के जो शास्त्रों नियम है, उन सबका अपनी उन्नति चाहने वाले पुरुष को पालन करना चाहिये। कुंडे भर अनाज का संग्रह करके अथवा उच्च वृति से निर्वाह करने वाले पूजनीय ब्राह्मण जिस देश में रहते हैं वह उन्नति करता है।[2]

जिसमें किसी भी प्राणी के साथ द्रोह न करना पड़े अथवा कम-से-कम द्रोह करने से काम चल जाए, ऐसी जो जीवन वृत्ति है वही उत्तम धर्म है।[3] तुलाधार वैश्य ने गृहस्थ आश्रम का तथा अपने वर्ण के धर्म (व्यापार वृत्ति) का पालन करते हुए ही सिद्धि प्राप्त की थी तथा जाजलि ब्राह्मण से उसने अपने आचार-विचार के विषय में कुछ कहा भी था जिससे कि जाजलि को यह ज्ञान हो जाए कि निष्काम भाव से वर्णाश्रम धर्म का पालन करने की अपेक्षा, कर्म त्यागकर वन में कठोर तप करना भी निकृष्ट है। गृहस्थ-आश्रम के प्रसंग में उसका भी वर्णन उचित प्रतीत होता है। तुलाधार मदिरा नहीं बेचता था। वह अन्य पीने योग्य पदार्थों को दूसरों से खरीदकर बेचता था। माल बेचने में छल कपट या असत्य से काम नहीं लेता था। उसके मत में वास्तव में धर्म का तत्व जाननेवाले वही हैं जो सब जीवों को सुहृद एवं मन, वाणी व क्रियाओं द्वारा सबके हित में लगा रहने वाला हो। वह न किसी से अनुरोध करता था और न विरोध ही, न ही उसका द्वेष था न किसी से कुछ कामना करता था। समस्त प्राणियों के साथ उसका सम भाव था। उसकी तराजू सब मनुष्यों के लिए सम थी। वह आकाश की भांति असंग रहकर जगत के कार्यों को देखता हुआ न तो किसी की प्रशंसा करता था न निन्दा ही। इस प्रकार वह सब लोगों के प्रति समता रखने वाला, मिट्टी, पत्थर व सुवर्ण को सम समझने वाला था। वह विषयों की ओर से सावधान रहकर अन्धे, बहरे और उन्मत्त की भांति; विषयों को केवल दृष्टा की भांति अनासक्ति भाव से दूर से देखकर विरत रहता था। उसके मन से भी धन और विषयभोगी की इच्छा दूर हो गई थी। उसका निश्चय था कि जब यह पुरुष अन्य से भयभीत नहीं होता तथा जब अन्य प्राणी उससे भयभीत नहीं होते और जब यह न तो किसी की इच्छा करता है तथा न किसी से द्वेष ही करता है तब ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। जब समस्त प्राणियों के प्रति मन, वाणी और क्रिया द्वारा भी बुरे भाव नहीं होते हैं तब ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। जो कटु वचन करने वाले तथा कठोर हृदय वाले होते हैं उन्हें महान भय होता है। धर्म की रक्षा सदाचार से ही होती है। सदाचारी पुरुष को शीघ्र ही तत्व ज्ञान होता है। जो इस अभयदान रूपी सदाचार को आचरण में लाता है वह सहायवान, द्रव्यमान, तथा श्रेष्ठ समझा जाता है। प्राणियों

---

1. शान्ति पर्व-243।23
2. शान्ति पर्व-243।24
3. शान्ति पर्व-262।6

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की हिंसा न करने से जिस धर्म की सिद्धि होती है, उससे बढ़कर महान धर्म कोई नहीं है। जो व्यवहार में, समस्त प्राणियों को अपने से अभिन्न देखता है, वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। जो कितनों के जीवन को पीड़ित करते, अनेकों को मारकर खा जाते हैं, मनुष्य होकर मनुष्यों को दास बनाकर, उनके परिश्रम का फल आप भोगते हैं वे निन्दा के पात्र हैं।[1]

गृहस्थाश्रम के अनुसार जो यह कुटुम्ब के भरण-पोषण से सम्बन्ध रखने वाला कार्य है तथा दान, स्वाध्याय, यज्ञ, सन्तानोत्पादन एवं सदा सरल और कोमलभाव से व्यवहार करना रूप जो कर्म है, यह सब मनुष्य के लिए अत्यन्त दुष्कर है। यदि यह सब दुष्कर कर्म करके भी किसी को मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ तो कर्त्ता को धिक्कार है, उसके उस कार्य को धिक्कार है और इसमें जो परिश्रम हुआ, व्यर्थ हो गया।[2]

मनुष्य सुख में हो या दुख में, जो सदाचार से कभी विचलित नहीं होता वही ज्ञानवान है। गृहस्थ पुरुष को स्वयं अपने आप प्राप्त हुए विषयों का ही सेवन करना चाहिए और प्रयत्न करके तो धर्म का ही पालन करना चाहिए।[3] गृहस्थाश्रम का परम धर्म अतिथि सत्कार था। गृहस्थों का कर्तव्य था कि अतिथि के प्रतिकूल किसी प्रकार कोई कार्य न करे। जिस-जिस वस्तु से अतिथि सन्तुष्ट हो, वह वस्तु सदा उसे दे। यदि अतिथि के सन्तोष के लिए अपना शरीर भी देना पड़े तो मन में कभी अन्यथा विचार न करे।[4]

गृहस्थ के लिए पांच कार्य पांच दक्षिणायुक्त यज्ञों के समान माने जाते थे। (1) अतिथि आने पर उसे प्रसन्न दृष्टि से देखना, (2) सेवा में मन लगाना, (3) उसे मीठी वाणी से सन्तुष्ट करना, (4) जाते समय उसके पीछे-पीछे कुछ दूर तक जाना, (5) वह जब तक रहे उसके स्वागत सत्कार में लगे रहना।[5] थके-मांदे पुरुष को अन्नदान करना महान् पुण्य माना जाता था। एक स्थान[6] पर अतिथि की इन पांच सेवाओं को भी 'पंचदक्षिणायज्ञ' कहा है। (1) पैर धोने को जल, (2) बैठने को आसन (3) प्रकाश को दीपक, (4) खाने को अन्न, (5) ठहरने को स्थान देना। वृद्ध कुटुम्बी, दरिद्र मित्र, और कुलीन पण्डित यदि दरिद्र हो तो उनकी यथा शक्ति रक्षा करनी चाहिए। उन्हें अपने घर पर ठहराना चाहिए। इससे धन और आयु की वृद्धि होती है।[7]

---

1. शान्ति पर्व-262वां अध्याय
2. शान्ति पर्व-269।65, 66
3. शान्ति पर्व-295।31, 35
4. अनु० पर्व-दूसरा अध्याय
5. अनु० पर्व-7।6
6. अनु० पर्व-7।7,8
7. अनु० पर्व-104।111, 112

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह सायंकाल के समय न तो सोवे, न विद्या पढ़े और न भोजन ही करे। इन कार्यों को न करने से वह दीर्घायु होता है।[1]

अहिंसा, सत्यवचन, सब प्राणियों पर दया करना, मन व इन्द्रियों को वश में रखना, यह सब गृहस्थाश्रम का उत्तम धर्म है।[2] (1) उपर्युक्त उत्तम धर्म, (2) परस्त्री संसर्ग से दूर रहना, (3) मांस व मदिरा का त्याग करना, (4) धरोहर व स्त्री की रक्षा करना, तथा (5) बिना दिए किसी की वस्तु न लेना, इन पांच धर्मों का पालन करना प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है।[3] अनुशासन[4] पर्व में एक स्थल पर गृहस्थ धर्म का वर्णन इस प्रकार मिलता है। पति व पत्नी को अपना एक-सा स्वभाव बनाना, गृह देवता की नित्य पुष्पों द्वारा पूजा करना एवं नैवेद्य अर्पित करना, नित्य घर लीपना तथा नित्य व्रत पालन करना गृहस्थ का धर्म है। घर लीप-पोतकर व झाड़ू बुहार कर स्वच्छ रखना चाहिए एवं घृत युक्त आहुति करके धुंआ फैलाना चाहिए। श्रेष्ठ ब्राह्मणों के यहां सदा इस गृहस्थ धर्म का पालन किया जाता था।

वानप्रस्थ आश्रम—महाभारत में स्थान-स्थान पर वानप्रस्थ आश्रम का वर्णन मिलता है, जिससे हमें उस काल में इस आश्रम की स्थिति का ज्ञान होता है।

गृहस्थाश्रम के पश्चात्, तृतीय, उससे भी श्रेष्ठ, परम उदार, वानप्रस्थ आश्रम है जो शरीर को सुखाकर अस्थिचर्मावशिष्ट कर देने वाले तथा वन में रहकर तपस्या पूर्वक शरीर को त्यागने वाले वानप्रस्थियों का आश्रम है। यह गृहस्थों से श्रेष्ठ माना गया है।[5] गृहस्थ पुरुष, जब अपने सिर के बाल सफेद दिखाई दें, शरीर में झुर्रियां पड़ जायें और पुत्र को भी पुत्र की प्राप्ति हो जाए तो अपनी आयु का तृतीय भाग व्यतीत करने के लिए वन में जाए और वानप्रस्थ आश्रम में रहे।[6] वह वानप्रस्थ आश्रम में भी उन्हीं अग्नियों का सेवन करे जिनकी गृहस्थ आश्रम में उपासना करता था। साथ ही वह प्रतिदिन देवाराधन भी करता रहे। वानप्रस्थी पुरुष नियम से रहे, नियमानूकूल भोजन करे, दिन के छठे भाग अर्थात् तीसरे पहर में, एक बार भोजन करे और प्रमाद से बचा रहे। गृहस्थाश्रम की भांति ही अग्निहोत्र, वैसी ही गौ-सेवा तथा उसी प्रकार यज्ञ के सम्पूर्ण अंगों का सम्पादन करना वानप्रस्थ का धर्म है।[7] वनवासी मुनि

1. अनु० पर्व-104।118
2. अनु० पर्व-141।25
3. अनु० पर्व-141।26, 27
4. अनु० पर्व-141।43-45
5. शान्ति पर्व-243।29
6. शान्ति पर्व-244।4, 5
7. शान्ति पर्व-244।6

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बिना जोती भूमि का धान, यब, नीवार का भोजन करे। प्रथम अतिथि को भोजन कराकर पंच महायज्ञों का अनुष्ठान करे।[1]

वानप्रस्थियों की भी चार वृत्तियां होती हैं, वे यज्ञ व अतिथि सेवन के लिए अन्न संग्रह करते हैं। (1) बारह वर्ष के लिए, (2) एक वर्ष के लिए, (3) एक मास के लिए, तथा (4) केवल एक बार के लिए।[2] इस आश्रम का पालन करने वाले मनुष्य धर्म का अनुसरण करते हुए पवित्र तीर्थों में, नदियों के किनारे, झरनों के आसपास तथा मृग, भैंसे, सुअर, सिंह एवं जंगली हाथियों से भरे हुए एकांत वनों में तप करते हुए विचरते रहते थे। गृहस्थों के उपभोग में आने वाले ग्रामजनोचित सुन्दर वस्त्र, स्वादिष्ट भोजन, और विषय भोगों का परित्याग करके वे जंगल में अपने आप होने वाले अन्न, फल, मूल तथा पत्तों का परिमित, विचित्र, एवं नियत आहार करते थे। भूमि पर ही बैठते थे। जमीन, पत्थर, रेत अथवा राख पर ही सोते थे। काश, कुश मृगचर्म और वृक्षों की छाल से बने वस्त्रों से अपना शरीर ढकते थे। सिर के बाल, दाढ़ी, मूंछ नख और रोम सदा धारण किए रहते थे। नियत समय पर स्नान करके निश्चित् काल का उल्लंघन न करते हुए बलिवैश्व देव व अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान करते थे। अत: हवन-पूजन के लिए समिधाकुशा, फल आदि का संग्रह करके उन्हें कुछ विश्राम मिलता था। सर्दी, गर्मी, वर्षा और वायु के वेग सहते-सहते उनके शरीर की चमड़ी कट जाती थी। नाना प्रकार के नियमों का पालन और सत्कर्मों का अनुष्ठान करते रहने से उनके रक्त और मांस सूख जाते थे और शरीर के स्थान पर चर्म से ढकी हड्डियों का ढांचा मात्र रह जाता था, फिर भी धैर्य रखकर, साहसपूर्वक शरीर यात्रा का निर्वाह करते थे। इस प्रकार अग्नि में तपाने की भांति उनके दोष भष्म हो जाते थे।[3]

वानप्रस्थियों के लिए धन का संग्रह करना निषिद्ध था। ये श्रेष्ठ लोग प्राय: शुद्ध एवं हितकर अन्न मात्र के इच्छुक होकर स्वाध्याय, तीर्थयात्रा, एवं देश-दर्शन के निमित्त सम्पूर्ण पृथ्वी पर घूमते-फिरते थे। गृहस्थ का कर्तव्य था कि यदि ये घर पर पधारे तो उठकर, आगे बढ़कर उनका स्वागत करे, इनके चरणों में मस्तक झुकावे, दोष दृष्टि न रखकर उत्तम वचन बोले, यथाशक्ति सुख व आसन दे, उन्हें सुखद शैया पर सुलावे और उत्तम भोजन दे।[4]

पुनर्जन्म के सिद्धान्तानुसार यह मान्यता थी कि जो वानप्रस्थी वेदी पर शयन करता है उसे जन्मान्तर में उत्तम शैया की प्राप्ति होती है जो चीर व वल्कल पहनते हैं उन्हें दूसरे जन्म में उत्तम वस्त्र और आभूषणों की प्राप्ति होती है।

---

1. शान्ति पर्व-244।7
2. शान्ति पर्व-244।8, 9
3. शान्ति पर्व-192।1, 2
4. शान्ति पर्व-191।11

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुशासन पर्व में भी यत्र-तत्र इसी प्रकार के वर्णन मिलते हैं। वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने वाला पुरुष,एक चित्त होकर निश्चय करके, गृह त्यागकर, वन को चला जाए और वन में प्राप्त उत्तम आहारों से ही जीवन निर्वाह करे। पृथ्वी पर सोना, जटा व दाढ़ी मूंछ रखना, मृगचर्म और वल्कल वस्त्र धारण करना, देवताओं और अतिथियों का सत्कार करना, महान् कष्ट सह कर भी देव पूजा आदि का निर्वाह करना उस आश्रम का धर्म था। उसके लिए प्रतिदिन अग्निहोत्र और त्रिकाल स्नान का विधान था ब्रह्मचर्य, शौच और क्षमा उसका सनातन धर्म माना जाता था।[1] वानप्रस्थी का कर्तव्य था कि धर्मासन पर बैठे हुए शिष्ट पुरुषों द्वारा धर्मार्थयुक्त कथाएं सुने। वह मुनि व्रत और उपवास में तत्पर रहे, दूसरों पर क्षमा का भाव रखे। दिन रात यथा संभव शौचाचार का पालन करके धर्म का चिन्तन करे। काम और क्रोध को त्याग दे। वह शीत-तोयानियोग का आचरण करे। यह वायु अथवा जल पीकर रहे। सेवार को भोजन करे। पत्थर से अन्न या फल को कूंचकर अथवा दांतों से चबाकर ही खाए। दूसरे दिन के लिए संग्रह न करे। अधोवस्त्र के स्थान पर चीर वल्कल पहने व उत्तरीर के स्थान पर मृग चर्म ओढ़ा करे। उठना, बैठना, चलना, फिरना, विचरना, सोना सब काम वन में ही करे। स्त्री समागम आदि का त्याग कर दे।

सभी वानप्रस्थ तपस्या में संलग्न रहते थे। कुछ अपनी पत्नी सहित तपस्या करते थे, कुछ एकांकी ही। स्त्री को साथ रखने वाले रात्रि को आश्रम में ही ठहरते थे। वे केवल ऋतु काल में ही स्त्री समागम करते थे। चारों वेदों में निष्णात होने की अपेक्षा सब जीवों के प्रति सरल व्यवहार का अधिक महत्व माना जाता था। सरलता को धर्म तथा कुटिलता को 'अधर्म' कहा जाता था। कुछ वानप्रस्थी 'चक्रचर' होते थे। वे अपनी स्त्रियों से साथ सदा छकड़ों का बोझ ढोते हुए छकड़ों द्वारा ही याचना करते थे। वे धीर मुनि तपस्या में लगे रहकर अपने पापों को भष्म कर देते थे। काम क्रोध से रहित हो, सम्पूर्ण दिशाओं में भ्रमण करते थे।[2]

आश्वमेधिक पर्व में वानप्रस्थी के कर्तव्यों का वर्णन मिलता है। वानप्रस्थ मुनि सब प्रकार के संस्कारों से शुद्ध होकर, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए घर की ममता त्यागकर, गांव से बाहर निकलकर वन में रहे। मृगचर्म या वल्कल वस्त्र पहिने, गांवों में प्रवेश न करे। बहते हुए जल, वायु आदि वन की वस्तुओं का ही सेवन करे।[3]

संन्यास आश्रम—तृतीय, वानप्रस्थ आश्रम—के पश्चात् चतुर्थ आश्रम, संन्यास आश्रम, में प्रवेश किया जाता था।[4] इस आश्रम को 'भैक्ष्य आश्रम'[5] या 'मोक्षाश्रम'[6] भी

1. अनु० पर्व-142वां अध्याय
2. अनु० पर्व-145वां अध्याय
3. आश्व० पर्व-46।9, 10
4. शान्ति पर्व-61।1
5. शान्ति पर्व-61।1
6. शान्ति पर्व-192।6

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कहा जाता था। जीवन का चतुर्थ या अन्तिम भाग इस आश्रम में व्यतीत किया जाता जाता था। ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम के धर्मों द्वारा तथा वानप्रस्थ के तप द्वारा चित्त का शोधन करके जब राग-द्वेष आदि दोष पकाकर अर्थात् नष्ट करके चित्त शुद्धि हो जाती तब संन्यास आश्रम में प्रवेश किया जाता था। संन्यासी इस आश्रम की सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी को साथ न लेकर अकेला ही संन्यास धर्म का पालन करता था।[1] इस आश्रम को 'क्षेमाश्रम' भी कहा जाता था। इस आश्रम में आया हुआ ब्राह्मण अविनाशी ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त कर लेता था।[2] इस आश्रम का पालन केवल ब्राह्मण ही करते थे।[3]

वानप्रस्थ की अवधि पूर्ण कर लेने के पश्चात् जब आयु का चतुर्थ भाग शेष रह जाए, वृद्धावस्था से शरीर दुर्बल हो जाए और रोग सताने लगे तो उस आश्रम का परित्याग कर दे। संन्यास की दीक्षा लेते समय एक दिन में होने वाला यज्ञ करके अपना सर्वस्व दक्षिणा में दे डाले। फिर आत्मा का ही यजन, आत्मा में ही रत होकर आत्मा में ही क्रीड़ा करे। सब प्रकार से आत्मा का ही आश्रय ले। अग्निहोत्र भी अग्नियों को आत्मा में ही आरोपित करके संग्रह-परिग्रह को त्याग दे तथा जब तक ब्रह्मयज्ञ का अभ्यास न हो जाए तब तक यज्ञों का मानसिक अनुष्ठान करता रहे। केश, लोम, और नख कटाकर कर्मों से पवित्र हो, संन्यास आश्रम में प्रवेश करे। जो ब्राह्मण सम्पूर्ण प्राणियों को अभय देकर संन्यासी हो जाता है, वह अन्त में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[4]

संन्यासी का कर्तव्य था कि वह मन और इन्द्रियों को संयम में रखते हुए, मुनि वृत्ति से रहे। किसी वस्तु की कामना न करे। अपने लिए मठ या कुटी न बनवावे। निरन्तर घूमता रहे और जहां सूर्यास्त हो, वहीं ठहर जाए। प्रारब्ध वश जो मिल जाए उसी से जीवन-निर्वाह करे। आशा-तृष्णा का सर्वथा त्याग करके सबके प्रति समान भाव रखे। भावों से दूर रहे और हृदय में किसी प्रकार का विकार न आने दे।[5] इस आश्रम में दम पर विशेष बल दिया जाता था। यद्यपि दम का पालन करना सभी वर्णों व आश्रमों के लिए महत्वपूर्ण था। ऐसी मान्यता थी कि जिसका आचार-विचार शुद्ध और अन्तःकरण निर्मल है, जिसकी कामनाएं शुद्ध हैं तथा जो भोगों से परामुख हो चुका है वह आत्म ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण कर्मों का, तथा नाना प्रकार की विद्याओं का विधिवत् संन्यास करके, सर्वत्यागी संन्यासी होकर इहलोक में सम्मानित हो, परलोक में अक्षय

1. शान्ति पर्व-245।3,4
2. शान्ति पर्व-61।9 (विप्रः क्षेमाश्रयं, प्राप्तो···सात्मताम्)
3. शान्ति पर्व-244।21, 61।1
4. शान्ति पर्व-61।8।9
5. शान्ति पर्व-160।10-13

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सुख (लोक) को प्राप्त होता है। उस अक्षय लोक की प्राप्ति सदा दम से ही होती है।[1]

संन्यासी को चाहिए कि वह दैवेच्छा से प्राप्त अधिक या कम स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट जितना या जैसा भोजन प्राप्त हो उसी में संतुष्ट रहे। चाहे प्रासादों के भीतर बहुमूल्य शैय्या मिले चाहे वृक्ष के नीचे भूमि पर सोना पड़े, आसक्ति रहित रहे। चिथड़े वल्कल, सनी, रेशमी, मृगचर्म जो भी वस्त्र प्राप्त हो जाए उसमें सन्तोषपूर्वक शरीर ढक ले। धर्मानुकूल प्राप्त योग्य पदार्थों से द्वेष न करे तथा प्राप्त न होने पर दुर्लभ भोग की भी इच्छा न करे। उसकी बुद्धि अविचल रहे, धर्म से च्युत न हो, सांसारिक व्यवहार परिमित रखे; भय राग, द्वेष, लोभ और मोह को हृदय से दूर कर दे। पवित्र भाव से रहे। सुख-दुःख, लाभ-हानि, अनुकूल और प्रतिकूल तथा जीवन और मरण ये सब दैव के अधीन हैं, यह यथार्थ रूप से जानकर हर्ष-शोक का त्याग कर दे।[2] संन्यासी का संयम नियम और दम स्वाभावतः सिद्ध होता है उसका शयन एवं निवास का कोई नियत स्थान नहीं। वे व्रत, सत्य और शौचाचार से सम्पन्न रहते थे।[3] संन्यास आश्रम में प्रवेश करने वाले पुरुष अग्निहोत्र, धन, स्त्री आदि परिवार तथा घर की सम्पूर्ण सामग्री का परित्याग करके भोगों और संगों के प्रति अपनी असक्ति के बन्धनों को तोड़कर सदा के लिए घर के बाहर निकल जाते थे। धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी प्रवृत्तियों में उनकी बुद्धि आसक्त नहीं होती थी। शत्रु मित्र और उदासीन सबके प्रति वे समान दृष्टि रखते थे। चारों प्रकार के प्राणियों के प्रति वे मनसा, वाचा व कर्मणा कभी द्रोह नहीं करते थे, वे चारों ओर विचार करते थे, रात्रि विश्राम के लिए गुफा, नदी तट, वृक्ष की जड़, देव मन्दिर, नगर या ग्राम में कहीं चले जाते थे। नगर में पांच रात्रि व ग्राम में एक रात्रि से अधिक नहीं ठहरते थे। प्राण धारण करने के लिए अपने विशुद्ध धर्मों का पालन करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन द्विजातियों के ऐसे घरों पर जाकर खड़े हो जाते थे जहां संकीर्णता नहीं होती थी। बिना मांगे ही पात्र में जितनी भिक्षा मिल जाती उतनी ही स्वीकार कर लेते थे। काम, क्रोध, दर्प, लोभ, मोह, कृपणता, दम्भ, निन्दा, अभिमान तथा हिंसा से दूर रहते थे। जो मुनि सब प्राणियों को अभय दान देकर विचरते उन्हें किसी भी प्राणी से भय नहीं रखता था।[4]

संन्यास आश्रम का एक नाम 'मोक्षाश्रम' भी था। अतः इस आश्रम में मनुष्य का उद्देश्य केवल मोक्ष प्राप्त करना होता था क्योंकि मानव जीवन के चार फलों में से तीन (त्रिवर्ग) की प्राप्ति तो गृहस्थाश्रम में हो जाती थी। वानप्रस्थ आश्रम पथ व नियम संयम का तथा गृहस्थ व संन्यास के मध्य का अथवा संन्यास लेने की पात्रता प्राप्त करने की साधना का आश्रम था। चतुर्थ फल (मोक्ष) की अन्तरंग साधना चतुर्थ

1. शान्ति पर्व-160।10-13
2. शान्ति पर्व-179।19-31
3. शान्ति पर्व-179।32
4. शान्ति पर्व-192

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आश्रम में की जाती थी अतः मोक्ष साधना पूर्वंरूपेण संन्यास से ही संवंधित है।

मोक्ष प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम अपने-अपने वर्णाश्रम धर्मों का निष्काम भाव से पालन करना अनिवार्य था, उसके फलस्वरूप तत्वज्ञान होता था। ज्ञान होने पर देह और देही का पृथकत्व बोध (तत्वज्ञान) होने पर देह सम्बन्धी सभी कर्म फल समाप्त हो जाने पर मोक्ष होता था। इस मोक्ष प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य पालन भी अत्यावश्यक बतलाया गया था।[1] इसलिए उस काल के समाज में जीवन के आरम्भ से ही मृत्युपर्यंत ब्रह्मचर्य पालन की व्यवस्था थी। मोक्षाकांक्षी इस व्यवस्था का पालन करते थे। प्रथम आश्रम में तो पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य का पालन करना ही था, द्वितीय आश्रम में भी सन्तानोत्पत्ति के ही लिए (कामवासना की दृष्टि के लिए नहीं) अपनी पत्नी के साथ केवल ऋतुकाल में समागम करना तथा किसी भी पर स्त्री की ओर कामुक दृष्टि न डालना ब्रह्मचर्य पालन ही माना जाता था तथा उस काल की व्यवस्था में यही धर्म था, इससे अन्यथा अधर्म। इसके पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में भी जप, तप व ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता था। ब्रह्मचर्य के साथ-साथ मोक्षाश्रम, में कुछ अन्य गुण यथा—वाणी मन व शरीर की पवित्रता, क्षमा, सत्य और धैर्य भी आवश्यक थे किन्तु ब्रह्मचर्य को तो ब्रह्म का ही स्वरूप माना जाता था, यह सर्वश्रेष्ठ धर्म था।[2]

उस काल की समाज-व्यवस्था के अनुसार कुछ सामान्य धर्म भी थे जिनका पालन करना सभी के सुख के लिए होता था। शुभ कर्मों का आचरण, अहिंसा, सत्य-भाषण, सरलता, क्षमा, तथा प्रमाद शून्यता। किसी का अहित न सोचे, असम्भव वस्तुओं की कामना न करे। मोक्ष दायक होने के कारण इन नियमों का पालन करना संन्यासियों के लिए अत्यावश्यक था।[3] उस आश्रम का फल परम पुरुषार्थ या मोक्ष की प्राप्ति के साथ-साथ लोकोपकार भी था। जो सब प्रकार के संग्रह से रहित, निरीह, एकान्तवासी अल्पाहारी, तपस्वी और जितेन्द्रिय हैं, ज्ञान हो जाने के कारण जिसे दु.ख भी दुःख नहीं कर सकते, जो मन को वश में रखने वाला तथा योगाभ्यास में निरत रहता है वह निश्चल चित्त के द्वारा परमात्मा को प्राप्त कर सकता है अर्थात् मुक्त हो सकता है।[4]

वानप्रस्थ आश्रम के पश्चात् संन्यासी होकर यथा-समय भिक्षा से जीवन निर्वाह करते हुए, भिक्षा के लिए वानप्रस्थी के आश्रम पर उस समय जाना चाहिए जब कि मूसल से धान कूटने को आवाज सुनाई न पड़े और रसोईघर से धुआं निकलना बंद

1. शान्ति पर्व-214वां अध्याय
2. शान्ति पर्व-214।10-13
3. शान्ति पर्व-215।6
4. शान्ति पर्व-215।16, 17

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हो जाय। इस प्रकार का संन्यासी ब्रह्मभाव को प्राप्त होने में समर्थ होता है। संन्यासी को चाहिये कि स्तुति व नमस्कार से अलग रहकर शुभाशुभ कर्मों का त्याग करके जो कुछ फलमूल मिल जाय उसी से भूख मिटाते हुए अकेला विचरे।[1] जो न पाप में लगा हो और न पुण्य में, न तो अर्थोपार्जन में तत्पर हो, न धर्म में, न काम में ही। वह सब प्रकार के दोषों से रहित मनुष्य दुख और सुख की देने वाली सिद्धियों से सदा के लिये मुक्त हो जाता है, उस समय मिट्टी के ढेले और सोने में उसका समान भाव हो जाता है, जिसके मन में आसक्ति है उसकी कभी मुक्ति नहीं हो सकती। आसक्ति शून्य ज्ञानी मनुष्य ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं अतः मुमुक्ष पुरुष को चाहिये कि वह किसी का प्रिय अथवा अप्रिय न करे।[2]

आत्मज्ञानी पुरुष, सुशील, सदाचारी और पापरहित होते थे। वे इस लोक और परलोक के लिए भी कोई कर्म करना नहीं चाहते थे। क्रोध, मोह, सन्धि और विग्रह का त्याग करके वे सब ओर से उदासीन रहते थे। जो अहिंसा आदि यमों तथा शौच संतोषादि नियमों का पालन करने में कभी कष्ट का अनुभव नहीं करता, संन्यास आश्रम का विधान करने वाले शास्त्र के सूत्रभूत वचनों के अनुसार त्यागमयी अग्नि में अपने सर्वस्व की आहुति देने के लिए उत्साहित रहता है उसकी मुक्ति में लेशमात्र भी संशय नहीं। संन्यास आश्रम वानप्रस्थ से उत्कृष्ट तथा सद्‌गुणों के कारण अति ही श्रेष्ठ है। वह पूर्वोक्त तीनों आश्रमों से श्रेष्ठ है, जिसमें शम आदि गुणों का अधिक विकास होता है वह सबसे श्रेष्ठ व सबकी परम गति है।[3]

शान्ति पर्व में ही आगे के अध्याय में संन्यास आश्रम का इस प्रकार वर्णन किया गया है—जो आत्म तत्व का साक्षात्कार करके एकाकी विचरता रहता है वह सर्वव्यापी होने के कारण न तो किसी का त्याग करता है और न अन्य ही उसका त्याग करते हैं। संन्यासी के लिए विधान था कि वह न तो अग्नि की स्थापना करे, तथा न कुटी-मठ आदि बनाकर रहे, केवल भिक्षार्थ ही ग्राम में जाए। वह दूसरे दिन के लिए अन्न का संग्रह न करे, चित्तवृत्तियों को एकाग्र करके मौन भाव से रहे। लघु और नियत आहार करे तथा उसे भी दिन रात में केवल एक ही बार ग्रहण करे। वस्तुतः वही व्यक्ति संन्यासी माना जाता था जो किसी को साथ न रखकर केवल भिक्षा पात्र रखता था, वल्कल वस्त्र पहनता था तथा किसी के द्वारा की गई निन्दा व स्तुति का कोई प्रत्युत्तर नहीं देता था। वह दूसरे मुख से की गई निन्दा को सुनता भी नहीं, फिर स्वयं किसी की निन्दा करने की तो बात ही क्या। जो असंग होने के कारण लोगों से भरे स्थान को भी शून्य समझता है उसे ही देवता लोग ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) मानते हैं। जो जन

1. शान्ति पर्व-242।8
2. शान्ति पर्व-176।44, 46
3. शान्ति पर्व-244।29-31

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

समुदाय को सर्प की भांति, स्वादिष्ट अन्न को नरक की भांति, तथा स्त्रियों को मुर्दों की भांति समझकर डरता व दूर रहता है, जो सम्मान प्राप्त होने पर हर्षित, अपमानित होने पर कुपित नहीं होता तथा जिसने सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान कर दिया है, जो न तो जीवन का अभिनन्दन करता है तथा न मृत्यु से डरता है वह वास्तविक ब्राह्मण है। संन्यासी के लिए विधान था कि वह अपने चित्त को रागद्वेष आदि दोषों से दूषित न होने दे और सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर शत्रुहीन हो जाए।[1] संन्यासी का जीवन धर्म के लिए और धर्म भगवान श्रीहरि के लिए होता था। जिसके दिन रात धर्म पालन में ही व्यतीत होते थे, जो कामनाओं से तथा सब प्रकार के आरम्भों से रहित होता था, नमस्कार व स्तुति से दूर रहता तथा सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त रहता था वही वास्तविक संन्यासी माना जाता था।[2] संन्यासियों को दूसरों पर भय आया देखकर दुख होता था, वे भयदायक कर्म तो करते ही नहीं थे। वे आत्म यज्ञ करके प्राण, मन तथा इन्द्रियों की उसमें आहुति देते थे अर्थात् प्राणादि की चिन्ता न करके, मन व इन्द्रियां संसार से हटाकर आत्म चिन्तन में ही लगे रहते थे। वे न तो स्वयं निन्दनीय होते थे तथा न दूसरों की निन्दा करते थे। उनके मोह व पाप नष्ट हो जाने के कारण वे इस लोक व परलोक के भागों में आसक्त नहीं होते थे। वे पांच कोशों का अभिमान त्यागकर सन्धि-विग्रह तथा निन्दा-स्तुति से रहित हो जाते थे। ऐसे संन्यासी परमात्म-साक्षात्कार कर सकते थे।[3]

जो देहाभिमान से मुक्त होकर सत्व प्रधान सत्य, दम, दान, तप, त्याग और शम इन छः गुणों तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूप त्रिविध साधनों से प्राप्त होने वाले आत्मा को, इस देह के रहते हुए भी, जान लेते हैं, वे परम शान्ति को प्राप्त होते हैं।[4] जो उत्पत्ति व विनाश से रहित, स्वभाव सिद्ध, संस्कार शून्य तथा शरीर के भीतर स्थित ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, वह अक्षय सुख का भागी होता है।[5] अपने मन को इधर जाने से रोककर, आत्मा में सम्पूर्ण रूप से स्थापित कर लेने पर, जिस संतोष और सुख की प्राप्ति होती है, उसका दूसरे किसी उपाय से प्राप्त होना असंभव है। जिससे बिना भोजन के भी मनुष्य तृप्त हो जाता है, जिसके होने से निर्धन को भी पूर्ण संतोष रहता है तथा जिसका आश्रय मिलने से घृत आदि स्निग्ध पदार्थों का सेवन किये बिना भी मनुष्य अपने में अनन्त बल का अनुभव करता है, उस ब्रह्म को जानता है, वही तत्वज्ञ है।[6]

1. शान्ति पर्व-245।5-16
2. शान्ति पर्व-245।23-24
3. शान्ति पर्व-245।34, 35
4. शान्ति पर्व-251।15
5. शान्ति पर्व-251।16
6. शान्ति पर्व-251।17, 18

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सिद्धान्त था कि यम नियमों का पालन करने वाले संन्यासी ज्ञान मार्ग का आश्रय लेकर परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। वे इस जगत को नश्वर समझते हैं। सम्पूर्ण लोकों में उनकी गति का कहीं कोई अवरोध नहीं होता।[1] उन्हें सर्दी गर्मी द्वन्द्व विचलित नहीं करते। वे न तो किसी को प्रणाम करते तथा न आशीर्वाद ही देते हैं। इतना ही नहीं वे विद्वान् पुरुष कामनाओं के बन्धन में भी नहीं बंधते हैं, सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो सर्वत्र विचरते रहते हैं।[2]

ब्रह्म प्राप्ति के लिए चार द्वारों (हाथ, पैर, वाणी, उपस्थ व उदर) का संयम करके चार उपायों का (भक्ति योग, ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं अष्टांग योग) का आश्रय लिया जाता था। इन द्वारों की रक्षा के लिए भी साधन थे क्योंकि इनका संयम-किये बिना आत्म प्राप्ति दुर्लभ थी।[3]

पाणिपाद संयम—जुआ न खेलना, दूसरों का धन न लेना, नीच पुरुष का बनाया अन्न ग्रहण न करना तथा क्रोधावेश में किसी की हिंसा न करना।[4]

वाणी सुरक्षा—किसी को अपशब्द न कहना, व्यर्थ न बोलना, दूसरों की चुगली या निन्दा न करना, मितभाषण, सत्य प्रिय वचन बोलना तथा बोलने में सावधान रहना।[5]

उपस्थद्वार सुरक्षा—अपनी धर्म पत्नी के ही साथ विहार करना, पर-पत्नी के साथ नहीं। अपनी पत्नी को भी जब तक वह ऋतुस्नाता न हुई हो अपने समीप न बुलाना और मन में एक पत्नी व्रत धारण करना।[6]

उदर-सुरक्षा—उपवास न करना तथा बहुत अधिक ही न खाना, सादा भोजन करना तथा भोजन के लिए लालायित न रहना। सज्जनों का साथ करना और जीवन निर्वाह के लिए जितना आवश्यक हो, उतना ही अन्न पेट में डालना।[7] जिस मनीषी पुरुष के उपस्थ, उदर, पाणिपाद और वाणी—चारों द्वारा पूर्णतः सुरक्षित हैं, वही वास्तव में ब्राह्मण है। जिसके ये द्वार सुरक्षित नहीं हैं उसके सम्पूर्ण शुभ कर्म निष्फल होते हैं। ऐसे मनुष्य की तपस्या, यज्ञ, तथा आत्म चिन्तन से क्या लाभ हो सकता है?[8] जिसके पास वस्त्र के नाम पर एक लंगोटी है, ओढ़ने के लिए एक चादर भी नहीं है,

---

1. शान्ति पर्व-269।1
2. शान्ति पर्व-269।2
3. शान्ति पर्व-269।23
4. शान्ति पर्व-269।24
5. शान्ति पर्व-269।25
6. शान्ति पर्व-269।27
7. शान्ति पर्व-269।26
8. शान्ति पर्व-269।28, 29

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जो बिना बिछौने के ही सोता है, बाहों का ही तकिया लगाता है और सदा शांतभाव से रहता है वही वास्तव में ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) है।[1] जो मुनि शीतोष्ण आदि सम्पूर्ण द्वन्द्व रूपी उपवनों में अकेला ही आनन्दपूर्वक रहता है, दूसरों का चिन्तन नहीं करता, जिसको इस सम्पूर्ण जगत् की नश्वरता का ज्ञान है, जो प्रकृति और उसके विकारों से परिचित है, जो सम्पूर्ण भूतों से निर्भय है, जिसके समस्त प्राणी भय नहीं मानते हैं वही वास्तव में ब्राह्मण है।[2]

संतोष ही जिसके सुख का मूल है, त्याग ही जिसका स्वरूप है, जो ज्ञान का आश्रय कहा जाता है, जिसमें मोक्षदायिनी बुद्धि नित्य आवश्यक है वह संन्यास आश्रम रूप धर्म सनातन माना जाता है। वह यतिधर्म अन्य आश्रम के धर्मों से मिला हुआ हो या या स्वतन्त्र हो, जो अपने वैराग्य बल के अनुसार उसका आश्रय लेते हैं वे कल्याण के भागी होते हैं। उस मार्ग से जाने वाले सभी पथिकों का कल्याण होता है, परन्तु जो दुर्बल होता है, मन और इन्द्रियों को वश में न रखने के कारण जो इसके साधन में असमर्थ हैं वही वहां शिथिल होकर बैठे रहते हैं। जो बाहर और भीतर से पवित्र होते हैं वे ब्रह्म पद का अनुसंधान करते हुए संसार बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। कर्म, स्थूल व सूक्ष्म शरीर की शुद्धि करने वाले हैं, किन्तु ज्ञान परमगति रूप है। जब कर्मों द्वारा चित्त के रागादि द्वेष भस्म हो जाते हैं तब मनुष्य रस रूप ज्ञान में स्थित हो जाता है।[3] विद्वान पुरुष निम्नांकित कर्मों का परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग मानते थे—समस्त प्राणियों पर दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्य, सरलता, अद्रोह, निरभिमानता, लज्जा तितिक्षा और शम। सब ओर से शांत, संतुष्ट, विशुद्ध चित्त और ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण की जो गति (स्थित) होती है उसी को परम गति कहते हैं।[4]

मुमुक्ष पुरुष को चाहिए कि वह क्षमा से क्रोध का, संकल्प त्याग से कामनाओं का उच्छेद कर डाले। प्राणायाम करे। हितकर, परमित, सुपाच्य आहार करे, दया से अधर्म, करुणा से अभिमान, संतोष से तृष्णा, उद्योग से आलस्य, दृढ़ विश्वास से कुतर्क और मौन से अधिक बोलने को जीते।[5] मन सहित इन्द्रियों को बुद्धि द्वारा, बुद्धि को विवेक द्वारा वश में करे। विवेक का आत्मज्ञान से शमन करे और आत्मा को परमात्मा में विलीन कर दे।[6] 'कामादि' योग सम्बन्धी पांच दोषों का परित्याग करके व वाणी का संयम करके, योग साधनों का सेवन करे। ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, लज्जा,

1. शान्ति पर्व -269।30
2. शान्ति पर्व-269।31-33
3. शान्ति पर्व-270।31, 32, 38
4. शान्ति पर्ल-270।39, 40
5. शान्ति पर्व-274।5-11
6. शान्ति पर्व-274।12

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सरलता, बाह्याभ्यन्तर शुद्धि, आहार शुद्ध और इन्द्रियों का संयम ये ही योग के साधन है।[1] इन सबके द्वारा साधक का तेज बढ़ता है। वह अपने पापों का नाश कर डालता है। उसके संकल्प सिद्ध होने लगते हैं और हृदय में विज्ञान का आविर्भाव हो जाता है। इस प्रकार जब पाप धुल जायें और साधक तेजस्वी, मिताहारी, और जितेन्द्रिय हो जाए तब वह काम और क्रोध को अधीन करके, अपने आपको ब्रह्म पद में प्रतिष्ठित करने की इच्छा करे। मूढ़ता और आसक्ति का अभाव, काम और क्रोध का त्याग एवं दीनता, उद्दण्डता तथा उद्वेग से रहित होना और चित्त की स्थिरता एवं निष्काम भाव से मन, वाणी और इन्द्रियों का संयम—यह मोक्ष का स्वच्छ, निर्मल एवं पवित्र मार्ग है।[2]

जीवात्मा का देहाभिमान से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाना ही मोक्ष (मुक्ति) है।[3] जब तक यह अभिमान नष्ट नहीं हो जाता, जीवात्मा देह को त्यागकर, संचित पुण्य और पाप से प्रेरित हो, समयानुसार कर्म जनित अन्य शरीर में प्रवेश करता है। ये शरीर उसके संकल्प और वासना के अनुरूप निर्मित होते हैं। विद्वान पुरुष यह निश्चित् रूप से जानते हैं कि आत्मा देह से भिन्न, असंग व अविनाशी है। अतः शरीर का वियोग होने पर उन्हें तनिक भी संताप नहीं होता। अज्ञानी जन देह को आत्मा मानते हैं, अतः उन्हें दुःख होता है।[4]

मुमुक्षु पुरुष को चाहिये कि लाभ और हानि में समान भाव रखकर मुनि वृत्ति से रहे और भोगों के उपस्थित होने पर भी उनकी आकांक्षा से रहित हो अपने घर से निकल कर संन्यास ग्रहण कर ले। न नेत्र से, न मन से, और न वाणी से ही वह दूसरे के दोष देखे, सोचे या कहे। किसी के सामने या परोक्ष में किसी के दोष की चर्चा नहीं करे। समस्त प्राणियों में से किसी की भी हिंसा नहीं करे—किसी को भी पीड़ा न दे। सबके प्रति मित्र व्यवहार रखकर विचरता रहे। इस नश्वर जीवन को लेकर किसी के साथ शत्रुता न करे। यदि कोई अपने प्रति अमर्यादित बात कहे—निन्दा या कटुवचन—तो उसके उन वचनों को चुपचाप सह ले, किसी के प्रति अहंकार प्रगट न करे। कोई क्रोध करे तो भी उससे प्रिय वचन बोले। यदि कोई गाली दे तो भी उसके प्रति हितकर वचन कहे। भिक्षावृत्ति छोड़कर किसी के यहां पहले से निमन्त्रित होकर भोजन करने न जाये। अपकार करने वाले का मन, वाणी व कर्म द्वारा प्रत्यष्कार न करे। सर्वदा मृदुता का आचरण करे। निश्चिन्त रहे तथा बढ़-बढ़कर बातें न बनावे। जब सब लोग भोजन कर लें, आग ठण्डी पड़ जाय, तब भिक्षा का प्रयत्न करे। केवल प्राण रक्षा मात्र का प्रयत्न करे,

1. शान्ति पर्व-274।13, 16
2. शान्ति पर्व-274।17-19
3. शान्ति पर्व-275।37
4. शान्ति पर्व-275।33-36

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भरपेट भोजन की इच्छा न करे। भिक्षा मिले या न मिले, शोक या हर्ष न करे। विशेष आदर के स्थान पर भोजन न करे। आदर सत्कार के लाभ की निन्दा न करे। भिक्षा में मिले अन्न की निन्दा न करे।[1] संन्यासी का कर्तव्य था कि वह अज्ञात भाव से रहकर आत्म चिन्तन में लगा रहे, लोगों के अनुरोध या विरोध करने पर भी सदा समभाव से रहे, निश्चल एवं स्थितचित्त हो जाय, कर्मों द्वारा पुण्य या पाप का अनुसरण न करे।[2] जप परायण होकर, वैराग्य का आश्रय ले, मौन रहे। भौतिक देह, इन्द्रिय आदि सभी वस्तुएं नष्ट होने वाली हैं और प्राणियों के आवागमन बारम्बार होते रहते हैं। यह सब देख और सोचकर जो सर्वत्र निस्पृह तथा समदर्शी हो गया है, अग्नि द्वारा पकवान से अथवा बिना अग्नि के पके फल मूल आदि से जीवन निर्वाह करता है, आत्मलाभ से प्रशान्त चित्त, मिताहारी और जितेन्द्रिय है वही वास्तव में संन्यासी कहलाने योग्य है।[3]

संन्यासी को अपने पूर्व आश्रम के परिचित स्थानों में नहीं विचरना चाहिये। यह संन्यास आश्रम ज्ञानियों के लिये तो मोक्ष रूप है परन्तु अज्ञानियों के लिये श्रमरूप ही है। उसे गृहस्थ व वानप्रस्थों के साथ संसर्ग नहीं रखना चाहिये। अपनी रुचि प्रगट किये बिना ही जो वस्तु प्राप्त हो जाय उसी में संतुष्ट रहे।[4] संन्यासियों का यह धर्म 'मोक्ष का विमान' कहा जाता था।"[5] न तो अकिंचनता में मोक्ष है तथा न किंचनता में वन्धन ही है। धन और निर्धनता दोनों ही अवस्थाओं में ज्ञान से ही जीव को मोक्ष प्राप्त होता है।[6] संन्यासी को चाहिये कि वह क्रोध या ज्ञान-द्वेषी पुरुष से कुछ याचना न करे, स्थावर जंगम सभी प्राणियों पर दया करे। संन्यासी पुण्य तीर्थों का निरन्तर सेवन करे। किसी भी स्थान पर एक रात या दो रात से अधिक न रहे। कहीं भी आसक्त न हो, जंगली फलमूल या सूखे पत्तों का आहार करे। भोजन भोग के लिये नहीं, शरीर यात्रा के लिये करे। रास्ता चलते समय दो हाथ आगे तक की भूमि पर दृष्टि रखे। एक दिन में एक कोस से अधिक न चले। सांसारिक सुख व परिग्रह से दूर रहे। ममता और अहंकार को त्याग दे, किसी के भी आश्रय में न रहे। सदा सत्य में अनुरक्त रहे—इस प्रकार विधिपूर्वक यति धर्म का पालन करने वाला संन्यासी काल के परिणामवश अपने शरीर को पके हुए फल की भांति त्याग कर सनातन ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है।[7]

1. शान्ति पर्व-278।3-12
2. शान्ति पर्व-278।13, 14
3. शान्ति पर्व-278।15, 16
4. शान्ति पर्व-278।19, 20
5. शान्ति पर्व-273।21
6. शान्ति पर्व-320।50, 51
7. अनु० पर्व-96वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मनुष्य जो शुभ या अशुभ कर्म करता है वैसा ही फल भोगता है। बिना किये हुए कर्म का फल भोगना नहीं पड़ता तथा किया हुआ कर्म भोगे बिना नष्ट नहीं होता। मनुष्य को चाहिये कि वह इन्द्रियों को वश में करके शास्त्र ज्ञान से सम्पन्न हो क्योंकि साधु पुरुष जिस गति का अन्वेषण करते हैं वह शास्त्रों में ही है। अतः किसी को ज्ञान का अभिमान नहीं करना चाहिये। ज्ञान का फल शान्ति है अतः शान्ति के लिये प्रयत्न करे जिसके अर्थ और काम धर्ममूलक होकर वृद्धि को प्राप्त हुए हैं तथा जिसके धर्म और अर्थ नियत हैं, वही श्रेष्ठ है। जो भोगों से दूर रहते हैं, जिनकी कहीं भी आसक्ति नहीं है, जो सदा धर्म में तत्पर रहते हैं, इन्द्रियों को वश में रखते हैं वे ही सच्चे संन्यासी हैं।[1]

मिट्टी, जल, अन्न, पत्र, पुष्प और फल—ये वस्तुएं किसी के अधिकार में न हों तो आवश्यकता पड़ने पर क्रियाशील संन्यासी इन्हें काम में ला सकता है। वह स्वर्ण की इच्छा न करे। शिल्प करके जीविका न चलाये, उपदेशक न बने, सबके साथ अमृत समान व्यवहार करे। लौकिक अनुष्ठान का न स्वयं पालन करे तथा न दूसरों से करावे, थोड़े में संतोष करे, भविष्य के लिए विचार न करे तथा बीती बातों की चिन्ता न करे। नेत्र से, मन से व वाणी से कहीं भी दोष दृष्टि न करे। योग क्षेम की चिन्ता न करे तथा मन पर विजय प्राप्त करे।[2]

शिक्षा

भूमिका—महाभारतकालीन शिक्षा के विषय में विचार करने से पूर्व हमें उसके पूर्ववर्ती काल में शिक्षा की स्थिति क्या थी, भारत में शिक्षा का विकास कब से हुआ, महाभारत काल तक उस प्राचीन पद्धति का किस प्रकार विकास हुआ तथा क्या-क्या परिवर्तन हुए व क्यों ? इन सब बातों पर विचार करना आवश्यक है।

महाभारत काल से सहस्त्राब्दियों पूर्व से भारत में व्यवस्थित शिक्षण दिया जा रहा था। सबसे प्राचीन साहित्य ऋग्वेद है, उसके आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद काल में शिक्षा की व्यवस्थित पद्धति थी तथा शिक्षण अत्यधिक उन्नति कर चुका था। वैदिक काल से ही समाज पर्याप्त प्रगतिशील हो चुका था। उस युग में सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का सम्यक विकास किया गया था। इस विकास में शिक्षा का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। वैदिक साहित्य की रचना को ही देखकर विद्वान अनुमान लगा सकते हैं कि ऋग्वेद के मन्त्र दृष्टा ऋषि कितने विद्वान् थे तथा

1. अनु० पर्व-141वां अध्याय
2. आश्व० पर्व-46।36-39, 41, 43

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शिक्षा की पद्धति उससे भी पूर्व काल से चली आ रही होगी। ऋग्वेद काल के ऋषि तो शिक्षा की प्रौढ़ता से युक्त हैं।

ऋग्वेद स्वयं विद्वता का अमृत है जिसमें उच्चतम, दार्शनिक और धार्मिक विचार उपलब्ध हैं जो शिक्षा पद्धति की सार्थकता को सिद्ध करते हैं, जिसकी यह उपज है। इस शिक्षा का पद उच्चतम ज्ञान से कम नहीं है।[1] जिसकी झांकियां ऋग्वेद के संगृहीत मंत्रों से मिलती हैं। ये सूक्त ऋषियों के मत पर देवत्व के एकाग्र चिन्तन के क्षणों में आविर्भूत हुए। उन्होंने उन्हें अपने शिष्यों को सिखाया, जो गुरुकुल के थे। प्रमुख शिक्षाविद ऋषि कहलाते थे जिन्हें तप या योग की साधना से एकाग्र चिन्तन द्वारा सत्य का साक्षात्कार हुआ था। उनसे छोटे श्रुतर्षि[2] कहलाते थे।

वेदकालीन संस्कृति उदात्त सिद्धान्तों व तत्वों पर विकसित हुई थी। मानव जीवन के विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति ही उस संस्कृति का ध्येय था। उन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रख प्राचीन शिक्षा प्रणाली का विकास किया गया था। वैदिक ऋषियों ने यह भलीभांति जान लिया था कि शरीर स्थायी नहीं है तथा आत्मा एक अविनाशी तत्व है। अतः उनका साहित्य और शिक्षा भी आत्म चिन्तन से ओतप्रोत थी। साथ ही आर्य इहलौकिक जीवन से भी उदास नहीं थे। अतः उनकी शिक्षा का उद्देश्य, 'मानव की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक शक्तियों का विकास कर भौतिक व आध्यात्मिक जीवन में सामंजस्य स्थापना करना था।'

वेदकालीन शिक्षा—प्राचीन भारतीय आर्यों की आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत जो ब्रह्मचर्य आश्रम है उसका शिक्षा प्रणाली से अभिन्न सम्बन्ध था। इस आश्रम का विकास अत्यंत प्राचीन काल से हुआ था। ऋग्वेद[3] में ब्रह्मचारी का तथा अथर्ववेद[4] में ब्रह्मचर्य का स्पष्ट उल्लेख आता है। अथर्ववेद में तो ब्रह्मचर्याश्रम के विकसित स्वरूप के दर्शन होते हैं। उस वर्णन को पढ़कर हमें तत्कालीन शिक्षा प्रणाली के स्वरूप तथा उद्देश्य का भी पता लगता है।

वैदिक काल में ऐसी शिक्षा दी जाती थी जो धर्म, अर्थ काम व मोक्ष-वर्ग चतुष्ट्य की प्राप्ति में सहायक बन सके। शिक्षा में सर्वांगीण विकास के लिये पूरा-पूरा स्थान था। सात या आठ वर्ष के बालक को प्रथम आश्रम में प्रविष्ट कराया जाता था। उपनयन के पश्चात् विद्यार्थी गुरु के कुल का एक सदस्य बन जाता था। गुरु व शिष्यों में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाता था। सत्य, तप, त्याग व ज्ञान

---

1. ऋग्वेद-10।71।1
2. ऋग्वेद-10।71।7
3. ऋग्वेद-10।109।5
4. अथर्ववेद-11।5।19

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आदि की मूर्ति गुरु के सच्चरित्र व व्यक्तित्व का प्रभाव बालक पर पड़े बिना नहीं रहता था। वन के विशुद्ध प्राकृतिक वातावरण में बालक अपनी नैसर्गिक शक्तियों का विकास करता था तथा विद्याध्ययन करता था।

गुरुकुल में छात्र को ऊंचनीच के भेदभाव भुला देना पड़ते थे। वहां सब छात्र समान भाव से रहते थे। अथवा यों कहा जाय तो और भी उचित रहे कि प्रारम्भिक जीवन से ही जब ऊंचनीच का भेद भाव नहीं रहता था तो गृहस्थाश्रम में भी कहां से आता होगा, क्योंकि प्रौढ़ावस्था में वे ही छात्र जिन्हें समता का प्रशिक्षण मिला था उसी समता का ही प्रचार करते होंगे न कि इसके विपरीत। अतः उस काल के समाज में भेदभाव था ही नहीं। परवर्तीकाल में मनु की समाज व्यवस्था के अनुसार शूद्रों का शिक्षा-निमित्त गुरुकुल जाना अनावश्यक हो गया।[1] इसके पश्चात् महाभारत काल तक वही व्यवस्था चली आई जो मनु के द्वारा निश्चित की गई थी।

प्राचीन भारतीय समाज व्यवस्था में शिक्षण वैयक्तिक, मनोवैज्ञानिक अथवा मात्र सामाजिक समस्या न होकर आध्यात्मिक अभ्युत्थान की पद्धति का अंग था। यह एक तथ्य है कि किसी भी समाज में शिक्षण की पद्धति तथा दृष्टिकोण दूसरी सामाजिक समस्याओं पर गहरा प्रभाव डालते हैं। वेदकाल में छात्र को गुरु सेवा के लिए उनके चरणों में अर्पित किया जाता था। इस प्रकार बालक सेवाभाव से ओतप्रोत हो जाता था। यह सेवा भाव तो सूत्रकाल में व स्मृति काल को पार करता हुआ महाभारत काल व उसके परवर्ती काल (जब तक गुरु प्रथा चलती रही) तक चलता रहा। गुरुकुल में छात्र भिक्षावृत्ति से सादा जीवन व्यतीत करते थे। वे गुरु सहित भिक्षा लाते थे तथा गुरु या आचार्य की प्रत्येक आज्ञा का पालन करते थे। सेवावृत्ति गुरुकुल की विशेषता थी। प्रत्येक विद्यार्थी को स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर आचरण करना पड़ता था। अपना सब काम अपने हाथों कर उसे गुरु की सेवा भी करनी पड़ती थी। उसे यज्ञापि के लिए वन से समिधा लानी पड़ती थी तथा निकटस्थ ग्रामों में जाकर भिक्षा मांगनी पड़ती थी। विद्यार्थी को अपना जीवन पूर्ण सादगी का रखना पड़ता था।

ब्रह्मचर्य का पालन, तप व वेदाध्ययन छात्र के प्रमुख कर्म थे। विद्या के सम्बन्ध में वेदकालीन भारतीय पूर्ण पाण्डित्य चाहते थे, अधकचरापन नहीं। विद्या के इस परिपक्व स्तर को प्राप्त करने के लिए सावधानी और ध्यान की आवश्यकता है। उस युग में साधारण अध्ययन-अध्यापन वेदों के अर्थ को समझकर उन्हें सस्वर रटना तथा कंठस्थ कर लेना था। व्यक्तित्व के विकास की दिशा में ज्ञान का सर्वाधिक महत्व है। मानव जीवन की सफलता उसके ज्ञान की मात्रा पर अवलम्बित रहती है।

वेदकालीन शिक्षा प्रणाली में समाज के प्रत्येक स्त्री-पुरुष, नीच-ऊंच, सबको उत्तम शिक्षा के द्वारा आत्म विकास का पूरा अधिकार था। तत्कालीन समाज का

1. सत्य मित्र दुबे—'मनु की समाज-व्यवस्था', पृष्ठ-78

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शैक्षणिक स्तर बहुत ऊंचा था तथा उस समय विभिन्न शास्त्रों तथा विद्याओं का विकास हुआ था, यथा-संहिता पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ, स्वरों का प्रयोग, व्याकरण-शास्त्र, छन्दः शास्त्र, (गायत्री, त्रिष्टुप्आदि) दर्शन शास्त्र,[1] समाज-शास्त्र,[2] अर्थशास्त्र,[3] आदि के विकसित रूप के दर्शन होते हैं। उषः सूर्य, रात्रि आदि सूक्त उत्कृष्ट काव्य के उदाहरण हैं। ज्योति, शास्त्र गणित, आयुर्वेद, इतिहास, भूगोल, राजनीति, अलंकार शास्त्र आदि से सम्बन्धित कितनी ही सामग्री ऋग्वेद में वर्तमान हैं। यह कहना न होगा कि वेदकालीन शिक्षा प्रणाली में इन शास्त्रों व विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था अवश्य रही होगी, इससे स्पष्ट है कि वेदकालीन शिक्षा पद्धति में केवल धर्म व दर्शन के अध्ययन को ही महत्व नहीं दिया गया था, किन्तु विभिन्न शास्त्रों व विद्याओं के अध्ययन को भी महत्व दिया गया था।

"यजुर्वेद के आरम्भिक काल तक शूद्रों को भी अध्ययन की सुविधा प्राप्त थी किन्तु मनु की परम्परा ने उन्हें शिक्षा से प्रायः वंचित ही कर दिया।"[4] मनु स्वयं वैदिक ज्ञान की अपेक्षा संयमित जीवन को श्रेष्ठ बतलाते थे उन्होंने एक स्थान पर कहा है; "जो केवल सावित्री मंत्र को ही जानते हुए अपने को संयमित किए हैं वे सम्पूर्ण वेदों के उस ज्ञाता से श्रेष्ठ हैं जो नियन्त्रित नहीं हैं।"[5]

शिष्य को समुचित पथ पर लाने के लिए अथवा उसके चरित्र के सुधार के लिए आवश्यकतानुकूल दण्ड की भी व्यवस्था की गई है। मनु का कथन है कि शिष्य ने यदि कोई गुरुतर अपराध कर दिया है तो आचार्य उसे छड़ी अथवा रस्सी से पीट सकता है किन्तु कोमल अंगों पर नहीं, केवल पृष्ठ भाग पर।[6] मनुकाल में स्त्री शिक्षा का निषेध हो गया, उनका उपनयन संस्कार, उनका विवाह ही माना जाने लगा। किन्तु मनु गृहिणी से यह अपेक्षा करते हैं कि वह व्ययादि का हिसाब रख सके।[7]

महाभारत काल में शिक्षा पद्धति यत्किंचित् परिवर्तन के साथ उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित थी जो मनु ने निर्धारित किए थे। वही गुरुकुल प्रथा थी। हां, इतना अवश्य था कि कुछ राजा-महाराजा आचार्यों के यहां वन में राजकुमारों को भेजने के स्थान पर आचार्यों को ही नगर के निकट आश्रम-स्थान प्रदान करने लगे थे जिससे राजकुमार उनके निकट ही शिक्षा ग्रहण करें, यथा महाराजा द्रुपद ने द्रोण को व

1. नासदीय सूक्त (ऋग्वेद)
2. हिरण्य गर्भ व पुरुष सूक्त (ऋग्वेद)
3. हिरण्य गर्भ व पुरुष सूक्त (ऋग्वेद)
4. सत्यमित्रदुबे—"मनु की समाज व्यवस्था", पृ० 80
5. मनु०-2।118
6. मनु०-8।299-300
7. मनु०-5।150

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पितामह भीष्म ने कृपाचार्य व द्रोणाचार्य को बड़े सम्मानपूर्वक अपने ही यहां रखा था, राजा जनक ने आचार्य पंचशिख को चार वर्ष अपने यहां रखा था। गुरुओं का सम्मान पूर्ववत् था। राजकुमारों को वेदाध्ययन कराने के अतिरिक्त धनुर्वेद की भी शिक्षा दी जाती थी। राजा ने राजकुमारों को खेलकूद में उद्दण्ड होते देख कृपाचार्य की खोज कराई जो विधि शास्त्रों के पारंगत विद्वान् थे, उन्हें गुरु बनाकर सभी राजकुमारों को उन्हें सौंप दिया गया।[1]

शिष्य गुरु की आज्ञा का अनेक कष्ट सहते हुए भी उल्लंघन नहीं करते थे। युधिष्ठिर के पुरोहित धौम्य के तीन शिष्य थे—1. आरुणि, 2. उपमन्यू, और 3. वेद। आरुणि ने गुरु के खेत के पानी को रोकने के लिए मिट्टी के स्थान पर स्वयं लेटकर अपने शरीर को ही लगा लिया। धौम्य ने प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद दिया जिसके फलस्वरूप तपस्वी धौम्य का वह तपस्वी शिष्य गुरुकृपा से महामुनि उद्दालक नाम से प्रसिद्ध हुआ। वह थोड़े ही परिश्रम से सम्पूर्ण वेद और समस्त धर्मशास्त्रों का ज्ञाता हुआ। उपनिषदों में उद्दालक के मन्त्र हैं तथा वे वेद के दृष्टा ऋषि भी हैं।

यही स्थिति उनके अन्य दो शिष्यों की थी। वे भी गुरु की सेवा व आज्ञा पालन करके, उनके कृपा-पात्र हुए और फलस्वरूप वेद व धर्म शास्त्रों में पारंगत तथा सर्वज्ञ हुए। आचार्य वेद के घर भी तीन शिष्य रहते थे, किन्तु वे "काम करो या गुरु सेवा में लगे रहो" ऐसा किसी प्रकार का आदेश अपने शिष्यों को नहीं देते थे, क्योंकि गुरु के घर में रहने पर छात्रों को जो कष्ट सहन करना पड़ता है, उससे वे परिचित थे।[2] इससे विदित होता है कि किसी-किसी शिष्य को गुरु का कठोर आदेश सहन नहीं होता था तथा वे अपने शिष्यों के प्रति भी ऐसा कठोर व्यवहार करना उचित न समझते थे।

राजकुमारों की शिक्षा पर विशेष ध्यान रखा जाता था तथा उनके अध्यापन के लिए श्रेष्ठ से श्रेष्ठ आचार्यों की खोज की जाती थी। 'कृपाचार्य' के द्वारा पूर्णतः शिक्षा मिल जाने पर भीष्म ने अपने पौत्रों में विशिष्ट योग्यता लाने के लिए उन्हें और अधिक शिक्षा देने की इच्छा से ऐसे आचार्यों की खोज प्रारम्भ की जो बाण चलाने की कला में निपुण तथा पराक्रम के लिए सम्मानित हों। उन्हें ऐसे आचार्य की प्राप्ति भी हो गई और उन्होंने भरद्वाज वंशी वेद वेत्ता तथा बुद्धिमान द्रोण को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करके उनको कौरव और पाण्डवों को शिष्य रूप में समर्पित कर दिया।[3]

महाभारत काल में गुरुओं का महान् सम्मान होता था। दरिद्र द्रोण से भीष्म ने कहा—"आप यहां रहकर राजकुमारों को धनुर्वेद एवं अस्त्र-शस्त्रों की श्रेष्ठ शिक्षा दीजिए। कौरवों के घर में सदा सम्मानित रहकर अत्यन्त प्रसन्नता के साथ मनो-

---

1. आदि पर्व-130वां एवं 131वां अध्याय
2. आदि पर्व-तीसरा अध्याय
3. आदि पर्व-131वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वांछित उपभोग कीजिए। कौरवों के पास जो धन, राज्य-वैभव तथा राष्ट्र है, उसके आप ही सबसे बड़े राजा हैं। समस्त कौरव आपके अधीन हैं। ब्रह्म ! आपने जो मांग की है उसे पूर्ण ही समझिए। आप आये, यह हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात है। आपने यहां पधारकर मुझ पर महान् अनुग्रह किया है।" द्रोण भीष्म द्वारा पूजित हो, कौरवों के यहां निवास करने लगे। भीष्म ने नाना प्रकार के धन-रत्न और सुन्दर सामग्रियों से सुसज्जित तथा धन-धान्य से सम्पन्न भवन प्रदान किया।[1]

शिष्यों में भी पर्याप्त गुरु-भक्ति होती थी तथा वे परिश्रमशील होते थे।[2] अर्जुन सदा अभ्यास में लगे रहने से, धनुर्वेद की जिज्ञासा, शिक्षा, बाहुबल और उद्योग की दृष्टि से उन सभी शिष्यों में श्रेष्ठ एवं आचार्य द्रोण की समानता करने योग्य हो गए। उनका अस्त्र विद्या में बड़ा अनुराग था इसलिए वे तुल्य अस्त्रों का प्रयोग, फुर्ती और हस्त लाघव में भी सबसे बढ़-चढ़कर निकले। अपनी लगन के कारण वे आचार्य के अत्यन्त प्रिय हो गए। वे अस्त्र वेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ हो गए, साथ ही गुरुदेव की सेवा पूजा के लिए भी वे उत्तम यत्न किया करते थे। वही शिष्य गुरु को अधिक प्रिय होता था, जो गुरु सेवा के साथ-साथ अभ्यास में अधिक लगनशील व परिश्रमी होता था। अर्जुन की लगन तीव्र थी। वे रात्रि में जब शयन करते थे, एकान्त व अंधकार में अभ्यास करते थे। एक बार गुरुदेव को टंकार सुनाई दी, वे उठकर गए तथा प्रसन्न होकर अर्जुन को आशीर्वाद दिया कि "मैं ऐसा प्रयत्न करूंगा जिससे इस संसार में दूसरा कोई धनुर्धर तुम्हारे समान न हो।"[3] उस काल में अनेक प्रकार का युद्ध प्रशिक्षण दिया जाता था। आचार्य ने अर्जुन को घोड़ों, हाथियों, रथों तथा भूमि पर रहकर युद्ध करने की शिक्षा दी तथा समस्त कौरवों-पाण्डवों को गदायुद्ध, असि, तोमर, प्राश और शक्तियों के प्रयोग की कला एवं एक ही साथ अनेक शस्त्रों का प्रयोग व अकेले ही अनेक शत्रुओं के साथ युद्ध करने की शिक्षा दी।"[4]

इस प्रकार कौरव पाण्डवों की शिक्षा के इस उदाहरण को तथा महाभारत युद्ध में अनेक युद्ध-कलाओं के प्रसंगों को यथा हस्ति-सूत्र, अश्वसूत्र, रथ सूत्र, धनुर्वेद, यंत्र सूत्र, गदा व तलवारों के पैंतरे, व्यूह रचना, व्यूह भेदन, नाना प्रकार के दिव्यास्त्रों के प्रयोग, को पढ़कर स्पष्ट होता है कि राजकुमारों की शिक्षा तो उन्नति के शिखर पर थी। उनकी शिक्षा के लिए समुचित प्रबन्ध किया जाता था तथा उनको वेदाध्ययन के साथ-साथ युद्ध विद्या में पारंगत किया जाता था।[5] परन्तु साधारण जनता के विषय में

1. आदि पर्व-131वां अध्याय
2. आदि पर्व-131वां अध्याय
3. आदि पर्व-131वां अध्याय
4. आदि पर्व-131वां अध्याय
5. सभा पर्व-5।120, 121 आदि पर्व-109।19, 20 आदि पर्व-126-29

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता ।

युद्ध विद्या के अतिरिक्त सम्पूर्ण वेदत्रयी, अन्वीक्षिकी, (तर्कशास्त्र), वार्ता (कृषि, वाणिज्य आदि) तथा दण्डनीति शिक्षणीय विषय थे। इनके अतिरिक्त युक्ति शास्त्र, शब्दशास्त्र, गान्धर्व शास्त्र, पुराण इतिहास, आख्यान एवं अनेक कलाएं भी शिक्षणीय विषयों में थी ।[1]

आचार्य द्रोण ने एकलव्य को, जो निषाद राज का पुत्र था, दो कारणों से—एक तो वह जाति का निषाद था, दूसरे धनुर्विद्या में पारदर्शी होकर अर्जुनादि शिष्यों से अधिक वीर वन जाने की संभावना थी; धनुर्विद्या ग्रहण के उद्देश्य से आचार्य के निकट उपस्थित होने पर—शिष्य रूप में स्वीकार नहीं किया। एकलव्य ने द्रोण के चरणों में मस्तक रखकर वन को प्रस्थान किया। उसने एकलमिट्टी को मूर्ति में आचार्य की परमोच्च भावना रखकर अभ्यास प्रारम्भ किया। वह बड़े नियम से रहता था। आचार्य में श्रद्धा तथा उत्तम और भारी अभ्यास के बल से उसने वाणों को छोड़ने, लौटाने और संधान करने में अच्छा हस्तलाघव प्राप्त कर लिया। उसकी शब्द के अनुसार लक्ष्य वेधने की उत्तम शक्ति देखकर सब राजकुमार लज्जित हो गये। वह अर्जुनादि से श्रेष्ठ धनुर्धर हुआ ।[2]

धनुर्विद्या में परीक्षा देना पड़ती थी। युधिष्ठिर आदि भाइयों की शास्त्रास्त्र शिक्षा समाप्त होने पर आचार्य द्रोण ने उनकी परीक्षा ली थी। वह परीक्षा केवल व्यवहारिक थी। परीक्षा, लक्ष्य-भेद में मन की एकाग्रता व स्थिरता की थी, कि मन एक योगी की भांति केवल लक्ष्य पर ही रहता है अथवा अन्य विषयों-वस्तुओं में भटक रहा है। केवल अर्जुन इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए, शेष सब अनुत्तीर्ण ।[3] राजकुमारों के अस्त्र कौशल का, परीक्षण के पश्चात, रंगभूमि में प्रदर्शन भी किया जाता था ।[4] आचार्य द्रोण ने कौरव पाण्डवों की युद्ध कला का प्रदर्शन महाराज धृतराष्ट्र, भीष्म आदि राजकुल व साधारण प्रजा के समक्ष रंगभूमि में कराया था।

गुरु दक्षिणा का प्रचलन अति प्राचीन काल से ही चला आ रहा था। शिक्षा समाप्त होने पर आचार्य को दक्षिणा देनी पड़ती थी। गुरु की संतुष्टि ही श्रेष्ठ दक्षिणा मानी जाती थी ।[5] शस्त्र शिक्षा समाप्त होने पर जब कौरव-पांडवों ने दक्षिणा के लिए गुरु की अनुमति मांगी तो आचार्य ने कहा—"पांचाल-राजद्रुपद को पराजित करके बंदी रूप में मेरे सामने ले आओ, वही मेरी अभिलषित श्रेष्ठ दक्षिणा होगी।"

1. शान्ति पर्व-59।33, अनु० पर्व-104।149
2. आदि पर्व-132 वां अध्याय
3. आदि पर्व-134 वां अध्याय
4. आदि पर्व-135 वां अध्याय
5. अश्व पर्व-56।21, शा० पर्व-122।13 दक्षिणां परितोषो वै गुरुणा सद्भिरुच्यते।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आज्ञा मिलते ही शिष्यों ने प्रस्थान किया। बंदी पांचालराज को जब आचार्य के समक्ष उपस्थित किया गया तो द्रोण ने पांचाल राज को क्षमा कर दिया और शिष्यों द्वारा जीते गये राज्य में से आधा द्रुपद को देकर मित्रता कर ली।[1] सम्पूर्ण कौरव पांडवों के अतिरिक्त, आचार्य ने अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को 'ब्रह्मशिर' दिव्यास्त्र देकर, गुरु दक्षिणा मांगी कि "यदि तुम युद्धरत हो और मैं तुमसे युद्ध करने सम्मुख आऊं तो तुम्हें मुझसे युद्ध करना चाहिये।"[2] अर्जुन ने यह दक्षिणा देना स्वीकार किया।

शूद्र शिक्षा के विषय में कुछ निश्चित् तो नहीं कहा जा सकता, उस काल के आलोचनात्मक अध्ययन से यह तो निश्चित् हो जाता है कि शूद्रों के लिये वेदाध्ययन का निषेध था। जब कि शूद्र यज्ञ वेदी के समीप ही नहीं जा सकते थे,[3] वेद की ऋचाओं को नहीं सुन सकते थे[4] उनको वेदों का उपदेश नहीं दिया जाता था तथा उनके द्वारा 'ओम्' के उच्चारण का भी निषेध था।[5] फिर वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था। इस विषय में कोई शंका ही नहीं।[6] वेदों के अतिरिक्त, महाभारत काल में, अन्य विद्याओं का भी अध्ययन-अध्यापन होता था इसीलिए अनेक शूद्र धुरंधर विद्वान् देखने में आते हैं। इनमें से दासीपुत्र विदुर[7] तो मानो ज्ञान के, नीति के, समुद्र थे। उनका शास्त्र ज्ञान अगाध था। उनके अतिरिक्त संजय,[8] लोमहर्षण,[9] व सौति[10] कम ज्ञानी नहीं थे। वेदों के अतिरिक्त महाभारत काल तक संस्कृत साहित्य का अपार भंडार हो चुका था तथा इन शास्त्र, इतिहास पुराण रामायण आदि का अध्ययन करने का सबको अधिकार था। इन ग्रंथों में ज्ञान का अपार भंडार था। अन्य अनेक शूद्र भी अवश्य ज्ञानी व विद्वान होते थे यथा सभा पर्व में आया है 'मान्यान् शूद्रान्' तथा शान्ति पर्व में मन्त्रिमण्डल के गठन में 'त्रींश्च शूद्रान'[11] का प्रयोग हुआ है—यह सब इस तथ्य की पुष्टि करता है। ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य जातियों के लोग भी उपदेशक होते थे। जो निष्काम कर्म व तप द्वारा

---

1. आदि० पर्व-137 वां अध्याय
2. आदि पर्व-139।14
3. सभा पर्व-36।9
4. सभा पर्व-45।15
5. आश्व०92 अ० शूद्रववश्राच्चयुंत ब्रह्म भयं तु मम सर्वदा।
   तस्मात स प्रणवं शूद्रो मन्नार्मापि न की तयेत ॥
6. सभा०-45।15, वन पर्व-31।8
7. आदि पर्व-146, 148, 204 वें अध्याय सभा० 57, 58 व 66 वां अध्याय
8. उद्योग पर्व-20-32 अध्याय
9. आदि पर्व-1।1
10. आदि पर्व-1।1
11. शान्ति पर्व-85।8,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अन्तःकरण की शुद्धि करके विशुद्ध ज्ञान प्राप्त कर लेता था वह समाज में सम्मानीय होता था। इसके उदाहरण राजा जनक[1], (क्षत्रिय) तुलाधार[2] (वैश्य), धर्मव्याध[3], सौति[4] आदि (शूद्र) हैं, सबने ब्राह्मणों[5] (तपस्वी) को अध्यात्म ज्ञान का व धर्म का उपदेश किया।

विद्या लाभ साधना साध्य था। विद्यार्थी को गुरु-सेवा, ब्रह्मचर्य, तप व कठोर व्रत तथा नियमों का पालन करना पड़ता था। विद्यार्थी मन व इन्द्रियों को संयम में रखकर, सादा व पवित्र जीवन व्यतीत करते थे[6]। गुरु शिष्य की पात्रता, उसका कुल, बुद्धि व आचरण आदि की परीक्षा करके उसे शिष्य रूप में स्वीकार करते थे।[7]

महाभारत काल में वेद संहिता, वेदांग, उपवेद, शास्त्र, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक आदि वैदिक साहित्य के अतिरिक्त सूत्र साहित्य व लौकिक संस्कृत का साहित्य तो था ही साथ ही अनेक भाषाओं का अध्ययन भी किया जाता था। आदि पर्व में एक स्थान पर 'सर्व भाषा विद्,[8] का प्रयोग हुआ है, जिससे सिद्ध होता है कि अनेक भाषाओं का शिक्षण होता था। महात्मा विदुर ने, वारणावत जाते समय, महाराज युधिष्ठिर को 'म्लेच्छ भाषा' में कुछ गुप्त शिक्षा दी थी[9] जिससे अन्य लोग न समझ सकें। म्लेच्छ भाषा का कुछ विशिष्ट व्यक्ति ही अध्ययन करते थे क्योंकि विदुर ने इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया। एकत्रित लोगों में से विदुर व युधिष्ठिर को ही इस भाषा का ज्ञान था।

साधारणतः ब्राह्मण ही अध्यापक होते थे[10] क्योंकि अध्यापन कार्य पर उनका एकाधिकार था। उनका यह परम्परागत कार्य था। महाभारत काल में लेखन-कला व लिपि थी। आदि पर्व में ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही महर्षि व्यास ने गणेश को अपना लेखक बनाया था।[11] इसके अतिरिक्त अक्षरों के अस्तित्व का बोध कराने वाले अनेक

1. शान्ति पर्व-325 वां अध्याय
2. शान्ति पर्व-262 व 263 वां अध्याय
3. वन पर्व-214 वां अध्याय
4. आदि पर्व-1।8, 16
5. शुकदेव (जनक) जाजालि (तुलाधार व धर्मव्यास) शौनकादि (सौति)
6. आदि पर्व-3।81, आदि पर्व-76।35-36, आदि पर्व-131।40-41
7. आदि पर्व-234।11, शान्ति पर्व-327।46-47
8. आदि पर्व-207।39
9. आदि पर्व-145।20
10. उद्योग पर्व-33।57, अनु० पर्व-36।15, शान्ति पर्व-78।43
11. आदि पर्व-1।77-79

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रमाण मिलते हैं। युद्ध क्षेत्र में भीम, अर्जुन, कर्ण आदि के वाणों पर उनके अपने-अपने नाम थे[1] तथा महाभारत के अन्त में उस ग्रन्थ के घर में होने का महात्म्य वर्णित है।[2] सभा पर्व में जब नारद जी युधिष्ठिर के समीप आये तव उन्होंने कुशल प्रश्नों में पूछा "तुम्हारे आय व्यय के हिसाब के लिए नियुक्त गणक-लेखक पूर्वाह्न में ही हिसाब ठीक कर लेते हैं न ?[3] इससे भी सिद्ध होता है कि उस काल में लेखन कला व लिपि का अस्तित्व था। विद्याध्ययन में तीन शत्रु माने जाते थे। सेवा न करना, उतावलापन तथा आत्म प्रशंसा।[4]

विद्यार्थी के लिए—आलस्य, मद-मोह, चंचलता, गोष्ठी, उद्दण्डता, अभिमान और स्वार्थ त्याग का अभाव—इन सात दोषों का त्याग आवश्यक है। सुखार्थी को विद्या तथा विद्यार्थी को सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।[5] ब्राह्मणों के लिए तो वेदाध्ययन आजीवन कर्तव्य था वैसे कुलीन क्षत्रिय व वैश्य भी सांगोयांग वेदों का अध्ययन करते थे। धृतराष्ट्र ने दुर्योधन से कहा—"तुमने कृपाचार्य से निगम, निरुक्त, छन्द आदि वेद के छः अंग, अर्थशास्त्र तथा आठ प्रकार के व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया है।[6]

स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में केवल द्रौपदी और उत्तरा की शिक्षा प्राप्ति का ज्ञान होता है। उत्तरा के शिक्षण के लिये वृहन्नला (अर्जुन) को गृह-शिक्षिका के रूप में रखा गया था।[7] सत्यवती, कुन्ती आदि भी महाभारत के काल में विदुषी थी। महाभारत से पूर्व तो स्त्री शिक्षण का पर्याप्त प्रचार था ही। एक उक्ति में स्त्रियों को 'अशास्त्राः' कहा गया है, जिससे स्त्रियों का शास्त्र से अधिकार समाप्त हो रहा था ऐसा बोध होता है। ब्राह्मण, अध्यापन कार्य निस्वार्थ भाव से करते थे।[8] उस काल के समाज में ऐसी ही प्रथा थी। पर्यटक ऋषि व मुनि ज्ञान के प्रसार के लिये भ्रमण किया करते थे। तीर्थों में देश के कोने-कोने से लोग पहुंचते थे तथा वहीं, ब्राह्मण शास्त्र-ज्ञान का प्रचार व प्रसार करते थे। तीर्थों में, यज्ञों में, इतिहास-पुराण, धर्म शास्त्र, आदि की कथाएं होती रहती थी। महाभारत का प्रथम प्रचार जनमेजय की 'सर्प यज्ञ'[9] में तथा

---

1. द्रोण पर्व-97।7, 123।47, 136।5, 157।37, शान्ति पर्व-24।56
2. स्वर्गा० पर्व-6।89 'भारतं भवने यस्य तस्य हस्त गतो जयः।
3. सभा पर्व-5।72
4. उ०प०-40।4 अशुश्रुषात्वाश्लाघा विद्यायाः शतवः त्रयः।
5. उद्योग पर्व-40।5-6
6. सभा पर्व-49 (दाक्षिणात्य) निरुक्तं निगमं छन्दः सषडंगार्थ शास्वान् ।
   अधीतः वृत विघस्त्वंमष्टव्याकरणः कृपात् ॥
7. अनु० पर्व-40।12
8. अनु० पर्व-10।74
9. आदि पर्व-1।9-11

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

द्वितीय प्रचार कुलपति शौनक के 'द्वादश-वर्षीय सत्र' में हुआ।[1]

वैसे शिक्षा को राज समर्थन प्राप्त था क्योंकि वर्णाश्रम धर्मों को पालन करवाने का राजा का कर्तव्य था तथा धर्म शास्त्रों द्वारा अधिकार भी प्राप्त थे।[2] इसीलिए सभी शिक्षण संस्थाओं का राज्य से सम्बन्ध रहता था। समय-समय पर राजसभा में विद्वान निमंत्रित किये जाते थे। वहां उन्हें सम्मानित किया जाता था। सभी विषयों पर वाद-विवाद होते थे। हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ व द्वारिका में तो विद्वानों का विशेष आदर किया जाता था।[3] इन सभाओं में हम नारद्, व्यास व धौम्य को अनेक बार आते-जाते पाते हैं।

महाभारत के पूर्व काल में मिथिला विद्या का बड़ा केन्द्र था, वह उस काल में भी उसी स्थिति में दृष्टिगोचर होती है। महर्षि व्यास के पुत्र शुकदेव, अध्यात्मज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने मिथिलाधिपति जनक के समीप गये।[4] ब्रह्मचारिणी सुलभा, वशिष्ठ, अष्टावक्र याज्ञवल्क्य, पराशर आदि ऋषि राजा जनक के साथ शास्त्र चर्चा करते रहते थे।[5] बद्रिकाश्रम में महर्षि व्यास अपने पुत्र शुक और अन्य चार शिष्यों को अध्यापन कराते थे।[6] नैमिषरण्य में कुलपति शौनक के यहां हजारों शिष्यों को अध्ययन कराया जाता था। राजा ब्राह्मणों (अध्यापकों से कर नहीं लेता था।[7] साथ ही आश्रमों को यथा शक्ति दान आदि द्वारा सहायता करता था। शिष्य भिक्षावृत्ति करके लाते थे जिससे गुरु की भी वृत्ति चलती थी। अनेक धनी लोग आचार्यों को दान करते, कुछ यज्ञों में बड़ी-बड़ी दक्षिणा मिलती थी।[8] ब्रह्मचर्य आश्रम ही समाज-पोषित वर्ग था, भिक्षावृत्ति ही उनकी आजीविका थी। यही कारण था कि आचार्यगण बड़े, प्रेम प्रसन्नता व परिश्रम से शिक्षण कार्य करते थे तथा शान्तिपूर्वक परिश्रम व लगन से अध्ययन करते थे। छात्रों के विद्वान् होने के अनेक कारण दृष्टिगोचर होते हैं—(1) अध्ययन व अध्यापन धर्म के अंग थे अतः धर्म प्राण आर्यों के लिए यह कार्य धर्म था, भार नहीं। उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी; नहीं तो नरकादिभय व पुनर्जन्म में तिर्यक योनियों में जन्म लेने का भय था। (2) आचार्य अध्यापन कार्य स्वतन्त्र व उच्च चरित्र वाले, ज्ञान सम्पन्न, तपस्वी तथा महर्षि या समाज के महान् सम्माननीय

---

1. आदि पर्व-1।1
2. अनु० पर्व-104।19
3. आदि पर्व-207।38, मौसल पर्व-7।8
4. शान्ति पर्व-325, 326 व 302वां अध्याय
5. शान्ति पर्व-320, 310 व 290वां अध्याय
6. शान्ति पर्व-327वां अध्याय
7. शान्ति पर्व-76।9
8. अनु० पर्व-40।23

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

व्यक्ति होते थे। (3) ब्रह्मचर्य पालन, विद्यार्थी जीवन का प्रधान व अभिन्न अंग था अत: संयमित जीवन के कारण बुद्धि-तेज व परिश्रम करने की क्षमता होती थी। (4) वन में एकान्त में, प्रवृत्ति की गोद में, स्वच्छ हवा में ग्राम्य सुखों से दूर, पवित्र वातावरण में, अध्ययन में एकाग्रता होती थी जबकि उस जीवन का कार्य-केवल गुरु-सेवा व अध्ययन होता था। (5) किसी विद्या को समझने के साथ कण्ठस्थ भी करना पड़ता था। अध्ययन भले ही थोड़ा हो, किन्तु गहन होता था। (6) एक वर्ण का धर्म ही अध्य न-अध्यापन था तथा उनकी आजीविका का साधन भी यही था अत: आचार्य व शिष्य दोनों की अभिरुचि रहती थी। (7) इतने पर भी गुरु शिष्य को परीक्षा की कसौटी पर कसकर स्वीकार करते थे। इस प्रकार परम्परागत कार्य होने के कारण अध्ययन-अध्यापन में यह वर्ग कुशल होता था। इसी कारण विद्या का प्रचार व प्रसार हुआ तथा ठोस कार्य होने के कारण अनेक सहस्त्राब्दियों तक एक-सी ही परम्परा चलती रही तथा रचित ग्रन्थों की रक्षा होती रही। महाभारत काल में विद्या के साथ-साथ विनय, सच्चरित्रता, स्वावलम्बन, कष्ट सहिष्णुता, कठोर तपस्या, संयम आदि जीवन के आदर्श गुण भी रहते थे। इस प्रकार विद्या की सार्थकता चरित्र गठन में मानी जाती थी। 'चरित्रहीन विद्या से व्यक्ति का अपना या समाज का कोई उपकार नहीं होता।'[1]

शिक्षा के लिए पुत्र या शिष्य को ताड़ना देना उचित व आवश्यक माना जाता था।[2] ऐसे शिष्य को विद्यादान नहीं किया जाता था जिससे न धर्म का लाभ होता हो, न अर्थ का तथा जो विद्या प्राप्ति के अनुकूल सेवा भी न करता हो। उसको पढ़ाना ठीक ऊसर भूमि में बीज डालने के तुल्य है। शिष्य को चाहिए कि वह उन गुरुदेव को, दोनों हाथों से सर्वप्रथम प्रणाम करे जिनसे लौकिक, वैदिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया हो।[3]

1. सभा पर्व-5।112, उद्योग पर्व-39।66
2. अनु० पर्व-104।37 अन्यत्र पुत्राच्छिष्यच्च, शिक्षार्थं ताड़नं स्मृतम्।
3. आश्व० पर्व-92।29

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

चतुर्थ अध्यांय

विवाह व्यवस्था एवं अन्य रीति-रिवाज

(क) विवाह व्यवस्था

भूमिका—महाभारत कालीन विवाह-व्यवस्था का वर्णन करने से पूर्व यह ज्ञात होना भी आवश्यक है कि विवाह संस्कार के सम्बन्ध में महाभारत के पूर्ववर्ती काल में क्या स्थिति थी ? इसके लिए वैदिक साहित्य ही प्रमाण है, साथ ही साथ मनुस्मृति एवं वाल्मीकि रामायण भी, महाभारत से प्राचीन रचनाएं होने के कारण पूर्ववर्ती स्थिति के ज्ञान के लिए प्रमाणीभूत हैं। अतः इस सम्पूर्ण साहित्य को आधार मानकर उस काल की स्थिति पर एक विहंगम दृष्टिपात करना मेरा कर्तव्य है।

मनुष्य में ईश्वर प्रदत्त कुछ संस्कार रहते हैं, जिनके द्वारा उसके जीवन का विकास प्रारम्भ होता है। सामाजिक विकास के मूल में भी ये ही संस्कार हैं। आत्मरक्षा, युग्म-भावना, यौन-संस्कार तथा समुदाय-भावना आदि से सम्बन्धित संस्कार मानव जीवन से घनिष्ठ संबंध रखते हैं। वेदकालीन समाज ने इन्हीं संस्कारों को अपने सांस्कृतिक विकास के आधार पर स्तम्भ बनाया था। जैसा कि पिछले अध्यायों में वर्णन किया जा चुका है, भारतीय आर्यों की समाज-व्यवस्था, वर्णाश्रम-धर्म प्रधान थी। इन्हीं चार आश्रमों में से द्वितीय, जो गृहस्थ आश्रम था, इसमें मनुष्य अपना विवाह करके पत्नी सहित प्रवेश करता था। तात्पर्य यह है कि पुरुष तभी गृहस्थाश्रमी हो सकता था जबकि वह विवाह कर ले। ऋग्वेद[1] में "जायेदस्तं" शब्दों द्वारा पटनी के गृहणी पद का सुन्दर विवेचन किया गया है। इस प्रकार प्रारम्भिक काल से ही विवाह संस्कार द्वितीय आश्रम के रूप में अनिवार्य सा हो गया था। गुरुकुल में ब्रह्मचारी विद्याध्ययन समाप्त करके स्नातक बनकर विवाह संस्कार के पश्चात गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था।

1. ऋग्वेद-3।53।4

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऋग्वेद[1] में सूर्या सावित्री के विवाह के प्रकरण में पति अपनी नव विवाहिता पत्नी के विषय में कहता है—"अग्नि ने मुझे यह पत्नी, पुत्र, धन आदि प्रदान किए हैं।" वैदिक काल में पाणिग्रहण संस्कार का उद्देश्य 'सौभगत्व' अर्थात् सुख, समृद्धि व आनन्दादि युक्त जीवन का उपभोग करना तथा 'गार्हपत्य' अर्थात् गृहस्थाश्रम के सब कर्तव्यों का निर्वाह साथ-साथ करना था। यह भी इच्छा रहती थी कि दोनों का साहचर्य आजीवन बना रहे।[2] इस आजीवन साहचर्य का सुन्दर विवेचन इन शब्दों में किया गया है, "यहां रह-कर हम दोनों (पति-पत्नी) एक साथ आजीवन सुख का उपभोग करते हुए पुत्रों व पौत्रों के साथ खेलें व आनन्द मनावें"।[3]

वेद काल—ऋग्वेद काल में ही विवाह संस्कार अपने पूर्ण विकसित रूप में था, यद्यपि उसका प्रत्यक्ष वर्णन नहीं मिलता फिर भी अप्रत्यक्ष रूप में सम्पूर्ण वर्णन मिलता है। इस संस्कार का विशद वर्णन तो ग्रह्य-सूत्रों[4] में ही है किन्तु उसमें जिन वेद मंत्रों का उल्लेख किया गया है उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, सूत्रों में वर्णित सभी प्रथाओं का समावेश हो जाता है। विवाह संस्कार की मुख्य-मुख्य रीतियां इस प्रकार थी—अग्नि परिणयन, अश्मारोहण, लाजा-होन, सप्त-पदी, गृह-प्रवेश, ध्रव दर्शन आदि। अग्नि-परिणयन में वर-वधू को तीन बार अग्नि व जल कलश की प्रदक्षिणा करवाता है और वेद मंत्रों का उच्चारण करता है। अश्मारोहण में अग्नि की प्रदक्षिणा करते समय प्रत्येक बार वर वधू के पैर को पत्थर पर रखता है व कहता है कि "पत्थर के समान तुम स्थिर बनना" (अश्मैवत्वं स्थिराभव)। लाजा होम में वधू अपने भाई द्वारा दी गई लाई को अग्नि में डालती है। सप्त पदी विवाह संस्कार में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वर वधू को पूर्वोत्तर दिशा में सात कदम ले जाता है व वेद मंत्र पढ़ता जाता है। सप्त पदी के पश्चात विवाह पक्का हो जाता है तथा वर वधू आजन्म विवाह-ग्रन्थि में बंध जाते हैं। इसी प्रथा से 'सप्तपदीन् सख्यम्' प्रयोग आजीवन मैत्री के अर्थ में संस्कृत में प्रयुक्त होने लगा।

ये सब प्रथाएं वधू के घर पर होती थी। इसके पश्चात् वर वधू को अपने घर ले जाता था, जहां पर पुनः कुछ रूढ़ियां सम्पादित की जाती थीं, यथा गृह-प्रवेश, ध्रुव दर्शन आदि। गृह-प्रवेश में वधू जब अपने नये घर में प्रवेश करती थीं तब उसे उसके भावी जीवन से सम्बन्धित कितनी ही महत्वपूर्ण बातें कही जाती थीं और स्त्री के गृहणी, माता, सखी आदि के पदों से सम्बन्धित कर्तव्यों पर भी प्रकाश डाला जाता था। उसी समय ध्रुव दर्शन की प्रथा भी सम्पादित की जाती थी, जिसमें वर वधू को ध्रुव दिखाता

---

1. ऋग्वेद-10।85।41
2. ऋग्वेद-10।85।36
3. ऋग्वेद-10।85।42
4. आश्वलायन गृह्य सूत्र-1।7।3-6

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

था। यह प्रथा सम्भवतः इसलिए रखी गई होगी कि वर वधू को ध्रुव तारे को दिखाकर यह संकेत करता था कि 'हमारा व तुम्हारा यह सम्बन्ध इसी प्रकार अचल रहे जिस प्रकार यह तारा अचल रहता है'। इस प्रकार विवाह-संस्कार सम्पादित होता था जिसका उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम आदि की प्राप्ति था।[1] यह विवाह संस्कार स्त्री व पुरुष दोनों को आजीवन एक बंधन में बांध देता था, जिससे कि वे दोनों मिलकर समाज की एक इकाई बन जावें। विवाह एक धार्मिक कृत्य था, जबकि जीवन के उत्तरदायित्वों को सबके सामने सहर्ष स्वीकार किया जाता था।

वैदिक काल में बाल विवाह की प्रथा नहीं थी क्योंकि आश्रम व्यवस्था द्वारा जीवन को चार भागों में बांटा गया था तथा सम्पूर्ण जीवन को सौ वर्ष[2] की अवधि का मानकर उसके चतुर्थांश अर्थात् 25 वर्ष की आयु तक सबको ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन अनिवार्य रूप से करना पड़ता था। तदनन्तर समावर्तन संस्कार के पश्चात् ही पाणि-ग्रहण (विवाह) संस्कार होता था। अतएव पच्चीस वर्ष की आयु से पूर्व किसी का विवाह नहीं होता था। वैदिक विवाह प्रथा का स्पष्ट वर्णन मन्वादि स्मृतियों में प्राप्त होता है, यद्यपि मनुस्मृति वैदिक काल के पश्चात् की रचना है तथापि उसमें वर्णित सामाजिक प्रथाएं व रूढ़ियां बहुत प्राचीन हैं।

ऋग्वेद के वैवाहिक मंत्रों को आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ने से तथा अन्य उल्लेखों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति[3] में वर्णित ब्राह्म, दैव आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस व पैशाच—आठ प्रकार के विवाह महाभारत के पूर्ववर्ती काल में प्रचलित थे। ऋग्वेद काल में भी ब्राह्म, दैव, आर्ष व प्रजापत्य विवाह उच्च वर्णों में प्रचलित थे। ऋग्वेद काल में वर्णित सूर्या सावित्री व सोम के विवाह प्रकरण में हमें ब्राह्म, दैव व प्राजापत्य विवाह के दर्शन होते हैं। श्यावाश्व ऋषि का विवाह आर्ष विवाह का उदाहरण है।[4] वैदिक साहित्य में इस बात का भी उल्लेख है कि कभी-कभी कन्या के लिए मूल्य भी चुकाना पड़ता था। इसी को आसुर विवाह कहा गया है।[5] वर व कन्या का अपनी इच्छा से जो सम्बन्ध होता था वह गान्धर्व विवाह कहलाता था। विमद व पुरुमित्र की कन्या शन्धयु का विवाह[6] व दुष्यन्त शकुन्तला का विवाह, गान्धर्व विवाह के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

वैदिक काल में स्त्रियों के लिए भी ब्रह्मचर्य जीवन आवश्यक था। परिपक्व

1. ऋग्वेद-10।85।36, अथर्व वेद-14।1।50, आश्वालायन-1।7।3
2. यजुर्वेद-36।24, 26
3. मनुस्मृति-10।11
4. ऋग्वेद-5।61
5. ऋग्वेद-1।109।2
6. ऋग्वेद-10।39।6

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अवस्था से पूर्व लड़की का विवाह कदापि नहीं होता था। उसे भावी पति के चुनने में पूर्ण स्वतन्त्रता थी किन्तु सगौत्र विवाह पूर्णतया वर्ज्य था।[1] सूर्या व सोम के विवाह से भी ज्ञात होता है कि विवाह युवावस्था में ही होता था। चारों वर्णों में विवाह सम्वन्ध हुआ करते थे।[2] युवतियां पति का चुनाव करती थी।[3] युवकों व युवतियों में प्रेमालाप हुआ करते थे।[4] साधारणतया एक पत्नी व्रत आदर्श माना जाता था किंतु बहुविवाह व सपत्नी के भी प्रसंग मिलते हैं।[5]

वैदिक काल में यद्यपि युवा विवाह प्रथा के कारण विधवा विवाह का प्रश्न महत्व-पूर्ण नहीं था। फिर भी उल्लेख प्राप्त होते हैं[6]—"हे नारी इस मृत पति को छोड़कर इस जीवित संसार में आओ। तुमसे विवाह करने का इच्छुक जो तुम्हारा दूसरा भावी पति है, उसके पत्नीत्व को प्राप्त होओ।" एक और अन्य स्थान[7] पर अश्विनी कुमारों को सम्बोधित कर कहा गया है—"विधवा जिस प्रकार देवर के साथ रहती है, पुरुष स्त्री के साथ रहता है, इस प्रकार तुम दोनों किसके साथ रहे? अथर्ववेद[8] में भी विधवा विवाह का स्पष्ट उल्लेख आता है। मनु के अनुसार वेन राजा ने विधवाओं का पुर्नविवाह जवरदस्ती करवाया। यह वेन[9] व इसका पुत्र वैन्य[10] (पृथु) ऋग्वेद में उल्लिखित हैं।

महाभारत काल—महाभारत काल के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस काल में भी प्राचीन प्रथाओं का ही प्रचलन था। एक स्थान पर निर्वाह-संस्कार के प्रारम्भिक काल का भी संकेत मिलता है। आदि पर्व में कहा गया है[11] कि उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु द्वारा विवाह प्रथा प्रारम्भ की गई थी। महाभारत काल में भी प्रत्येक गृहस्थ के लिए विवाह एक आवश्यक कर्तव्य था।[12] स्त्री प्राप्ति के दो फल माने

---

1. ए० सी० दास 'ऋग्वैदिक इन्डिया', पृष्ठ 371
2. डा० शिवदत्त ज्ञानी 'वेदकालीन समाज', पृष्ठ 163
3. ऋग्वेद-10।27।12
4. ऋग्वेद-7।62।9, 9।56।3, 10।30।6
5. ऋग्वेद-10।159।5-6, 1।105।8, 10।116। 10 तैत्तरीय, संहिता 6।5।1।4, 6।6।4।3, ऐतरैय, ब्राह्मण-12।11, शतपथ ब्राह्मण-12।4।1।9.
6. ऋग्वेद-10।18।8
7. ऋग्वेद-10-40।2
8. अथर्व वेद-9।5।27
9. ऋग्वेद-10।93।14
10. ऋग्वेद-1।1।2।15
11. आदि पर्व-122।10-20 'मर्यादेयम् कृतं तेनधर्म्यां वे श्वेत केतुना'
12. आदि पर्व-13वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जाते थे—(1) रति सुख, (2) पुत्र प्राप्ति।[1] पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए पुत्र प्राप्ति आवश्यक मानी जाती थी और विवाह करने का भी उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति ही था।[2]

वर्ण व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण को अधिकार था कि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य की कन्या से विवाह कर सकता था, यहां तक कि तीनों वर्णों की तीन पत्नी रख सकता था। इससे त्रिवर्ण की एकता तथा पुरुषों की बहु-विवाह प्रथा का स्पष्ट संकेत मिलता है। क्षत्रिय केवल दो वर्ण (क्षत्रिय व वैश्य) की कन्याओं के साथ विवाह संबंध कर सकता था। वैश्य एक ही वर्ण (वैश्य) की कन्या के साथ विवाह कर सकता था।[3] ब्राह्मण की पत्नियों में ब्राह्मण कन्या श्रेष्ठ, क्षत्रिय की पत्नियों में क्षत्रिय कन्या श्रेष्ठ मानी जाती थी। तीनों से उत्पन्न संतान ब्राह्मण ही होती थी। रत्यर्थ शूद्र कन्या का भी पाणिग्रहण किया जा सकता था, किन्तु इस नियम में मतभेद था, श्रेष्ठ पुरुष, ब्राह्मण का शूद्र कन्या के गर्भ से सन्तान उत्पन्न करना श्रेष्ठ नहीं मानते थे।[4] ब्राह्मण यदि क्षत्रिया से विवाह करता था तो उससे उत्पन्न संतान ब्राह्मण ही होती थी, क्षत्रिय नहीं[5] किन्तु उसी पर्व में आगे कहा गया है कि ब्राह्मण की औरत से और केवल क्षत्रिय की कन्या से ही ब्राह्मण की उत्पत्ति होती है, वैश्य की कन्या से ब्राह्मण की नहीं।[6]

नियोग—प्राचीन काल में संतान प्राप्ति को बहुत महत्व दिया जाता था। प्रत्येक भारतीय पुत्र प्राप्ति की कामना करता था। अतः नियोग की प्रथा वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो गई थी[7]। यह नियोग प्रथा महाभारत काल तक चलती रही। धृतराष्ट्र, पाण्डु व विदुर का जन्म महर्षि व्यास के औरस से नियोग प्रथा द्वारा ही हुआ था।[8] महाभारत काल में यह प्रथा धर्म सम्मत मानी जाती थी।

अनुलोम व प्रतिलोम विवाहों में से, प्रतिलोम विवाह की महाभारत में निन्दा की गई है।[9] फिर भी जिन स्वयंवरों में वीरत्व का प्रण होता हो वहां वर्ण विचार नहीं किया जाता था। रामायण काल के सीता स्वयंवर तथा महाभारत काल के द्रौपदी स्वयंवर से यही भासित होता है। इन स्वयंवरों में वर्ण बन्धन का कोई प्रतिवन्ध नहीं

---

1. सभा-5।112, उद्योग पर्व-37।39 "रति पुत्र फला नारी"।
2. अनु०-68।34, आदि० 74।98
3. अनु० पर्व-44।1।
4. अनु० पर्व-44।12
5. अनु० पर्व-47।13
6. अनु० पर्व-48।4
7. ऋग्वेद-10।85।41; 42, 0।18।7, 8; 10।40।2
8. आदि पर्व-103।10
9. आदि पर्व-81।18-30; 114।12,13

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रखा गया था। कर्ण जब लक्ष्य भेद को गया तब किसी ने उसे जानते हुए भी नहीं टोका, द्रौपदी ने ही स्वयं मना कर दिया।[1] अनुलोम विवाह निन्दनीय होते हुए भी महाभारत में उसके कुछ उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं यथा—

पराशर-सत्वती[2], शान्तनु-सत्यवती[3] आदि। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के अतिरिक्त विवाह के आठ भेद होते थे—(1)ब्राह्म, (2)दैव, (3)आर्ष, (4)प्राजापत्य, (5)असुर, (6)गान्धर्व, (7)राक्षस, और (8)पिशाच[4]। इनमें से ब्राह्म, दैव व प्राजापत्य का विधान ब्राह्मणों के यहां था। क्षत्रियों के यहां गान्धर्व विवाह भी वैधानिक माना जाता था। शेष चार प्रकार के विवाह असभ्य लोगों में प्रचलित होते हुए भी सभ्य समाज में निन्दनीय माने जाते थे।[5]

विवाह के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की प्रथाओं व नियमों का ज्ञान महाभारत के अध्ययन से होता है। विवाह की आयु के सम्बन्ध में दो प्रकार के नियम देखने में आते हैं। कुछ युवतियों के विवाहों को देखकर ऐसा विदित होता है कि विवाह युवावस्था में किया जाता था—इनके नाम इस प्रकार हैं—सत्यवती[6], अम्बिका, अम्बा[6], अम्बालिका[7], गान्धारी[8], कुन्ती[9], द्रोपदी[10], माद्री[11], उलूपी[12], सुभद्रा[13] आदि प्रमुख महिलाओं में से प्रत्येक अपने पूर्ण यौवन काल में परिणीता हुई थी। दूसरी ओर अनुशासन पर्व में[14] भीष्म जी ने युधिष्ठिर को इस प्रकार उपदेश दिया है। तीस वर्ष का पुरुष दस वर्ष की कन्या को, जो रजस्वला न हुई हो, पत्नी के रूप में प्राप्त करे। अथवा इक्कीस वर्ष का पुरुष सात वर्ष की कुमारी से विवाह करे। इस प्रकार इन दोनों तथ्यों पर विचार करने से अवस्था के सम्बन्ध में किसी निर्णय पर नहीं पहुंचा जा सकता। तर्क से यह स्पष्ट होता

---

1. आदि पर्व-187।23 'नाहं वरयामि सूतम्'।
2. आदि०-63।68-82
3. आदि०-100वां अध्याय
4. आदि०-73।8
5. अनु० पर्व-44।9।10
6. आदि०-63वां अध्याय
7. आदि०-102वां अध्याय
8. आदि०-114वां अध्याय
9. आदि०-110 व 111वां अध्याय
10. आदि०-186वां अध्याय
11. आदि०-112वां अध्याय
12. आदि०-213वां अध्याय
13. आदि०-218वां अध्याय
14. अनु० पर्व-44वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है कि 10 व 7 वर्ष की अवस्था वाला सिद्धान्त नियम के रूप में प्रस्तुत किया गया है अतः नियम ऐसा ही होगा जिसका पालन ब्राह्मण, साधारण क्षत्रिय तथा वैश्य आदि प्रजाजन करते थे, क्योंकि उदाहरण रूप में जो युवतियां आई हैं वे सब विशिष्ट हैं—अधिकतर राजकुमारियां हैं। राजाओं में स्वयंवर[1] की प्रथा थी। स्वयंवर 7 या 10 वर्ष की कन्या नहीं कर सकती, किन्तु युवती ही कर सकती है। अतः अनुमान होता है कि राजकुमारियों को शिक्षित[2] भी किया जाता था तथा उनका विवाह युवावस्था में किया जाता था।

कन्या के ऋतुमती होने के पश्चात् तीन वर्ष तक यदि उसके भ्राता आदि अभिभावक विवाह न करें तो चौथा वर्ष प्रारम्भ होने पर वह स्वयं ही किसी को अपना पति बना ले। ऐसा करने पर उस कन्या का उस पुरुष के साथ किया हुआ विवाह तथा उससे होने वाली संतान निम्न श्रेणी की नहीं समझी जाती थी। इस नियम के विपरीत करने वाली स्त्री को प्रजापति की दृष्टि में निन्दनीय माना जाता था।[3] जिस कन्या के पिता या भ्राता न हो अथवा जो माता की सपिण्ड्य या पिता के गौत्र की हो उसके साथ विवाह न करने का नियम था।[4] क्षत्रियादि किसी भी वर्ण के पुरुष के साथ ब्राह्मण कन्या का संयोग अनुचित माना जाता था। ऐसा होने पर वर्ण संकर संतान होती थी। किसी संन्यासिनी के साथ गृहस्थ संयोग, आश्रम, संकरता उत्पादन करने वाला माना जाता था। सगौत्र विवाह नहीं होते थे। सगौत्र विवाह से गौत्र संकरता मानी जाती थी।[5]

आठ प्रकार के विवाह के सम्बन्ध में भीष्म जी ने युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा—'सत्यपुरुषों को चाहिए कि प्रथम वर के शील स्वभाव, सदाचार, विद्या, कुल, मर्यादा और कार्यों की परीक्षा करे। यदि वह सभी दृष्टियों से गुणवान प्रतीत हो तो इस प्रकार के वर को बुलाकर कन्या का दान कर देना श्रेष्ठ ब्राह्मणों का धर्म है (ब्राह्म) जो धन आदि के द्वारा वर पक्ष को अनुकूल करके कन्यादान किया जाता है वह शिष्ट ब्राह्मण और क्षत्रियों का सनातन धर्म है (प्रजापत्य)। जब कन्या के माता पिता अपने पसन्द किये हुए वर को छोड़कर, जिसे कन्या पसन्द करती हो तथा जो कन्या को चाहता हो ऐसे वर को कन्या का विवाह करते हैं तब वेदवत्ता पुरुष उस विवाह को गान्धर्व धर्म कहते हैं। कन्या के बन्धु बान्धवों को लोभ में डालकर उन्हें बहुत-सा धन देकर जो कन्या को खरीद लिया जाता है उसे मनस्वी पुरुष आसुर धर्म कहते हैं। इसी

1. आदि पर्व-112 वां, 185 वां अध्याय, वन पर्व-57 वां अध्याय
2. विराट पर्व-72।4 वस्थया तथा राजन् सह संवत्सरोषितः।
3. अनु० पर्व-44।16-17
4. अनु० पर्व-44।15, 18
5. शान्ति पर्व-320।59

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रकार कन्या के रोते हुए, अभिभावकों को मारकर, उनके मस्तक काटकर, रोती हुई कन्या को उसके घर से बल पूर्वक हर लाना राक्षस-विधि है। इन पांच विवाहों में से पूर्वकथित तीन धर्मानुकूल हैं। शेष दो पापमय हैं। आसुर और राक्षस विवाह किसी प्रकार भी नहीं करना चाहिये। ब्राह्म, क्षात्र एवं गान्धर्व पृथक् हों या मिश्रित, धर्मानुकूल होने से करने योग्य हैं।[1]

विवाह संस्कार विधि—वर पक्ष ही कन्या के लिये प्रथम प्रस्ताव रखता था।[2] ब्राह्मण विवाह सम्बन्ध में मध्यस्थता करते थे।[3] इसके पश्चात् कन्या पक्ष वाले यदि प्रस्ताव को स्वीकार करते थे तो वर को कन्या का वाग्दान करते थे।[4] कभी-कभी कन्या पक्ष वाले वर पक्ष वालों के यहां आकर कन्या दान करते थे।[5] विवाहोत्सव में अपने सम्बन्धियों का निमन्त्रित किया जाता था।[6] उस काल में भी विवाह की लग्न निश्चत् की जाती थी, हवन आदि क्रियाएं की जाती थी।[7] वर एवं वधू अग्नि की प्रदक्षिणा करते थे।[8] वर वधू का पाणिग्रहण करके उसे स्वीकार करता था।[9] अन्त में सप्तपदी की विधि का सम्पादन किया जाता था। सप्त पदी के पश्चात् ही विवाह पूर्ण माना जाता था।[10] विवाहोत्सव में शिल्पकारी से युक्त सुन्दर मण्डपों का निर्माण किया जाता था। यत्र तत्र मण्डपों का बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है।[11] कन्यादान के समय कन्या पक्ष वाले अनेक प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएं, रत्न स्वर्ण आदि दहेज में देते थे।[12] उत्तम-उत्तम पदार्थ भोजन के लिये बनाये जाते थे एवं श्रेष्ठ पेय पदार्थ भी पानार्थ दिये जाते थे।[13] आत्मीय स्वजन वर पक्ष वालों को भेंट भी देते थे। अभिमन्यु के विवाह में श्रीकृष्ण ने पाण्डवों के लिये अनेक प्रकार की बहुमूल्य भेंट प्रदान की थी।[14]

---

1. अनु०पर्व-44।4-10
2. आदि पर्व-100।75,110।11, 114।13
3. आदि पर्व-110।9
4. अनु० पर्व-44।34, अनु० पर्व-44।35,36, 44।51
5. आदि-100।100,110।15-16
6. विराट पर्व-72 वां अध्याय
7. अनु० पर्व-44।25-27, 146।34, 44।56
8. आदि पर्व-199।12
9. आदि पर्व-73।20 जग्राह विधिवत् पार्णा। आदि पर्व-199।5
10. अनु० पर्व-44।55, द्रोण पर्व-56।16
11. आदि पर्व-185।18-22, विराट पर्व-72।27,72।40
12. आदि पर्व-199।15-17, 281।44-50, विराट पर्व-72।36, 37
13. विराट पर्व-72।37-40
14. आदि पर्व-199।13-18

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

महाभारत काल में विवाह के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विधि-निषेध प्रचलित थे। कौन-सी कन्या विवाह के योग्य है, कौन-सी अयोग्य इसका ध्यान रखा जाता था। वर के सम्बन्ध में भी ऐसा ही विचार किया जाता था। कन्या के शारीरिक शुभाशुभ लक्षण भी देखे जाते थे। इसका उल्लंघन नहीं किया जाता था क्योंकि ऐसा करने पर वर-कन्या के दुर्भाग्यग्रस्त रहने का भय रहता था। यह व्यवस्था हिन्दू समाज में आज तक चली आ रही है। प्राचीन भारत में विवाह धर्म के अपरिहार्य अंग के रूप में माना जाता था। संस्कारों में भी विवाह को सर्वाधिक प्राधान्य दिया जाता था।[1] वर एवं कन्या के वंश की परीक्षा की जाती थी। ऐसी मान्यता थी कि उत्कृष्ट या समान कुल की कन्या ग्रहण करने से विवाह का फल शुभ होता है। हीनांगी, अधिकांगी, वयो ज्येष्ठा, प्रव्रजिता, अन्यासक्ता, पिंगल वर्णा, चर्म रोगग्रस्ता, कुष्ठी तथा मिरगी या श्वेत कुष्ठ वाले कुल की कन्या विवाह के लिए अतिशय निन्दनीय मानी जाती थी।[2]

वर के भी शारीरिक लक्षणों का विचार किया जाता था। जिन अशुभ लक्षणों के कारण कन्या को वर्जित बताया गया है, वर के लिए भी वे समस्त लक्षण सम्पूर्ण रूप से लागू होते हैं। "सर्वांग सुन्दरी कन्या को माता-पिता उसके अनुरूप वर को सौंप दें, अन्यथा उन्हें ब्राह्म-हत्या के समान पाप लगेगा।"[3] इस उक्ति से समझा जा सकता है कि वर के शारीरिक शुभ लक्षण देखना भी आवश्यक माना जाता था। महाभारत के शास्त्रीय सिद्धांत मनु संहिता के अनुरूप हैं तभी तो व्यास देव स्थान-स्थान पर अपने अभिमत के समर्थन के लिए मनु के वचन उद्धृत करते हैं। मनु की व्यवस्था के अनुसार वर अपने वंश व नाना के वंश में विवाह नहीं कर सकता। नाना के वंश के साथ रक्त संबंध होने के कारण पंचम स्थानीय कन्या तक विवाह के अयोग्य है तथा पिता से गणना करके सप्तम स्थानीय कन्या हो तो वह भी विवाह के अयोग्य है।[4] इसी प्रकार समान गोत्रा या समान प्रवरा कन्या से विवाह करना भी निषिद्ध माना जाता था,[5] परन्तु महाभारत में इस नियम का अपवाद पूर्णरूपेण देखने को मिलता है उस काल के आदर्श पुरुषों ने इस नियम का उल्लंघन किया तथा किसी ने भी उन्हें निन्दनीय या समाज-भ्रष्ट नहीं बलताया। उदाहरणार्थ—अर्जुन ने सुभद्रा से विवाह किया जो उनके मातुल

---

1. अनु० पर्व-45।9
2. अनु० पर्व-104।131-136
3. अनु० पर्व-44।3, 36
4. अनु० पर्व-44।18 असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
   इत्येतामनुगच्छेत तं धर्ममनुरब्रवीत ॥
5. अनु० 104।131

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की पुत्री थी।[1] इस विवाह में श्रीकृष्ण उनके सहायक रहे एवं धर्मराज युधिष्ठिर से अर्जुन ने इस विवाह की अनुमति प्राप्त की थी। इस विवाह को अधर्म भी नहीं कहा गया। सहदेव ने भद्रराज कन्या (अपने मामा शल्य की पुत्री) से विवाह किया। शिशुपाल ने भद्रा से एवं परीक्षित ने अपने मातुल उत्तर की कन्या इरावती से विवाह किया। प्रद्युम्न ने अपने मामा रूक्मी की पुत्री से तथा उनके पुत्र ने रूक्मी की पौत्री रूकमवती से विवाह किया।[2] इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि मनु का यह नियम वंधन, जिसे भीष्म भी पालनीय मान रहे हैं, शिथिल पड़ गया था।

सहोदर भाइयों में ज्येष्ठ के अविवाहित रहते, कनिष्ठ विवाह नहीं कर सकता था। यदि करता था तो उसे प्रायश्चित करना पड़ता था। उसके अतिरिक्त उसके अविवाहित अग्रज को तथा उसकी पत्नी को भी प्रायश्चित करना पड़ता था। पुत्रवधू की भांति व्यवहार करने के लिए, कनिष्ठ भ्राता अपनी पत्नी को ज्येष्ठ भ्राता के समक्ष उपस्थित करके, उसे पुनः पत्नी रूप में ग्रहण करके प्रायश्चित करता था। साथ ही ज्येष्ठ भ्राता यदि विवाह का अनिच्छुक हो और लघु भ्राता को विवाह करने की अनुमति दे दे या पतित हो, तो कोई पाप नहीं लगता। इस प्रकार विवाह करने वालों को 'परिवक्ता' और अविवाहित ज्येष्ठ भ्राता को 'परिवित्ति' कहा जाता था।[3] इस नियम का उल्लंघन केवल भीम के हिडिम्बा राक्षसी के साथ, युधिष्ठिर के विवाह के पूर्व, विवाह करने में दिखाई देता है।[4] जो विशेष परिस्थिति वश भीम की अनिच्छा व कुन्ती एवं युधिष्ठिर की आज्ञा से किया गया था अतः उपर्युक्त नियमानुसार ही कोई पाप कर्म नहीं था क्योंकि उस समय विवाह के अनिच्छुक युधिष्ठिर ने आज्ञा दे दी थी।

वर की भांति कन्या के विवाह के सम्बन्ध में भी ऐसा ही नियम था।[5] श्वसुर की ज्येष्ठ कन्या के विवाह से पूर्व कनिष्ठा का पाणिग्रहण करना निषिद्ध माना जाता था एवं कनिष्ठा के पाणिग्रहण के पश्चात् उसकी ज्येष्ठा भगिनी से जो व्यक्ति विवाह करे, उसे भी प्रायश्चित करना पड़ता था। किन्तु ज्येष्ठा यदि आमरण ब्रह्मचर्य पालन करना चाहे अथवा दीर्घकाल से रोगग्रस्त होने के कारण उसका विवाह न हो तो, कनिष्ठा के विवाह से वर या कन्या किसी को पाप नहीं लगेगा। जो कन्या मातृहीना हो, उससे विवाह नहीं करना चाहिए।[6] गुरु कन्या के साथ विवाह सम्बन्ध निषिद्ध था किन्तु गुरु की विशेष आज्ञा, स्नेह अथवा उत्कट इच्छा के सम्मुख नत होकर शिष्य को यह विवाह

---

1. आदि पर्व-213।14, 15
2. विष्णु पर्व-61वां अध्याय
3. शान्ति पर्व-165।68-70, शान्ति पर्व-34।4
4. आदि पर्व-155वां अध्याय
5. शान्ति पर्व-34।4
6. अनु० पर्व-44।15

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

स्वीकार करना पड़ता था[1] तथा कोई पाप नहीं लगता था।

महाभारत काल में भी लड़की का विवाह करना उसके माता-पिता के अधिकार का ही विषय था न कि उसका स्वयं का। कन्या को अपना वर ढूंढने की अनुमति देना अभिभावकों के लिए सर्वथा गर्हित था। स्वयंवर को भी अधिक मान्य नहीं समझा जाता था, वे अपवाद स्वरूप ही होते थे। कन्या को अपना पति स्वयं चुनने का अधिकार नहीं था।[2] महाभारत काल में किसी-किसी समाज में शुल्क प्रथा विद्यमान थी किन्तु यह शुल्क अधिकतर वरपक्ष वालों को कन्या पक्ष वालों के लिए देना पड़ता था। चाहे वह किसी रूप में हो। सत्यवती के पिता धीवरराज ने अपनी कन्या का शुल्क, उसके पुत्र के लिए राज्य का उत्तराधिकार मांगा था तथा यह शुल्क लेकर ही विवाह किया।[3] गंगादेवी ने भी अपने विवाह के उपलक्ष में मांग की थी जो शान्तनु को पूरी करनी पड़ी थी।[4] किसी अभिजात कुल में कन्या पक्ष का शुल्क ग्रहण कुल प्रथा के रूप में प्रचलित था। वर पक्ष के भीष्म ने मद्रदेश की राजधानी में उपस्थित होकर जब माद्री का विवाह पाण्डु के साथ करने का प्रस्ताव किया तब शल्य सहर्ष अनुमति देते हुए बोले, "ऐसे वर को भगिनी दान करना बहुत हो प्रशस्य है, किन्तु तब भी आपको थोड़ा शुल्क देना पड़ेगा। यह बात कहते हुए मुझे लज्जा आ रही है, परन्तु आप तो हमारे कुल धर्म के विषय में जानते ही हैं। साधु हो या असाधु, कुल धर्म तो छोड़ नहीं सकता"[5] नियमानुसार कन्या या पुत्र के विवाह के सम्बन्ध में शुल्क ग्रहण करना उन्हें शुल्कदाताओं को बेच देना माना जाता था तथा कन्या का शुल्क लेकर विवाह करने को दान नहीं माना जाता था।[6] अति प्राचीन काल से ही शुल्क ग्रहण प्रथा की निन्दा होती चली आ रही है। कम हो या अधिक, शुल्क स्वरूप कुछ लेना ही विक्रय के समान है। लोभवश शुल्क ग्रहण करना धर्म संगत नहीं है। पशु बेचना भी अनुचित है फिर मनुष्य की तो बात ही क्या है। विशेषतः पुत्र व कन्या का विक्रय करना तो अतिशय गर्हित हैं।[7]

कन्या के निमित्त अलंकार ग्रहण करना दोषयुक्त नहीं माना जाता था। इस रूप में विक्रय नहीं है। वर पक्ष से आमरण आदि लेकर कन्या को देने की प्रथा अति प्राचीन है।[8] इस प्रकार कन्या के आमरणार्थ जो शुल्क दे देता था वही धर्मानुसार विवाह का

1. वन०-132।9, अश्व० पर्व-56।23-24
2. अनु० 45।4-9, आदि पर्व-63-75
3. आदि पर्व-100।56-96
4. आदि पर्व-98।3-5
5. आदि पर्व-113।9-16
6. अनु० पर्व-44।31
7. अनु० पर्व-45।18-22 "यो मनुष्यः स्वकं पुत्रं विक्रीय धन भिच्छति" आदि
8. अनु० पर्व-44।32, 33

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अधिकारी माना जाता था, अन्य नहीं।[1] शुल्कदान के पश्चात् विवाह के पूर्व ही यदि शुल्कदाता दीर्घकाल के लिए कहीं विदेश चला जाय, तो वाग्दत्ता कन्या किसी उत्तम पुरुष के संसर्ग से संतान प्रसव कर सकती थी, किन्तु वह सन्तान शुल्कदाता की सन्तान कहलाती थी, बीजी का उस पर कोई अधिकार नहीं होता था।[2]

विवाह के लिए प्रथम प्रस्तावक वर पक्ष ही होता था। शन्तनु धृतराष्ट्र, पाण्डु, विदुर आदि प्रमुख व्यक्तियों के विवाह में उनकी ओर से ही प्रथम प्रस्ताव किया गया था।[3] महाराज विराट ने पाण्डवों को पहिचान कर अपनी पुत्री उत्तरा के विवाह का प्रस्ताव किया था किन्तु अर्जुन ने उसे स्वीकार न करके अपने पुत्र के साथ विवाह होने का प्रस्ताव किया और वही हुआ।[4] कन्या पक्ष के द्वारा वाग्दान कर देने के पश्चात् भी यदि वर के शारीरिक या चरित्रगत दोष के विषय में पता लगे तो दूसरे पात्र को कन्या दान करना ही उचित है, पाणिग्रहण से पूर्व केवल वाग्दान से ही कौमार्य भंग नहीं होता।[5] जो लोग भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से कहते हैं कि 'मैं आपको अपनी कन्या दूंगा' या 'नहीं दूंगा' या 'अवश्य दूंगा' उनकी ये सभी बातें कन्या देने से पूर्व नहीं कही हुई के ही तुल्य हैं। जब तक कन्या का पाणिग्रहण न हो जाय तब तक कन्या-वर परस्पर एक दूसरे की याचना कर सकते हैं।[6] अयोग्य वर को कन्या नहीं देनी चाहिए क्योंकि सुयोग्य पुरुष को कन्या दान करना ही काम सुख और सुयोग्य संतान उत्पत्ति का कारण है।[7] कन्या का पिता एक वर से शुल्क लेने पर भी अन्य किसी गुणवान् वर का आश्रय ले सकता है, जो क्रय या शुल्क को मान्यता देते हैं वे धर्मज्ञ नहीं हैं, ऐसे लोगों को कन्या नहीं देनी चाहिए तथा जो विक्रय की जा रही हो, ऐसी कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए, क्योंकि भार्या किसी प्रकार क्रय-विक्रय की वस्तु नहीं है।[8] जहां उत्तम पात्र मिलता हो वहीं कन्या देनी चाहिए। इसके विपरीत कोई विचार मन में नहीं लाना चाहिए। शुल्क देने वाला यदि जीवित हो तो भी सुयोग्य वर मिलने पर सज्जन पुरुष उसी के साथ कन्या का विवाह करते हैं, फिर मर जाने पर यदि अन्यत्र करें, इसमें तो संदेह ही क्या है ?[9] शुल्क देने वाले की मृत्यु होने पर वह कन्या या तो उसी के छोटे भाई के साथ विवाह करे अथवा जन्मांतर में उसी पति को पाने की इच्छा से उसी

1. अनु० पर्व-45।2
2. अनु० पर्व-45।3
3. आदि० पर्व-100।75, आदि० 110।11, 113।6, 114।13
4. विराट पर्व-71 व 72वां अध्याय
5. अनु० पर्व-44।3, 54
6. अनु०-44।34, 35
7. अनु०-44।36
8. अनु०-44।43-46
9. अनु०-44।51

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का चिन्तन करती हुई आजीवन कुमारी रहकर तपस्या करे।[1] भले ही वैवाहिक क्रय मंगलाचार आदि हो गए हों, छः परिक्रमा हो गई हों, पर पाणिग्रहण व सातवीं परिक्रमा न हुई हो तब तक भी कन्या अविवाहित ही मानी जाएगी।[2] जो अनुकूल हों, वंशानुरूप हो, अपने पिता या भ्राता द्वारा दी गई हो, प्रज्वलित अग्नि के समीप बैठी हो, ऐसी पत्नी को श्रेष्ठ द्विज अग्नि की परिक्रमा करके शास्त्र विधि के अनुसार ग्रहण करे।[3]

सन्तानोत्पति में असमर्थ होने पर कोई-कोई पुरुष अपनी पत्नी से किसी दूसरे उत्कृष्ट पुरुष के संयोग द्वारा पुत्रोत्पति की व्यवस्था करते थे। कभी-कभी पति की मृत्यु होने पर अपुत्रा नारी वंश लोप के डर से किसी उत्तम पुरुष के संयोग से गर्भधारण करती थी। इसी प्रकार के संयोग को नियोग प्रथा कहते थे और इस प्रकार उत्पन्न पुत्र को क्षेत्रज कहा जाता था। यह नियम धर्म विगर्हित नहीं था। उस काल के समाज में यह प्रथा प्रचलित थी[4]। परवर्ती काल में सूत्र ग्रन्थों[5] में कलियुग के लिये इस प्रथा का निषेध किया गया है। परशुराम द्वारा पृथ्वी के क्षत्रियहीन कर दिये जाने पर क्षत्रिय युवतियां वंश रक्षा के निमित्त ब्राह्मणों की शरणापन्न हुईं। शंशितव्रत तपस्वी, ब्राह्मणों ने धर्मबुद्धि से समागमर्थिनी विधवाओं का गर्भाधान किया। उन्होंने केवल ऋतुकाल में ही अभिगमन किया। कामनावश स्पर्श भी नहीं किया।[6] श्रीकृष्ण द्वैपाथन व्यास के औरस से नियोग द्वारा धृतराष्ट्र, पाण्डु व विदुर की उत्पत्ति हुई।[7] सत्यवती ने जब वंशरक्षा हेतु भीष्म से नियोग का अनुरोध किया था तब भीष्म से कहा "तुम श्रुति, स्मृति, वेदांग आदि सब शास्त्रों के तत्व से अवगत हो अतः शान्तनु के वंश की प्रतिष्ठा का भार अब तुम्हारे ऊपर है। अकाल में परलोक गत निःसन्तान विचित्र वीर्य की रूप यौवन सम्पन्न दोनों बहुयें पुत्र कामिनी हैं। हे भीम तुम मेरे नियोग के अनुसार उनके गर्भ में सन्तान की उत्पत्ति करके धर्म की रक्षा करो।"[8] अन्य सब लोगों ने भी यही अनुरोध किया। इस पर भीष्म ने यह उत्तर दिया—"माता, आपने जो भी कहा है, वह धर्म शास्त्रों द्वारा अनुमोदित है, इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु आप तो मेरी प्रतिज्ञा को जानती हैं।[9] 'मैं किसी भी तरह प्रतिज्ञा भंग नहीं कर सकता।" आगे फिर कहा—

---

1. अनु०-44-52
2. अनु०-44।53-54
3. अनु०-44।56
4. आदि पर्व-103।10, 122।25, सभा पर्व-41।24
5. आप० धर्मसूत्र-2।10।27।2-6
6. आदि पर्व-64।4-6
7. आदि पर्व 105 वां अध्याय
8. आदि पर्व-103।1-11
9. आदि पर्व-103।13, 14

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

"माता, किसी गुणवान् ब्राह्मण को धन रत्न आदि देकर इस कार्य में नियोग कराने को मैं उचित समझता हूं।[1] व्यास ने भी सत्यवती को विदुषी बतलाकर उनकी प्रशंसा करके इस विधि को धर्मानुकूल कहा एवं माता की आज्ञा का पालन किया।[2] पाण्डु के नियोगानुसार कुन्ती ने भी धर्म, वायु व इन्द्र के औरस से तीन पुत्र युधिष्ठिरादि उत्पन्न किये।[3] पाण्डु द्वारा चतुर्थ पुत्र की इच्छा से अधिक पुत्रों की उत्पत्ति की आकांक्षा करने को निन्दनीय बतलाया क्योंकि उस काल में दो पुत्र वाले को पुत्रवान नहीं माना जाता था। तीन पुत्र उत्पन्न हो जाने पर ही 'निपुत्री दोष दूर होता था।[4] इसलिये तीन पुत्र तक (नियोग द्वारा) उत्पन्न करने की धर्मशास्त्र की आज्ञा थी। धर्म का नियम था कि आपातकाल में भी जो नारी चार बार परपुरुष का संसर्ग करती है वह 'स्वैरिणी' कहलाती हैं और जो पांच बार ऐसा कार्य करती है, वह वेश्या के समान है।[5] नियोग प्रथा के पूर्ण रूप से प्रचलित होने पर भी तथा धर्म-बुद्धि होने पर भी स्त्रियां पर पुरुष समागम में अधर्म की शंका करती थी। अम्बिका व्यास के समागम के लिये बड़ी कठिनाई से सहमत हुई थी।[6] उसी प्रकार कुन्ती ने पाण्डु को उत्तर दिया था—"हे धर्मज्ञ, आप पर पूर्णरूप से आसक्त इस धर्म पत्नी को ऐसा आदेश न दीजिये।[7] समाज में नियोग प्रथा प्रचलित होते हुए भी उससे उत्पन्न 'क्षेत्रज' पुत्र को समाज अच्छी दृष्टि से नहीं देखता था। परीक्षा के रंगमंच पर जब भीम ने कर्ण को सूतपुत्र कहा, तब प्रत्युत्तर में दुर्योधन ने कहा "भीम, कर्ण का उपहास करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है। तुम्हारे जन्म का वृत्तान्त भी हम लोग जानते हैं।"

इन सभी प्रसंगों को पढ़कर ज्ञात होता है कि महाभारत काल में नियोग प्रथा तत्कालीन समाज व्यवस्था के विरुद्ध नहीं थी किन्तु सम्मान्य भी नहीं थी। भले ही धर्म सम्मत थी। वर्तमान काल में परवर्ती व्यवस्था के अनुसार नियोग प्रथा के 'कलिवर्ज्य' रीतियों के अंतर्गत वर्जित है।[8]

विधवा विवाह के सम्बन्ध में भी महाभारत में यत्र-तत्र वर्णन मिलते हैं। पति के अभाव में देवर को पतिरूप में वरण करने के समर्थन में कुछ वाक्य ही मिलते हैं।[9]

---

1. आदि पर्व-104।2
2. आदि पर्व-104।39-40
3. आदि पर्व-122 वां अध्याय
4. अनु० पर्व-69।19 अपुत्रतांत्रयः पुत्राः
5. आदि पर्व-122।77
6. आदि पर्व-105।54
7. आदि पर्व-121।2
8. आप० धर्मसूत्र-2।6।14।2-6
9. अनु० पर्व-8।22 नारीतु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम्। आदि-120।35

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

किन्तु देवर को पति के रूप में वरण करने के कई उदाहरण मिलते हैं। पुत्र निरूपण प्रसंग में 'पौनर्भव' पुत्र का वर्णन किया गया है। 'पौनभर्व' पुत्र की जननी एक बार से अधिक विभिन्न पति ग्रहण करती रहती है।[1]

किन्तु कलियुग में विधवाओं का अन्य पाणिग्रहण या देवर द्वारा सुतोत्पति विहित नहीं है।[2] नीलकंठ ने भी अपनी टीका में विधवा विवाह का निषेध किया है।[3]

महाभारत काल में पुरुष यदि चाहता तो एक से अधिक विवाह कर सकता था एवं पत्नी वियोग होने पर पुनर्विवाह करने में कोई वाधा नहीं पड़ती थी। कहा गया है कि पुरुषों के लिये बहुपत्नीत्व दोष नही है, इससे धर्म हानि नहीं होती।[4] विचित्र वीर्य, पाण्डु एवं युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डवों की एक से अधिक पत्नियां थीं। विचित्र वीर्य की अम्बिका व अम्वालिका, पाण्डु की कुन्ती एवं माद्री, युधिष्ठर की द्रौपदी तथा गौवासन शैव्य की देविका नामक कन्या, भीम की हिडिम्बा तथा शल्य भगिनी काली एवं काशीराज-दुहिता वलंधरा, अर्जुन की उलूपी व सुभद्रा, नकुल की करेणुमति तथा सहदेव की शल्य सुता विजया एवं जरासंध की दुहिता।

वहु विवाह के समाज में प्रचलित होने पर भी महाभारत में एक पत्नीत्व को ही प्रशस्त कहा गया है।[5] वहुपत्नियां होने पर सबके प्रति समान प्रीति-व्यवहार किया जाता था। महाभारत काल में दासियां भी अपने स्वामियों की स्त्री रूप में ही मानी जाती थी। उनके शरीर पर उनके स्वामी का पूर्ण अधिकार रहता था। दासी से उत्पन्न विदुर को भी उनका 'क्षेत्रज' पुत्र कहा गया है। उनके विशेषण प्रयुक्त हैं--- 'कुरू वंश विवर्धन।'[6] अत: दासी भी क्षेत्र (स्त्री) मानी जाती थी।[7]

सती प्रथा—-महाभारत काल में सती प्रथा अपने स्वाभाविक रूप में थी कृत्रिम रूप में नहीं, जो स्त्री स्वयं की इच्छा से पति का अनुगमन करना चाहती थी वह सती हो जाती थी, भले ही उसके कुटुम्बी उसे मना करते थे। कुन्ती आदि के रोकने पर भी माद्री, पाण्डु के शव के साथ चितारोहण कर गई।[8] वसुदेव की पत्नी देवकी, रोहिणी, मद्रा और मदिरा—इन चारों ने पति के साथ सहगमन किया था।[9] कृष्ण के

---

1. आदि पर्व-120।33 (नील कंठ)
2. 'धर्म शास्त्र का इतिहास', खण्ड दो, अध्याय 14
3. शान्ति पर्व-72।12, "कलौदेवरात् सुतोत्पत्तेर्निषेधात्" (नील कंठ)
4. आदि पर्व-158।36, अश्व पर्व-80।18 आदि० 195।27
5. शान्ति पर्व-144।7
6. आदि पर्व-106।32, 144।14 विदुर : कुरू नन्दन:
7. आदि पर्व-106।32
8. आदि पर्व-124।11
9. मौसल पर्व-7।24

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

देहत्याग पर उनकी कई पटरानियों ने सहगमन किया था।[1] किन्तु यह अनिवार्य नहीं था परन्तु प्रशंसनीय था।

बहुपति प्रथा—महाभारत काल में 'बहुपति प्रथा' नहीं थी। द्रौपदी का जो पांचों पाण्डवों के साथ विवाह हुआ, वह सामाजिक नियम का अपवाद था। आदि पर्व[2] में व्यास जी ने दिव्य दृष्टि से द्रौपदी की पूर्वजन्म की कथा सुनाई। पूर्वजन्म में एक कुमारी को कोई पति नहीं मिला, तब उसने घोर तपस्या की। उसकी तपस्या से भगवान् शंकर, प्रसन्न होकर प्रकट हुए तथा वर मांगने को कहा। उसने शंकर से पांच बार 'सर्वगणोपेतं वरभिच्छामि' कहा।[3] अतः शंकर ने तथास्तु कहकर कहा कि 'तुम्हारे पांच भरतवंशी पति होंगे।[4] कन्या ने एक पति प्राप्ति के लिये प्रार्थना की किन्तु भगवान् शिव ने स्वीकार नहीं की, उन्होंने कहा कि 'तुमने अपना वर पांच बार मांगा है अतः पांच पति ही मिलेंगे।[5] यदि बहुपति प्रथा होती तो कन्या वर का निषेध न करती। इसके अतिरिक्त सम्भ्रान्त कुलों की कुमारियों के एकाधिक पतियों के साथ विवाह की कहीं चर्चा भी नहीं है। साथ ही वह प्रसंग भी विचारणीय है जब कुन्ती ने भिक्षा को विना देखे ही, बाहर से यह कहने वाले अर्जुन को 'भिक्षा लाये हैं।'[6] ऐसा कह दिया कि "लाये हो तो सब मिलकर भोग (भोजन) करो।" कुन्ती ने बाहर आकर जब द्रौपदी को देखा तो बड़ी चिन्ता व्यक्त की और कहा "हाय मेरे मुंह से बड़ी अनुचित बात निकल गई।"[7] वे अधर्म के भय से बड़ी चिन्ता में पड़ गई। फिर कुन्ती देवी द्रौपदी का हाथ पकड़ कर युधिष्ठिर के पास गई व समस्त घटना सुनाकर कहा "बेटा, मुझसे यह प्रमादवश निकल गया, अब मेरी बात कैसे झूठी न हो तथा कृष्णा को भी न तो पाप लगे तथा न नीच योनियों में भटकना पड़े।"[8] युधिष्ठिर ने द्वैपायन व्यास के वचनों को याद कर पांचों कुमारों के साथ द्रौपदी का विवाह होना स्वीकार कर लिया। यह एक विशेष घटना है साधारण प्रथा नहीं। इस घटना को सुनकर महाराज द्रुपद ने भी कहा था कि "एक पुरुष की वहुत-सी पत्नियां हों, ऐसा विधान तो वेदों में देखा गया है पर एक स्त्री के अनेक पति हों ऐसा कहीं सुनने में नहीं आया है।"[9]

---

1. मौसल पर्व-7।73
2. आदि पर्व-168 वां अध्याय
3. आदि पर्व-168।10
4. आदि पर्व-168।11
5. आदि पर्व-168।12-13
6. आदि पर्व-190।1
7. आदि पर्व-190।2
8. आदि पर्व-190।5
9. आदि पर्व-195।7-9 'एकस्य वह्व्यो जाया भवन्ति नैकस्यै बहवः सहपतयः

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यदि कोई ऋतु स्नाता स्त्री किसी पुरुष से प्रार्थना करे, तो उसकी उपेक्षा करना महाभारत काल में पाप माना जाता था। टीकाकार नीलकंठ ने इस विषय पर श्रुति को उद्धृत करते हुए कहा है—समागमार्थिनी नारी को निराश करना उचित नहीं है, यह वामदेव्य व्रत में उल्लिखित है, किन्तु तेजस्वी पुरुषों की समानता नहीं की जा सकती। साधारण वर्ग में पर-पुरुष गमन एवं पर-स्त्री-गमन दोनों ही दोषयुक्त हैं। तेजस्वी तपस्वियों के आचरण साधारण समाज के लिये अनुकरणीय नहीं है।[1]

किसी स्त्री से यदि कोई पुरुष वलात्कार करता था तो वह स्त्री दोषी नहीं मानी जाती थी, हां, वह नर-पशु तो दोषी व निन्दनीय होता ही था साथ ही साथ उस स्त्री का पति भी कायर कहा जाता था। चूंकि स्त्रियों को स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी, वे पुरुषों के अधीन थी इसलिये आपत्ति में यदि पुरुष उनकी रक्षा न कर सके तो वह पुरुष ही नहीं है! इस कार्य में पुरुष की ही अक्षमता मानी जाती थी, नारी का कोई दोष नहीं। स्वेच्छा से व्यभिचार करने पर कठोर दण्ड दिया जाता था।[2] परदारगमन की भी उस काल में वहुत निन्दा की जाती थी। ऐसा माना जाता था कि परदारगमन से वढ़कर आयुक्षय-कारी अन्य कोई कार्य नहीं।[3] अनेक प्रकार के कठोर प्रायश्चितों का विधान था तथा नरकों में अनेक प्रकार की यातनाएं भोगने का भय था। अतः स्पष्ट है कि व्यभिचार को रोकने के लिये महाभारत कालीन समाज में अत्यधिक कठोर व्यवस्था थी।[4]

दरिद्र पुरुष का धनी कन्या के साथ विवाह करना, कष्टदायक माना जाता था। जिनकी आर्थिक अवस्था एवं शिक्षा दीषा समान हो, उनमें विवाह आदि सम्बन्ध व मित्रत्व स्थापित करना अच्छा माना जाता था।[5]

(ख) नारी

महाभारत के आलोचनात्मक अध्ययन से प्रकट होता है कि यद्यपि नारी के सम्बन्ध में यत्र-तत्र परस्पर विरोधी विचार हैं तथापि उस काल में नारी का स्थान समाज में आदरणीय व महत्वपूर्ण था। वर्णाश्रम व्यवस्था में गृहस्थाश्रम को सर्वाधिक महत्व-पूर्ण माना जता था।[6] गृहस्थाश्रम एकाकी पुरुष द्वारा सम्भव नहीं था। पुरुष व स्त्री दोनों का विवाह संस्कार हो जाने के पश्चात ही वे गृहस्थ कहलाते थे।[7] तथा गृहस्थाश्रम

1. आदि पर्व-122 वां अध्याय
2. शान्ति पर्व-165।64, 65
3. अनु० पर्व-104।20, 21
4. शान्ति पर्व-165 वां अध्याय, अनु० 104 वां अध्याय
5. आदि पर्व-131।10, उद्योग पर्व-33।121
6. शान्ति पर्व-12।6, 12, 13
7. शान्ति पर्व-242।30

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ही शेष तीनों आश्रमों का आधार था।[1] उसी आश्रमका पालन करके पुरुष पांच ऋणों से मुक्त हो सकता था।[2] विवाह संस्कार संतानोत्पादन के लिये किया जाता था, उसका उद्देश्य ही यही होता था।[3] संतानोत्पत्ति का उद्देश्य पितृऋण से मुक्त होना था। पितृऋण से मुक्त होना तत्कालीन समाज में अत्यावश्यक माना जाता था। अतः स्त्री का बड़ा सम्मान व महत्व था। निस्संतान की निन्दा की जाती थी। और सन्तानोत्पत्ति स्त्री बिना असम्भव है, इसी सिद्धान्त के आधार पर महाभारत में उस काल की स्त्री की गुरुता का दर्शन होता है। कहीं-कहीं स्त्री की निन्दा भी की गई है। यथा नारद पंच-चूड़ा संवाद में नारद के प्रश्न के उत्तर में पंच-चूड़ा ने नारी को दोषों की खान के रूप में वर्णित किया है। मानव में जितने भी दोष होते हैं पंच-चूड़ा ने वे सम्पूर्ण ही नारी में बतलाये हैं।[4] अन्य अनेक स्थलों पर भी स्त्री निन्दा की चर्चा मिलती है।[5] किन्तु इस निन्दा का तात्पर्य अधिकांश रूप में मनुष्य को नारी में अधिक आसक्त होने से बचाना है। प्राचीन आर्यों का चरम उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति था। चारों पुरुषार्थों में भी यह परम पुरुषार्थ माना जाता था, इसी को परमार्थ भी कहते थे। इसका विवरण संक्षेपतः 'आश्रम-व्यवस्था' नामक अध्याय में किया जा चुका है।

विषयासक्ति मोक्ष प्राप्ति में सर्वाधिक बाधक होती है। जब तक जीव के अन्तः-करण से विष वासना निःशेष होकर उसकी पूर्ण शुद्धि नहीं हो जाती तब तक मोक्ष प्राप्ति असम्भव है। स्त्री को यदि कामुक दृष्टि से देखा जाय तो वह शब्दादि पांचों विषयों की खानि है। स्त्री का उपयोग यदि अनासक्त भाव से सहधर्मचारिणी के रूप में किया जाय तो वह मोक्ष प्राप्ति में साधक है और यदि उसका उपयोग विषय वासना की तृप्ति के लिये ही किया जाय तो वह पतन करने वाली है। इसके फलस्वरूप मोक्ष के विपरीत मनुष्य नरकों में जाता है तथा त्रिर्यक् योनियों में जन्म ग्रहण करता है। इसी भावना को समाप्त करने व स्त्री के दुरुपयोग को रोकने के लिये ही शास्त्रों में यत्र-तत्र नारी की निन्दा की गई है। उसे नारी की वास्तविक निन्दा नहीं माना जा सकता। वह तो इस-लिये की गई है कि विषयों का दास पुरुष इन स्त्री निन्दा की उक्तियों से कुछ भयभीत हो तथा कुछ उसकी स्त्री भोग के प्रति घृणा उत्पन्न हो और वह नारी की अत्यासक्ति से अर्थात् विषयासक्ति से बचकर अपने कल्याण के लिये प्रयत्न कर सके।

यदि हम नारी के सम्बन्ध में उसके जन्म से प्रारम्भ करके विचार करें तो

---

1. शान्ति पर्व-191।10
2. शान्ति पर्व-151।13
3. शान्ति पर्व-150।14, आदि 74।49, 66, आदि० 120।30
4. अनु० पर्व-38वां अध्याय
5. अनु० पर्व-40।4, आदि पर्व-220।8; : 74।73 उद्योग पर्व-37।57 द्रोण पर्व-28।42, आदि० 233।31

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पाएंगे कि महाभारत काल में पुत्री का जन्म आज की भांति माता-पिता को चिन्ता-जनक नहीं था। वह माता-पिता के लिए भार स्वरूप नहीं थी। जातकर्मादि संस्कार जिस प्रकार पुत्र के किए जाते थे उसी प्रकार कन्या के भी किए जाते थे। महाराज शान्तनु वन में पड़े हुए कृप व कृपी को ले आए और शास्त्रानुसार उनके नामकरण आदि संस्कार किए ।[1] महाराज अश्वपति ने भी सावित्री के जात कर्म आदि संस्कार किए थे ।[2] विवाह से पूर्व कन्या को पितृगृह में अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। वे पूजा अर्चा भी करती थी। पिता के घर गांधारी की शिवपूजा का उल्लेख किया गया है ।[3] कुन्ती ब्राह्मण व अतिथियों की परिचर्या पर नियुक्त थी ।[4] सन्तानहीन व्यक्ति पुत्र की भांति 'दत्तक' रूप में अपने यहां कन्या को भी लेते थे। कुन्तिभोज ने अपने भाई शूर की कन्या प्रथा को अपने घर रखकर उसका पालन पोषण एवं विवाह किया था ।[5] कुन्तिभोज की कन्या हो जाने के कारण उसका नाम 'कुन्ती' प्रसिद्ध हुआ। उसको स्थान-स्थान पर कुन्तिभोज की पुत्री कहा गया है ।[6]

साधारणतया कुमारी कन्याओं की संख्या कम थी। सभी कन्याएं विवाहित होकर पति-गृह जाती थीं व गृहस्थ आश्रम का पालन करती थी। सुलभा आदि कुछ स्त्रियां नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी थीं ।[7] वे सभी विदुषी होती थी, वाद-विवाद भी करती थीं। संन्यासिनी सुलभा ने वेदांत विषय पर महाराज जनक से वाद-विवाद किया था ।[8] वृद्ध होने पर पुत्रवधू के ऊपर गृहस्थी का भार छोड़कर कोई-कोई स्त्री वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करती थी। कुन्ती, गांधारी, सत्यवती, सत्यभामा, आदि स्त्रियों के वनगमन का वर्णन महाभारत में मिलता है ।[9]

स्त्रियों की स्वतन्त्रता महाभारत में स्वीकृत नहीं की गई है। बाल्याकाल में पिता के यौवन में पति के एवं वद्धावस्था में पुत्र की देखरेख में रहना उसका कर्तव्य था।'[10] विवाहित स्त्रियां अपने पतिगृह में रहती थी किन्तु कारणवश कभी-कभी अपने पिता के घर या किसी सम्बन्धी के घर भी जाती थी। पाण्डव जब बनवास को गए तब

---

1. अनु० पर्व-45।11, आदि पर्व-130-18
2. 229।23,
3. आदि पर्व-110।9
4. आदि पर्व-111।4
5. आदि पर्व-111।3
6. आदि पर्व-112।1
7. शान्ति पर्व-320।183
8. शान्ति पर्व-320वां अध्याय
9. आदि पर्व-128।12 आश्रम० 17।20, आश्रम 15।2 मोसल०-7।74
10. अनु० पर्व-।46।14, अनु० 20।21

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सुभद्रा आदि स्त्रियां अपने-अपने बच्चों को लेकर पतिगृह चली गई थीं।[1] किन्तु किसी विवाहित स्त्री का दीर्घकाल तक पिता के घर रहना अनुचित माना जाता था।[2] परन्तु सन्तानहीन निराश्रित विधवाओं का पिता के घर रहना ही अधिक प्रचलित था।[3]

महाभारत काल में पातिव्रत धर्म पर अधिक बल दिया जाता था। महाभारत में सतीत्व वर्णन की बहुलता दृष्टिगोचर होती है। नारी का परम धर्म पति भक्ति ही था। पति के परिवार के सब लोगों को सन्तुष्ट करना ही पतिव्रता का प्रधान कार्य माना जाता था।[4] गान्धारी, द्रौपदी, सत्यभामा, सुभद्रा आदि नारियों के चरित्र का अवलोकन करने से महाभारत काल में आदर्श सतीत्व की स्थिति पाई जाती है। नारी के चरित्र की अधिक उज्ज्वलता सतीत्व रक्षण में ही होती है। नारी वहां गृहलक्ष्मी मानी जाती थी, क्या गृह में, क्या वन में वह अपने पति की परम सहायक व सहधर्मचारिणी होती थी। इन सती नारियों में असाधारण तेज रहता था। गान्धारी, कुन्ती एवं द्रौपदी ऐसी ही नारियां थी तथा इनमें अत्यधिक तेज था। महाभारत काल में यदि समाज में उनके स्थान का निर्णय किया जाए तो विचारणीय प्रधान वस्तु उनका चरित्र ही है। उच्च चरित्र के कारण समाज में भी उनका उच्च स्थान था।

वे पूर्ण अर्थों में पुरुष की कर्म संगिनी थी। सर्वत्र पुरुष के साथ उनका सहयोग दिखाई देता है। गान्धारी, कुन्ती, द्रौपदी सुभद्रा, सत्यभामा आदि स्त्रियों के चरित्र में जो ओजस्विता और कमनीयता का सम्मिश्रण देखने में आता है वही उस काल की नारी का स्थान विचार करने में प्रधान आधार है। समाज की साधारण स्त्रियों के सम्बन्ध में तो उदाहरण ही नहीं मिलते अतः उनके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु राजपरिवार की नारियों के सम्बन्ध में यही स्थिति है कि वे केवल नारीत्व के रूप में सीमित नहीं है, परिपूर्ण मनुष्यत्व रूप में चित्रित हैं। उनकी पूर्णता व महिमा उच्च प्रकार की है।

महाभारत काल की नारी विदुषी, कार्यकुशल, एवं अन्य महान गुणों से युक्त होती थी। भले ही थोड़े-से उदाहरण मिलते हैं फिर भी उनसे यह तो स्पष्ट होता है कि नारियों की शिक्षा-दीक्षा पर भी उस काल के समाज में कितना ध्यान दिया जाता था। नारी का समाज में कितना उच्च स्थान था। इन बातों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए यहां कुछ प्रमुख महिलाओं की चरित्रगत विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है।

गान्धारी बड़ी विदुषी, बुद्धिमती धर्मपरायण एवं दृढ़ विचार वाली नारी थी। उसमें तेज, तप व बुद्धि सब कुछ था। विवाह से पूर्व ही जब उसने अपने भावी पति को

---

1. वन पर्व-22।45, 51
2. आदि पर्व-74।12, उद्योग पर्व-39।80, अनु०-93।132
3. उद्योग पर्व-33।74
4. आदि पर्व-110।18

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अन्धा सुना तो उसने सदैव के लिए अपनी आंखों पर पट्टी बांध ली और अपने व्रत को आजीवन निबाहा। इतना तप व दृढ़ता थी गान्धारी की। द्रौपदी को अपमानित करने के लिए बाल पकड़कर घसीटते हुए जब दुःशासन कुरू-सभा में ले आया तो गान्धारी को बड़ा दुःख हुआ। एक दिन धृतराष्ट्र के समीप उपस्थित होकर उसने कहा—"राजन तुम अपराध में मत डूबो, अशिष्ट पुत्रों के प्रत्येक आचरण का अनुमोदन करना तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम युधिष्ठिर आदि के परामर्श में चलो। धर्मज्ञ विदुर तुम्हारे मन्त्री हैं, जैसा वे कहें वैसा करो। कुलकलंकी दुर्योधन का परित्याग कर दो। संभवतः तुम्हारा पुत्र स्नेह ही इस कुल के विनाश का कारण होगा। अब और गलती मत करो, अपना कर्तव्य निश्चित् करो, पुत्र स्नेह के आकर्षण में धर्म का विसर्जन मत करो।[1] इसी प्रकार कृष्ण के दौत्य कर्म के समय भी उन्होंने धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन को रास्ते पर लाने का भरसक प्रयास किया। इस विषय में उन्होंने महाराज धृतराष्ट्र को दोषी ठहराया।[2] कुन्ती भी बुद्धिमती एवं वीर क्षत्राणी थी। इनके वार्तालापों में भी कितनी विद्वता, नीतिमत्ता व चातुरी झलकती है। उन्होंने युधिष्ठिर को धर्मयुद्ध के लिए उत्साहित किया। श्रीकृष्ण से कहा, "कि दरिद्रता और मृत्यु एक ही चीज है। क्षत्रिय सन्तान शक्ति सामर्थ्य होते हुए भी निर्बल की भांति अभिभूत होकर रहे यह बहुत ही आश्चर्य की बात है। कृष्ण, तुम युधिष्ठिर से कहना, क्षत्रिय सन्तान युद्ध में भयभीत न हो। मैं क्षत्रिय कन्या, एवं क्षत्रिय पत्नी हूं और चाहती हूं कि क्षत्रिय जननी के रूप में भी अपना परिचय दे सकूं।"[3]

द्रौपदी में भी ये सब गुण तो थे ही साथ-साथ पर्याप्त दृढ़ता थी। भीम व द्रौपदी ने जब वनवास में युधिष्ठिर से वार्तालाप किया उसमें क्षत्रियासुलभ महाशक्ति का परिचय होता है।[4] वह कीचक से भी भयभीत नहीं हुई थी तथा सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह है कि कीचक जैसा महावीर भी उसके एक धक्के से भूशाई हो गया।[5] द्रौपदी के चरित्र का सर्वांगीण विकास हुआ था। क्या शारीरिक, क्या बौद्धिक, क्या चारित्रिक एवं क्या आध्यात्मिक सभी प्रकारों से उसका चरित्र पूर्ण विकसित था। शारीरिक विकास के लिए कीचक को गिराने का उदाहरण दिया ही जा चुका है। बौद्धिक विकास के लिए उसने सत्यभामा को अपने कार्य भार संभालने का स्वयं जो वर्णन किया है,[6] उसे पढ़कर अवाक् रह जाना पड़ता है आज एक क्या दस नारी भी इतना

1. सभा पर्व-71।8-10
2. उद्योग पर्व-129वां अध्याय
3. उद्योग पर्व-134।13-41
4. वन पर्व-28।12-36
5. विराट पर्व-16।8
6. वन पर्व-232।54

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कार्य भार नहीं संभाल सकती। वनवास काल में एवं अज्ञात वास में, एक साम्राज्ञी होते हुए भी, द्रौपदी ने जिस धैर्य के साथ महान् कष्टों व अपमानों को सहन किया वह अवर्णनीय है। द्रौपदी का चारित्रिक विकास भी परमोच्च है। उसने हरण करते समय जयद्रथ से जो वार्तालाप किया तथा कीचक से जिस प्रकार अपने सतीत्व की रक्षा की इससे उसके उज्ज्वल चरित्र के विषय में शंका को कोई स्थान नहीं रह जाता। आध्यात्मिक विकास भी द्रौपदी का यहां तक हुआ था कि भगवान् कृष्ण विशेषतः द्रौपदी व अर्जुन के प्रेम व भक्ति भाव और विश्वास के प्रत्येक संकट में उपस्थित होकर उसकी सम्भव व असम्भव सभी रूपों से रक्षा करते थे।[1] यह द्रौपदी का ही आध्यात्मिक बल था जिसके कारण पाण्डव अनेक बार नष्ट होने से बच गए।[2] उसका पातिव्रत धर्म भी अचल था।

जिस काल में कुछ स्त्रियों की इतनी परमोच्च स्थिति हो, अनुमान लगाया जा सकता है कि नारी वर्ग की साधारण स्थिति भी कितनी उन्नत होगी।

महाभारत में नारी की भार्या रूप में व माता रूप में अनेक स्थलों पर प्रशंसा की गई है। 'भार्या ही मनुष्य का आधा अंग है, भार्या श्रेष्ठ सखी है, भार्या ही धर्म, अर्थ व काम की मूल है।[3] जिनकी भार्या साध्वीं एवं पतिव्रत हों, वे धन्य हैं। धर्मार्थकाम तीनों भार्या के अधीन हैं। प्रत्येक कार्य में भार्या पुरुष की परम सहायक है। रोग शोक से पीड़ित पुरुष का भार्या जैसा कोई उपचार नहीं है। जिसके घर में साध्वी प्रियंवदा भार्या का अभाव हो उसके लिए घर और वन दोनों समान हैं।[4] पत्नी की साधुता से ही पुरुष का जीवन मधुर हो उठता है। धर्मार्थकाम, सन्तान पितृ तृप्ति आदि पत्नी के ही अधीन है। भार्या के प्रति सद्व्यवहार करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है।[4] भार्या लक्ष्मी से भिन्न नहीं है, उसके साथ जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध होता है। भार्या मातृवत् सम्मान योग्य है। गृहस्थ का आनन्द, धर्म आदि सब कुछ पत्नी के अधीन है।[6] अतः नारी सर्वथा पूजनीया है। जिस परिवार में स्त्रियों का यथायोग्य सम्मान किया जाता है, वहां देवता निवास करते हैं। जहां नारियों का सम्मान नहीं किया जाता वहां कोई भी शुभ आयोजन सफल नहीं होते। जिस घर में स्त्रियां मनोदुःख से दुखी रहती हैं, उस घर का प्रत्येक शुभ कर्म विफल जाता है।[7] द्रौपदी के विषय में कहे गए युधिष्ठिर के एक वाक्य

1. वन पर्व-68।45-48
2. सभा पर्व-263वां अध्याय
3. आदि पर्व-74।41
4. शान्ति पर्व-144।13-17
5. अश्व० पर्व-90।47
6. आदि पर्व-74।42, अनु० 46।15, आदि०74।47, 48, 51
7. अनु० पर्व-46।5, उद्योग-38।11, अनु०-46।6,7 वि० 3।17, वन-144।20

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

से पता लगता है कि धर्मपत्नी का स्थान कितना ऊंचा था। "वह द्रौपदी हमारी प्रिय भार्या है। प्राणों से अधिक प्यारी है, माता की भांति परिपाल्या है व ज्येष्ठा भगिनिवत् पूज्या है।" माता व बड़ी बहिन प्रत्येक परिवार में मान्या, सम्मान व भक्ति की पात्री होती थी। इसलिए पत्नी को दोनों की उपमा दी गई है। नकुल और सहदेव वनवास काल में चलने से थकी द्रौपदी के पैर दबाया करते थे।[1]

महाभारत काल में नारियां अधिकांशतः पतिव्रता हुआ करती थीं। पातिव्रत व सतीत्व का यत्र-तत्र गान किया गया है। उनकी विशेष महिमा होती थी। स्त्री में जो तप तेज होता था वह उसके सतीत्व का ही होता था। कहा गया है कि जो स्त्री दीन-हीन, दरिद्र, रोगी व क्लांत पति की सेवा पुत्र की भांति करती है वह धर्म प्राण है जो कुटुम्बियों का भरण पोषण करती है, काम, भोग, ऐश्वर्य या सुख में कभी भी पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष का ध्यान नहीं करती वही धर्म-चारिणी है।[2] साध्वी नारी पुत्र की अपेक्षा पति को अधिक प्यार करती है।[3] पुरुष का सम्पूर्ण विकास पत्नी की कार्यकुशलता पर ही निर्भर होता है। पत्नी सम्पूर्ण गृह कार्य को सम्भाल कर पुरुष वर्ग को निश्चित होकर उद्योग धन्धे, व्यापार आदि करने का सुअवसर प्रदान करती थी। स्त्रियों का विशेषकार्य भोजन सम्बन्धी था। वे स्वयं भूखी रहकर भी परिवार के सब लोगों की तृप्ति का ध्यान रखती थी तथा गृहस्थी के सब कार्यों को श्रृंखलाबद्ध सम्पादित करने में पटु होती थी।[4] पति को छोड़कर स्वतंत्र रूप से यागयज्ञ-व्रत उपवास आदि धर्म कार्य करने का विवाहिता स्त्री को अधिकार नहीं है। उसे तो एक मात्र पति सेवा से ही स्वर्ग, अनेक ऐश्वर्य, दिव्यज्ञान व दिव्य शक्ति की प्राप्ति हो जाती है। उस काल में पातव्रत्य ही नारी का चरम लक्ष्य था। धर्मार्थ-काम तीनों में पति की सहायता करने में नारी जीवन की परम सार्थकता समझी जाती थी। पति को देवतुल्य मानना स्त्री का उच्चादर्श समझा जाता था। नारी को पतिव्रता एवं उत्तम गृहणी बनाना ही समाज का आदर्श था। अनेकों उपाख्यान व उदाहरण पातव्रत्य धर्म की महिमा में भरे पड़े हैं। बड़े-बड़े तपस्वी घोर तपस्या करके भी पतिव्रता नारी से पराभव को प्राप्त होते थे। महातपस्वी कौशिक भी एक पतिव्रता की योग-सिद्धि के समक्ष लज्जित हुआ। नारी ने एकान्त वन में घटित उसके अभिमानी होने की कारणभूत घटना का उद्घाटन अपने घर में ही कर दिया। नारी पति सेवा के प्रभाव से ही सब कुछ करने में समर्थ थी। पुत्र शोक से अधीर गांधारी ने श्मशान भूमि में कृष्ण को शाप दिया कि तुमने समर्थ होते हुए भी मेरे पुत्रों व पांडवों के वैर को शांत करने का पूर्ण प्रयत्न नहीं किया अतः

1. वन पर्व-144।20
2. अनु पर्व-146।44,45
3. अनु० पर्व-146।45
4. सभा पर्व-52।48

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तुम्हारा पितृवंश भी इसी प्रकार नष्ट हो जावेगा व तुम्हारी भी बुरी मृत्यु होगी।[1] केवल पति सेवा से अर्जित तप: प्रभाव मे यह शाप सत्य हुआ।

विवाहित स्त्रियां अधिकतर अन्त:पुर में ही निवास करती थी इसके अनेक उदाहरण हैं।[2] कुछ विशेष नारियां इस प्रथा से ऊपर उठी हुई थीं। कुछ स्त्रियां अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए तप भी करती थी। यथा काशी राज दुहिता अम्बा ने भीष्म का पराभाव करने के लिए वन जाकर भगवान् शंकर की घोर तपस्या की एवं उनसे अभीष्ट वर प्राप्त किया।[3]

उपर्युक्त प्रकार से महाभारत का आलोचन करने से ऐसा विदित होता है कि महाभारत कालीन समाज में नारी की स्थिति बहुत अच्छी थी। स्त्रियां पुरुषों की भांति विदुषी, कार्य कुशल, एवं प्रबन्ध कुशल होती थी तथा समाज में उन्हें पर्याप्त सम्मान भी प्राप्त था।

(ग) संस्कार

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वेदकालीन समाज में यज्ञ व अग्नि दोनों ही अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। पारिवारिक जीवन में भी इन दोनों का महत्व था। यही कारण है कि पारिवारिक जीवन के शुभ-अशुभ अवसर के समय अग्नि आवश्यक समझी जाती थी व उसमें कुछ धार्मिक विधियां सम्पादित की जाती थी, जिन्हें संस्कार कहा जाता था।

बालक के गर्भ में आते ही गर्भाधानादि संस्कार प्रारम्भ हो जाते थे। ज्यों-ज्यों उसकी विभिन्न शक्तियों का विकास होता था त्यों-त्यों उस विकास की विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न संस्कारों के द्वारा उसके जीवन को परिष्कृत किया जाता था। विद्योपार्जन के लिये ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करते समय एक महत्वपूर्ण संस्कार किया जाता था जिसे उपनयन कहते थे। गृहास्थाश्रम में प्रवेश करते समय विवाह संस्कार किया जाता था, जब नव, विवाहित वर वधू को जीवन के कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों से परिचित करा दिया जाता था तथा पति पत्नी धर्म, अर्थ, काम आदि की प्राप्ति के लिए मृत्यु पर्यन्त धार्मिक बन्धन में बंध जाते थे। इसी प्रकार वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम में प्रवेश करते समय भी महत्वपूर्ण संस्कार सम्पादित किये जाते थे। अन्त में देहावसान होने पर अन्त्येष्टि (अन्त्य + इष्टि = अन्तिमयज्ञ) संस्कार के अवसर पर सुगन्धित द्रव्यों के साथ यह भौतिक देह अग्नि को समर्पित कर दी जाती थी।

वर्णाश्रम समाज में ये गर्भाधान, उंसवन, सीमन्तोनयन, जात कर्म, नाम करण

---

1. स्त्री पर्व-25।42
2. उद्योग पर्व-86।16, आश्रम पर्व-15।13, शल्य० पर्व 29।74
3. उद्योग पर्व-188 वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, उपनयन एवं विवाह—दस संस्कार अत्यंत प्राचीन काल से ही धर्म के अन्यतम प्रधान अंग रूप में चले आ रहे हैं। उपनयन केवल द्विजाति के लिये विहित है। अन्य नौ संस्कार शूद्र के भी होते हैं। किसी-किसी धर्म सूत्र व स्मृति संहिता में चालीस संस्कारों का वर्णन भी मिलता है, किन्तु, मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर आदि स्मृतियों में दस संस्कारों का ही उल्लेख है। चालीस संस्कारों के विषय में महाभारत में भी कोई उल्लेख नहीं मिलता।

महाभारत काल में भी धार्मिक दस संस्कार वैदिक काल की भांति ही सम्पन्न किये जाते थे। सबसे प्रथम संस्कार 'गर्भाधान संस्कार' कहा जाता था। गर्भाधान ऋतु काल में ही हो सकता है। ऋतु काल के अतिरिक्त काल में गर्भाधान हो ही नहीं सकता, चतुर्थ रात्रि से सोलहवीं रात्रि तक ऋतु काल कहा जाता है। ऋतु अभिगमन आवश्यक कर्तव्य माना जाता था।[1] उस काल में ऋत्वभिगमन न करना पाप माना जाता था।[2] ऐसी मान्यता थी कि स्वाभार्या से केवल ऋतु काल में अभिगमन करने से ब्रह्मचर्य का स्खलन नहीं होता।[3] ऐसा पुरुष ब्रह्मचारी ही समझा जाता था अथवा ब्रह्मचारी के गुणों से ही युक्त होता था, और ब्रह्मचर्य पालन से सुखी व दीर्घजीवी होता था, क्योंकि ब्रह्मचर्य को ही जीवन माना जाता था।[4] ऋतु काल की बारह रात्रियों में से कुछ त्याज्य तिथियां भी थी यथा अमावस्या, पूर्णिमा, चतुर्दशी, अष्टमी एवं रवि-संक्रांन्ति—इन दिनों में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता था। दिन में मैथुन न करने का विधान था। इसी प्रकार वन्ध्या, रजस्वला, कन्या इनके साथ भी मैथुन वर्जित था। इन नियमों का पालन करने से मनुष्य दीर्घायु होता था[5]। रजस्वलता के प्रथम तीन दिनों में भी मैथुन वर्जित था[6]। इसके अतिरिक्त गर्भिणी भार्या के साथ भी अभिगमन वर्जित था[7]। इस प्रकार नियम पूर्वक ऋतु काल में स्त्री पुरुष सहगमन करते थे। उस समय पति पत्नी दोनों उत्कृष्ट संतान की कामना करते थे[8]। माता-पिता के शुद्ध विचारों का फल होता था धर्मात्मा, पुण्यवान् सन्तान की उत्पत्ति[9]। कामोपभोग

1. आदि पर्व-64।10, शान्ति पर्व-61।11, अनु० 143।29,
2. शान्ति पर्व 110।23 संतानार्थं च मैथुनम्। द्रोण पर्व-16।32
3. अनुशासन पर्व-93।11 भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी श्रृता भवति चैवह।
   नान्यदा गच्छते यस्तु ब्रह्मचर्यं तु तत् स्मृतम्
4. अनु० पर्व-7।14 ब्रह्म चर्येण जीवितम्
5. अनु० पर्व-104।108
6. अनु० पर्व-104।53, अनु० 104।108, शान्ति० 281।46
7. अनु० पर्व 104।47
8. शान्ति पर्व-265।34
9. शान्ति पर्व-296।4 सुक्षेत्राच्च सुबीजाच्च पुण्यो भवति संभवः

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

धर्म के अनुकूल ही किया जाता था, प्रतिकूल नहीं। वंश की प्रतिष्ठा के लिए ससुसंतान लाभ करना हो तो माता पिता के लिए संयम व तपस्या आवश्यक है। अनियमित समागम से स्वस्थ, सबल, संतान की आशा नहीं की जा सकती।

भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा—"गर्भाधान संस्कार धर्म, अर्थ व काम का हेतु है। धार्मिक सद्वृत पुरुष गर्भाधानोक्त विधान के अनुसार यदि सत्पुत्र की कामना से पत्नी सहवास करे, तो योनि-संस्कार रूप धर्म, एवं सम्भोग रूप काम इन तीनों का लाभ करने में समर्थ होता है। गर्भाधान संस्कार की शुचिता पर समाज का कल्याण निर्भर होता है। संयम ही उपभोग का प्रधान सहायक है।[1] इसी लिए गर्भाधान संस्कार से सम्बन्धित इतने नियम हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था 'सब प्राणियों में धर्म के अनुकूल काम मैं ही हूं। जिस कामना से धर्म की क्षति नहीं होती वही भगवत्-स्वरूप है। धर्म की अनुकूलता व प्रतिकूलता जानने में वेद, पुराण, स्मृति आदि ही प्रमाण हैं। अतः शास्त्रों के इस नियम के—ऋतुकाल में पुत्र कामना से प्रवृत्त हो—अनुसार काम का उपभोग करना दूषणीय नहीं है अपितु धर्म कार्य ही है।[2] तपस्या रवार्चन, यज्ञ, वन्दना ब्रह्मचर्य, उपवास वृत आदि सत्कर्मों द्वारा माता-पिता धार्मिक सुन्दर एवं दीर्घायु सन्तान लाभ कर सकते हैं। श्रीकृष्ण द्वैपायन, व भगवान श्रीकृष्ण को दीर्घकाल की तपस्या के फलस्वरूप ही सत्यपुण लाभ हुआ था। सत्पुत्र लाभ के लिए। श्रीकृष्ण की कठोर तपस्या की बात महाभारत में वर्णित है।[3]

महाभारत में संस्कारों की चर्चा में, पुंसवन व सीमवन्तोन्नयन का भी केवल नाममात्र मिलता है। सन्तान् का जन्म होने के पश्चात् जो भी वैदिक संस्कार करने का नियम है, उसका नाम जात कर्म है। महाभारत में अनेक स्थलों पर जात कर्म का उल्लेख किया गया है। कन्या के लिए भी पुत्रवत् विधान है। महाराज शान्तनु ने कृप व कृपी दोनों के जातिकर्मादि संस्कार किए गए थे। सावित्री व शिखण्डी के भी सब जात कर्मादि संस्कार किए गए थे।[4] संतान के जन्म के समय उसकी कल्याण कामना से दान दक्षिणा दी जाती थी।[5] आत्मीय स्वजन जो उस समय उपस्थित होते थे, नवजात शिशु का मुंह देखकर धन रत्न आदि आशीर्वाद पूर्वक देते थे।'

'नामकरण' भी वैदिक संस्कार है। जन्म से 11वें 12वें दिन इसके सम्पादन का विधान है। महाभारत में कहीं-कहीं इसका वर्णन मिलता है।[6] महाभारत में निष्क्रमण

1. शान्ति पर्व-123।3 नीलकंठ
2. भीष्म-31।11, धर्मा विरुद्धो भूतेषु कामोष्यि भरतर्षभ।
3. शान्ति पर्व-150।14 शा० 7।13, 14, अनु० 14वां अध्याय
4. आदि०-74।119; 178।2; 109।18, आदि० 128।14
5. आदि पर्व-221।69
6. मनुस्मृति-9।159-160

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

और अन्नप्राशन का कहीं उल्लेख नहीं है किन्तु 'जात कर्मादि' संस्कार से समझा जा सकता है। चूड़ाकरण और उपनयन संस्कार का कहीं-कहीं नाम मात्र का उल्लेख हैं। विवाह संस्कार का वर्णन इसी अध्याय में विस्तृत रूप से किया जा चुका है।

मनुस्मृति में जिन बारह पुत्रों को मान्यता दी गई थी वे इस प्रकार थे— औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढ़ोत्पन्न, अपविद्ध, कानीन, सहौढ़, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त व शौद्र। उपर्युक्त बारह प्रकार के पुत्रों को मान्यता प्रदान करके भारतीय समाज ने अपनी उदारता का ही परिचय दिया था। वैदिक साहित्य में भी यत्र-तत्र ऐसे पुत्रों का उल्लेख आता है। ऋग्वेद के कितने ही मन्त्रों के दृष्टा दीर्घतमम् ऋषि क्षेत्रज पुत्र ही थे। ऋग्वेद के एक और प्रसिद्ध मंत्र दृष्टा शुन: शेप आजीगर्ति विश्वामित्र ऋषि के कृत्रिम पुत्र थे। इसी प्रकार पौनर्भव आदि पुत्र भी तत्कालीन समाज में अवश्य होंगे। प्राचीनकाल में नैतिकता का भाव इतना कुंठित नहीं था, जितना कि आजकल है। उस काल में सबके हित पर दृष्टि रखी जाती थी। प्रत्येक बालक चाहे उसके माता-पिता ने सामाजिक नियमों का उल्लंघन कर ही उसे क्यों न जन्म दिया हो, समाज में स्थान पाने व पूर्णतया रक्षित किए जाने का अधिकार रखता था। समाज माता-पिता के अपराध के कारण उस बाल को शासित करना पूर्ण अन्याय समझता था।[1]

(घ) वर्णसंकर सन्तान

त्रिवर्ण का शूद्र के साथ विवाह वैधानिक नहीं था।[2] अत: ब्राह्मण व शूद्रा के समागम से जो सन्तान उत्पन्न होती थी उसे 'पारशक' कहा जाता था। इसी प्रकार क्षत्रिय व शूद्रा की सन्तान 'उग्र'[3] कहलाती थी, किन्तु वैश्या का शूद्र के साथ सम्बन्ध अवैधानिक होते हुए भी उनके समागम के उत्पन्न सन्तान वैश्य ही होती थी क्योंकि नियमानुसार क्षेत्र यदि बीजी से नीचे का ही वर्ण है तो उसका पुत्र बीजी के वर्ण का ही माना जाता था। यथा ब्राह्मण क्षत्रिय का ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्या का पुत्र क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र का पुत्र वैश्य।[4] प्रतिलोम विवाह का तो आरम्भ से ही विरोध था। प्रतिलोम विवाह अति निन्द्य माना जाता था। प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न चाण्डाल, वरची से बाहर रहते थे।[5]

यह भारतीय आर्यों की नीतिमत्ता ही थी कि उन्होंने विवाह पर प्रतिबन्ध लगाये थे वे नैतिक सामर्थ्य में सबसे श्रेष्ठ थे। प्रत्येक वर्ण विभाग उनके स्वभाव के

1. डा० शिवदत्त ज्ञानी 'वेदकालीन समाज', पृ० 174
2. अनु० पर्व-44।11-13
3. अनु० पर्व-48।5
4. अनु० पर्व-48।7; 47।51; 48।15
5. अनु० पर्व-48।9।11

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुसार किया गया था अतः वर्ण का स्वभाव से घनिष्ठ सम्बन्ध था। वर्ण मिश्रण या वर्ण संकरता का अर्थ है स्वभाव मिश्रण या संकरता। आर्यों में नैतिक उच्चता थी तथा वे शूद्रों अथवा म्लेच्छ आदि असभ्य तथा जंगली जातियों को आनार्य (असद् आचरण वाले) मानते व कहते थे। आर्यों का आर्यत्व भी उनके सदाचरण के कारण ही था। गीता में भी श्रीकृष्ण ने जाति के कर्म स्वभाव सिद्ध होना बतलाया है।[1]

शूद्र यदि गुरुजनों-ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य जाति की स्त्रियों से समागम करता था तो समाज द्वारा निन्दित वर्ण बहिष्कृत (चाण्डाल आदि) को जन्म देता था। क्षत्रिय, ब्राह्मणी के साथ समागम करने पर उसके गर्भ से सूत जाति को उत्पन्न करता। जो वर्ण बहिष्कृत व स्तुति कर्म करने वाला होता था। वैश्य यदि ब्राह्मणी के साथ समागम करता तो संस्कार भ्रष्ट 'वैदेहिक जाति' वाले पुत्र को उत्पन्न करता था। शूद्र, ब्राह्मणी के साथ समागम करके अत्यन्त भयंकर चाण्डाल को जन्म देता था। ब्राह्मण के साथ नीच पुरुषों को संसर्ग होने पर ये सभी कुलांगार पुत्र उत्पन्न होते हैं और वर्णसंकर कहलाते हैं। वैश्य के द्वारा क्षत्रिय के गर्भ से उत्पन्न होने वाले पुत्र 'वन्दी' और 'मागध' कहलाते हैं। यदि शूद्र क्षत्रिय के साथ प्रतिलोम समागम करे तो निषद जाति की उत्पत्ति होती है। शूद्र यदि वैश्य जाति की स्त्री से समागम करता है तो उससे 'अयोगव' जाति का पुत्र उत्पन्न होता है।[2] निषद जाति की स्त्री का यदि वैदेहिक जाति के पुरुष से संस्सर्ग हो तो क्षय, अन्ध्र व कारावर नामक जाति वाले पुत्र उत्पन्न होते हैं, 'कारावर' को ही 'चर्मकार' कहा जाता था। यदि वर्णसंकर मनुष्य गौ और ब्राह्मणों की सहायता करें, क्रूरतापूर्ण कर्म को त्याग दें, सब पर दया करें और अपने शरीर को कष्ट में डालकर भी दूसरों की रक्षा करें तो उनकी पारमार्थिक उन्नति हो सकती है।[3]

(ङ) दाय-विभाजन

माता-पिता की सम्पत्ति का उनकी सन्तान द्वारा विभाजन किया जाना प्राचीन काल से चला आ रहा है। यह विभाजन पुत्र व पुत्रियों में किया जाता है किन्तु पुत्र भी अनेक प्रकार के होने के कारण, महाभारत काल में इस रीति के सम्बन्ध में विधान था। उस काल में निम्न प्रकार के पुत्रों का विवरण प्राप्त होता है। आदि पर्व में पांच प्रकार के पुत्र बतलाये गये हैं—औरस, लब्ध, क्रीत, पालित एवं क्षत्रज। ये पांच प्रकार के पुत्र इहलोग में धर्म व प्रीति की वृद्धि करते हैं और परलोक में पितृगण

1. भीष्म पर्व-42।41
2. अनु॰ पर्व-48।10-13
3. अनु॰ पर्व-48।25, 26
4. अनु॰ पर्व-48।34, 35

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

को नरक से परित्राण दिलाते हैं।[1]

अनुशासन पर्व[2] में बीस प्रकार के पुत्रों का वर्णन किया गया है। मनुस्मृति कथित 12 पुत्रों में से छः—स्वयं जात, प्रणीत, परिक्रीत पौनर्भव, कानीन वं स्वैरणीज—प्रकार के पुत्रों को 'बंधुदायाद' कहा जाता था अर्थात् वे पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते थे। शेष छः प्रकार के पुत्रों को 'अबंधुदायाद' कहा जाता था, अर्थात् वे पिता की सम्पत्ति के अधिकारी नहीं होते थे। इन बारह प्रकार के पुत्रों के अतिरिक्त जिन आठ प्रकार के पुत्रों का वर्णन मिलता है वे विभिन्न जातीय स्त्री पुरुषों के मिलने से उत्पन्न वर्णसंकर संतान होते थे। पुत्रिका अर्थात् वह पुत्री जिसे उसका निपुत्री पिता अपने संकल्प द्वारा अपना पुत्र ही मान लेता तथा उसका विवाह करके उसके पुत्र को अपना दत्तक पुत्र बना लेता है, का पुत्र अपने मातामह का वंश रक्षक माना जाता था। बभ्रवाहन अपने मातामह के पुत्रिका पुत्र थे।[3]

यदि कोई पुरुष, नियोग प्रथा के कारण अथवा अन्य किसी कारण से, परस्त्री समागम करता था तो वह संतान उस बीजी की नहीं मानी जाती थी किन्तु उस स्त्री के वास्तविक पति की (क्षेत्र स्वामी की) ही मानी जाती थी। व्यास की औरस से जन्म लेने पर भी धृतराष्ट्र आदि व्यास (बीजी) के पुत्र नहीं माने गये थे, किन्तु विचित्र वीर्य के ही पुत्र माने गये थे। इसी प्रकार पांचों पाण्डव भी धर्म आदि पांच देवों की संतान थे किन्तु समाज में पाण्डुपुत्र ही कहे व माने जाते थे।[4] इस प्रकार सर्वत्र क्षेत्री ही पुत्र का अधिकारी होता था, बीजी का कोई अधिकार समाज स्वीकार नहीं करता था। कुमारी कन्या यदि सन्तान उत्पन्न करे तो उस सन्तान पर उसी पुरुत्र का अधिकार माना जाता था जिसके साथ उस युवती का विवाह हो।[5] यदि कोई युवती गुप्त रूप से पुत्र उत्पन्न करे त्याग देती थी और किसी भी वर्ण या जाति का पुरुष उसे प्राप्त कर पालता था तो उसके सम्पूर्ण संस्कार अपने पालक पिता के वंशानुरूप ही किये जाते थे। यथा कर्ण, कुन्ती का पुत्र होते हुए भी सूत जाति के दम्पत्ति अधिरथ व राधा द्वारा पालित हुआ था और उसके संस्कार भी सूत जाति की ही भांति सम्पादित किये गये थे। ऐसे पुत्र को 'कृतक पुत्र' कहा जाता था।

जात पुत्रा कुमारी से जो विवाह करता था, कानीन पुत्र उसी को पिता बताकर अपना परिचय देता था।[6] विवाह से पूर्व ही कुमारी से जो पुत्र उत्पन्न हो वह कानीन

1. आदि पर्व-74।99।100
2. अनु०पर्व-49वां अध्याय
3. अनु० पर्व-49।15
4. आत्मंज पुत्रमुत्पाद्य यस्त्यजेत् कारणान्तरे।
   न तत्र कारणं रेतः स क्षेत्र स्वामिनो भवेत्॥
5. अनु० पर्व-49।20-25
6. उद्योग पर्व-140।8

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कहलाता था। किन्तु कहीं-कहीं अपवाद भी देखने को मिलता है। व्यास शांतनु की पाणिग्रहीता पत्नी सत्यवती के कुमारावस्था के पुत्र थे किन्तु उन्हें शान्तनु पुत्र नहीं कहा जाता था। सम्भव है कि यह विशेषता पराशर मुनि के उस वरदान से हो कि पुत्र उत्पन्न होने पर भी तुम्हारी कुमारावस्था नष्ट नहीं होगी। इस वरदान के अनुसार शान्तनु के साथ तो कुमारी सत्यवती का ही विवाह हुआ था। महाभारतकार ने कानीन व अध्यूढ़ को 'किल्विष' की संज्ञा दी है फिर भी पिता की सम्पत्ति का अधिकारी माना है। कुमारी का सन्तान-प्रसव कलंक माना जाता था तभी तो कुन्ती ने कर्ण को रात्रि में, मंजूषा में बंद कर नदी में वहा दिया था तथा इस बात को महाभारत युद्ध तक गुप्त रखा था।[1] सम्पत्ति के उत्तराधिकार का निर्णय भी धर्मशास्त्रीय अनुशीलन के अन्तर्गत आता। प्रथम अधिकार पुत्र का ही होता था। सवर्णा पत्नी के गर्भजात सब पुत्रों का समान अधिकार होता था केवल ज्येष्ठ पुत्र को ज्येष्ठत्व के कारण एक भाग मिलने का विधान था। जो कि 'कलिवर्ज्य' के अनुसार कलियुग में वर्जित माना गया है अर्थात् अब ज्येष्ठभ्राता को एक अधिक भाग मिलना निषिद्ध है।[2] ब्राह्मणी माता से उत्पन्न एक मात्र पुत्र को अच्छे वैल, रथ, वस्त्र आदि का बटवारा न करके स्वयं ले लेना चाहिये। अवशिष्ट धन को दस भागों में विभक्त करके उनमें से चार भाग पुनः ब्राह्मणी के पुत्र को ही लेने चाहिये। ब्राह्मण का क्षत्रिया पत्नी का जो पुत्र है, वह भी ब्राह्मण ही है, इसमें संशय नहीं। वह माता की विशिष्टता के कारण पैतृक धन के तीन भाग ले लेने का अधिकारी है। तीसरे वर्ण कन्या वैश्या (वैश्य पुत्री) में जो ब्राह्मण से पुत्र उत्पन्न होता है, उसे ब्राह्मण के धन में से दो भाग लेना चाहिये। ब्राह्मण से शूद्रा में जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसे तो धन न देने का ही विधान है तो भी शूद्रा पुत्र का स्वल्प भाग अर्थात् एक भाग दे देना चाहिये। ब्राह्मण के शूद्रा के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होता है वह ब्राह्मण नहीं होता। शेष तीनों (ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य) पत्नियों से उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण ही होते हैं। ब्राह्मण के यहां अन्य वर्ण की स्त्रियों से पुत्र हों अथवा न हो किन्तु शूद्रा के पुत्र को दसमांश से अधिक धन न दे।[3]

स्त्री को तीन सहस्र तक ही धन दिया जाना चाहिये। स्त्रियों को पति के धन से जो भाग मिलता है वह स्वयं उसका उपयोग करें। वह उसमें पुत्रादि को कुछ न दे। ब्राह्मण को पिता की ओर से जो धन मिला हो उस धन को उसकी पुत्री ले सकती है, क्योंकि यथा पुत्र तथा पुत्री भी है।[4]

क्षत्रिय को अपने धन के आठ भाग करना चाहिये। उसमें से चार भाग व युद्ध

1. आदि० 111।22
2. आप० धर्म सूत्र 2।6।14।6-10
3. अनु०-47।21
4. अनु०-47।23-25

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सामग्री क्षत्रिया के पुत्रों को, तीन भाग वैश्या के पुत्रों को, व एक भाग शूद्रा-पुत्र को देना चाहिये[1] वह भी पिता के देने पर ही, यदि वह न दे तो उसका अधिकार नहीं।[2]

वैश्य के धन को पांच भागों में विभक्त करना चाहिये। चार भाग वैश्या के पुत्र को व एक भाग शूद्रा के पुत्र को।[3] शूद्र के शूद्रा ही भार्या होती है, अतः उसके चाहे 100 पुत्र हों, समान भाग होना चाहिये।[4] समस्त वर्णों के सभी पुत्रों का, जो एक ही वर्ण की स्त्री से उत्पन्न हुए हैं, अपने वार्णिक धन में समान भाग होता है।[5]

अपुत्रक व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति पर उसकी कन्या का अधिकार होता है।[6] पुत्र व कन्या के अभाव में मृत व्यक्ति की सम्पति पर उसके दौहित् का अधिकार होता है।[7] वह पिता व नाना दोनों का श्राद्ध करने का अधिकारी होता है कन्या को पुत्र मानने पर बाद में पुत्र जन्म या दत्तक ले लिया हो तो प्रथम प्रकरण में उस कन्या को 1/2 भाग व द्वितीय प्रकरण में 3/5 भाग मिलेगा।[8] धन की अतिवृद्धि शास्त्र विहित नहीं है, जव ब्राह्मण के तीन वर्ष तक निर्वाह करने योग्य से अधिक धन हो जाय तो वह यज्ञ करे, धन का व्यर्थ संग्रह न करे।[9] जो पुत्र पिता के व्यवसाय को त्याग दे उसे पितृ धन से वंचित किया जाना चाहिये।[10] जो धन स्वयं उपार्जित किया हो उस पर किसी का अधिकार नहीं होता।[11]

पिता को चाहिये कि वह सम्पत्ति विभाजन में पुत्रों के साथ विषमता का व्यवहार न करे।[12] भार्या, दास व पुत्र की उपार्जित सम्पत्ति पर भी अधिकार नहीं होता। पुत्र व पत्नी चाहे कुछ भी क्यों न कमावें पिता व पति के हाथ में सब कुछ दे देना ही उनका धर्म है।[13] जो बड़ा भाई होकर, छोटे भाइयों के साथ कुटिलता पूर्ण व्यवहार करता है वह न तो ज्येष्ठ कहलाने योग्य है और ज्येष्ठान पाने का ही अधिकारी

---

1. अनु पर्व-45।48-50
2. अनु० पर्व-47।50
3. अनु० पर्व-47।53,54
4. अनु० पर्व-47।56
5. अनु० पर्व-47।57
6. अनु० पर्व-45।12
7. अनु० पर्व-45।13
8. अनु० पर्व-45।14
9. अनु० पर्व-47।21,22
10. अनु० पर्व-105।7-10
11. अनु० पर्व-105।11
12. अमु० पर्व-105।12
13. उद्योग पर्व-33।68, आदि पर्व-82।22

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है। उसे तो राजा के द्वारा दण्ड मिलना चाहिये। कपट करने वाला मनुष्य निस्संदेह पापमय लोकों में जाता है।[1] यदि छोटे भाई भी पाप कर्मों में लगे रहते हो तो वे पैतृक धन का भाग पाने के अधिकारी नहीं है। छोटे भाइयों को उनका उचित भाग दिये विना बड़े भाई को पैतृक सम्पत्ति का भाग ग्रहण नहीं करना चाहिये।[2] यदि भाइयों के हिस्से का वटवारा न हुआ हो और सबने साथ ही साथ व्यापार आदि की उन्नति की हो, उस अवस्था में यदि पिता के जीवित रहते ही सब पृथक् होना चाहें तो पिता को उचित है कि वह कभी किसी को कम या अधिक धन न दे।[3]

(च) सदाचार एवं पारिवारिक व्यवहार—

समाज जिन पुरुषों को 'साधु' कहकर जिनके प्रति श्रद्धा करता है, उनके आचरण को सदाचार कहते हैं। उनके भी सब आचरण साधु नहीं हो सकते। अतः सबको सदाचार नहीं कहा जावेगा।[4] मनुष्य सदाचार से दीर्घ जीवी व सुखी होता है। उपभयलोक में ऐश्वर्य लाभ व कीर्तिलाभ करता है। दुराचारी मनुष्य दुखी व अल्पायु होता है। अतः मनुष्य को शास्त्रों में वर्णित विधि निषेध का अनुसरण करना चाहिये। यदि मनुष्य शास्त्रो में वर्णित सदाचार का पालन नहीं करता तो उसके उभय लोक भ्रष्ट हो जाते हैं।[5]

शास्त्रों में प्रातःकाल सो कर उठने से प्रारम्भ कर रात्रि को सोने तक के कार्यों में विधि (ऐसा करना चाहिये) तथा निषेध (ऐसा नहीं करना चाहिये) का निश्चय कर दिया है। उसमें दिनचर्या व रात्रिचर्या सम्पूर्ण रूप से सम्मिलित की गई है। उनके अनुसार ही मनुष्य को आचरण करना चाहिये। महाभारत की रचना ही इसी उद्देश्य से की गई है। सदाचारी-धर्म राज युधिष्ठिर की विजय तथा दुराचारी दुर्योधन, दुःशासन आदि का विनाश इस तथ्य की पुष्टि करता है। अन्य अनेक स्थलों पर भी सदाचार का वर्णन किया गया है।[6] यदि चरित्र विशुद्ध न हो और वाहर से सदाचार का पालन किया जावे तो वह पाखण्ड हो जाता है।[7] प्राचीन काल में केवल सदाचार व दुराचार के पालन

---

1. अनु० पर्व-105।7
2. अनु० पर्व-105।10
3. अनु० पर्व-105।12
4. अनु० पर्व-104।9, अनु० 162।34, अनु० 162।25
5. अनु० पर्व-104।6-13, अनु० 104।155-157, वन 31।22, उद्योग 39।44
6. अनु० पर्व-104 अध्याय, शान्ति पर्व-230 वां अध्याय, वन० 205-208 अध्याय आदि
7. अनु० पर्व-108-3-9

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

से ही व्यक्ति को आर्य या अनार्य कहा जाता था।[1]

मनुष्य को सदा समाज में व्यवहार करना पड़ता है। समाज में भी सबसे अधिक व्यवहार उसको अपने परिवार के साथ करना होता है। परिवार समाज की वह इकाई है जहां से सामाजिक जीवन प्रारम्भ होता है। यदि परिवार में हमारे अच्छे सम्बन्ध है, यदि हम परिवार की सेवा करते हैं, यदि परिवार का हमारे ऊपर विश्वास है तो हम इन्हीं सद्गुणों को देश के प्रति भी प्रयुक्त कर सकते हैं। अतः पारिवारिक व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करना भी मनुष्य के लिये आवश्यक होता है। महाभारत काल में पारिवारिक व्यवहार कैसे थे; यहां उन्हीं का वर्णन किया जाता है।

महाभारत में माता, पिता एव गुरु की महत्ता पर अधिक बल दिया गया है। महाभारत में इनकी महिमा का यत्र-तत्र वर्णन मिलता है। धर्म-व्याध[2] को माता पिता की भक्ति से ही अनेक प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति हुई। युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से प्रश्न किया कि "सब धर्मों में कौन-सा कार्य आपको श्रेष्ठ जान पड़ता है, जिसका अनुष्ठान करके मैं इहलोक और परलोक में भी परमधर्म का फल प्राप्त कर सकूं।[3]" भीष्म जी ने उनसे उस उभय लोक कल्याणकारी, परम धर्म का प्रतिपादन इस प्रकार किया "राजन्, मुझे तो माता-पिता तथा गुरु जनों की सेवा ही अधिक महत्व की वस्तु जान पड़ती है। इस लोक में इस पुण्य कार्य में संलग्न होकर मनुष्य महान् यश और श्रेष्ठ लोक पाता है। भली-भांति पूजित हुए वे माता-पिता और गुरुजन जिस काम के लिये आज्ञा दें वह धर्म के अनुकूल हो या विरुद्ध, उसका पालन करना ही चाहिये। जो उनकी आज्ञा के पालन में संलग्न हैं, उनके लिये अन्य किसी धर्म के आचरण की आवश्यकता नहीं है, जिस कार्य के लिये वे आज्ञा दें वही धर्म है। ये माता-पिता और गुरुजन ही तीनों लोक हैं, तीनों आश्रम है, तीनों वेद हैं तथा ये ही तीनों अग्नियां हैं। यदि तुम इन तीनों की सेवा में कोई भूल नहीं करोगे तो तीनों लोक जीत लोगे। पिता की सेवा से इहलोक, माता की सेवा से परलोक व गुरु की सेवा से ब्रह्मलोक। जो इनका अनादर करता है उसके सम्पूर्ण शुभ कर्म निष्फल हो जाते हैं। मैं तो सारा शुभ करके इन तीनों गुरुजनों को ही समर्पित कर देता था, इससे मेरे उन सभी शुभ कर्मों का पुण्य सौगुना और हजार गुना बढ़ गया है। युधिष्ठिर ! इसी से तीनों लोक मेरी दृष्टि के समक्ष प्रकाशित हो रहे हैं। आचार्य सदा दस श्रोत्रिय से बढ़कर है, उपाध्याय (विद्यागुरु) सदा दस आचार्य से बढ़कर है, पिता दस उपाध्यायों से तथा माता दस पिताओं से बढ़कर है। अतः माता के समान कोई गुरु नहीं है।[4] परन्तु मेरा विश्वास

---

1. उद्योग पर्व-90।53, वन पर्व 206।1, सभा 54।6, अनु० 48।41
2. वन पर्व-213 व 214 वां अध्याय
3. शान्ति पर्व-108।2
4. आदि०-196।16, शा० 108।17 माता परम को गुरुः

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यह है कि गुरु का पद माता से भी बढ़कर है क्योंकि पिता और माता केवल शरीर को जन्म देते हैं, किन्तु आचार्य का उपदेश श्रवण करने से द्वितीय शरीर उपलब्ध होता है, वह दिव्य है, अजर-अमर है। जो लोग विद्या पढ़कर गुरु का आदर नहीं करते, निकट रहकर मन, वाणी और क्रिया द्वारा गुरु की सेवा नहीं करते, उन्हें गर्भ के बालक की हत्या करने का पाप लगता है। जैसे गुरुजनों का कर्त्तव्य है शिष्टजनों को आत्मोन्नति के पथ पर पहुंचाना, इसी प्रकार शिष्यों का कर्त्तव्य है गुरुजनों का पूजन करना। जिस कार्य से शिष्य गुरु को प्रसन्न करता है उसी से परमात्मा की पूजा सम्पन्न हो जाती है। अतः गुरु माता-पिता से भी अधिक पूजनीय है। गुरु के पूजित होने पर पितरों सहित देवता और ऋषि भी प्रसन्न होते हैं।

ये तीनों कदापि अपमान के योग्य नहीं है। उनके किये हुए किसी भी कार्य की निन्दा नहीं करनी चाहिये ? "गुरु जन तीर्थों के समान पूज्य होते हैं।[1] माता-पिता की सेवा करना सन्तान का परम कर्त्तव्य है। "नारद ने श्रीकृष्ण से कहा कि, जो माता-पिता एवं गुरुजनों की, तुम्हारी भांति, भक्ति, करते हैं वे तुम्हारी प्रत्येक वस्तु के अधिकारी होते हैं।[2] जो गुरुजनों का यथोचित आदर करते हैं उनकी आयु, यश एवं श्री की वृद्धि होती है।[3] पुत्र की भलाई के लिये जो अपना सर्वस्व अर्पण कर देते हैं, उन स्नेहमय माता-पिता को संतुष्ट रखना ही पुत्र का प्रधान कर्त्तव्य है।[4] इसी प्रकार अन्य अनेक उपदेश महाभारत में मिलते हैं।[5]

भीष्म की पितृ भक्ति से प्रसन्न होकर उनके पिता ने उन्हें 'इच्छा मृत्यु' का सफल आशीर्वाद दिया था।[6] जो माता-पिता आदि गुरुजनों का भरण-पोषण नहीं करते उन्हें महापापी कहा गया है।[7] जो पुत्र माता-पिता का अपमान करता है वह मृत्यु के पश्चात् 'गधा' आदि के रूप में जन्म लेकर असीम कष्ट उठाता है।[8] प्रातःकाल सो कर उठने पर गुरुजनों को चरणा-स्पर्श कर प्रणाम करना चाहिये।[9] गुरुजनों (बड़ों) के आने पर तत्क्षण खड़े होकर प्रणाम करना चाहिये।[10] गुरुजनों के दोष निकालना संतान

1. शा० 108।29
2. वन पर्व-204।3,4, अनु० 31।35
3. अनु० पर्व-162।45
4. उद्योग पर्व-145।7
5. अनु० पर्व-104।145, 75।40-42, वन पर्व-159।6, 7, 14
6. आदि पर्व-100।103 नते मृत्युः प्रभविता यावज्जीवितुभिच्छति।
7. अनु० पर्व-93।128, सान्ति पर्व-153।81, शान्ति पर्व-165।62
8. अनु० पर्व-111।58-60
9. अनु० पर्व-104।43 माता-पितामुत्थाय पूर्वमेवा-मिवादेयेत।
10. उद्योग पर्व-38।1

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का कर्त्तव्य नहीं है। कहोड़ पुत्र अष्टावक्र ने गर्भ में ही पिता के अध्यापन में दोष निकाला, अतः उसका शरीर आठ स्थानों से टेढ़ा हो गया।[1] गुरुजनों से कार्य कराना पुत्र के लिये पाप बताया गया है।[2]

महाभारत में बड़े भाई और बड़ी बहिन की श्रद्धा करने का उपदेश दिया गया है। बड़े भाई को पितृ तुल्य एवं बड़ी बहिन को मातृतुल्य मानकर आदर प्रदान करना चाहिए।[3] भीमादि चारों भाई युधिष्ठिर का समादर करते थे। बड़े भाई के आदेश का उल्लंघन करते उन्हें कहीं नहीं पाया गया। परन्तु युधिष्ठिर भी भाइयों को छोड़कर स्वर्ग जाना अच्छा नहीं समझते थे।[4] विदुर भी अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र का सदा आदर करते थे। अनुशासन पर्व[5] में भीष्म युधिष्ठिर सम्वाद में बड़े एवं छोटे भाई के पारस्परिक व्यवहार का उपदेश दिया गया है। "गुरु का अपने शिष्यों के प्रति जैसा गौरव युक्त व्यवहार होता है वैसा ही बड़े भाई को छोटे भाई के साथ करना चाहिए। यदि गुरु अथवा बड़े भाई का विचार शुद्ध न हो तो शिष्य या छोटे भाई उसकी आज्ञा के अधीन नहीं रह सकते। बड़े के दीर्घदर्शी होने पर छोटे भी दीर्घदर्शी होते हैं। बड़े भाई को चाहिए कि वह अवसर के अनुसार अन्ध, जड़ और विद्वान् बने अर्थात् यदि छोटे भाइयों से कोई अपराध हो जाए तो उसे देखते हुए भी न देखे, जानकर भी अन-जान बना रहे और उनसे ऐसी बातें करें, जिससे उनकी अपराध करने की प्रवृत्ति दूर हो जाए। यदि बड़ा भाई प्रयत्क्ष रूप से अपराध का दण्ड देता है तो उसके छोटे भाइयों का हृदय छिन्न-भिन्न हो जाता है। और वे उस दुर्व्यवहार का लोगों में प्रचार कर देते हैं, तब उनके ऐश्वर्य को देखकर जलने वाले कितने ही शत्रु उनमें मतभेद पैदा करने की इच्छा करने लगते हैं।[4] ज्येष्ठ भ्राता अपनी अच्छी रीति से कुल को उन्नतिशील बनाता है, किन्तु यदि वह कुनीति का आश्रय लेता है तो कुल को विनाश के गर्त में डाल देता है। जो ज्येष्ठ होकर कनिष्ठ भ्राताओं के साथ कुटिलतापूर्वक व्यवहार करता है वह ज्येष्ठ कहलाने के योग्य ही नहीं है।[7] फिर भी बड़ा भाई अच्छा काम करने वाला हो या बुरा, छोटे को उसका अपमान नहीं करना चाहिए।[8] श्रेष्ठ पुरुष का कर्त्तव्य है कि यदि उसकी पत्नी या छोटे भाई कुमार्ग पर जा रहे हों तो वही करे जिस प्रकार

---

1. वन पर्व-132।11
2. शान्ति पर्व-227।113
3. अनु० पर्व-105।15, 16
4. स्वर्गा० पर्व-2।51-52
5. अनु० पर्व-105।16, 19
6. अनु० पर्व-105।4, 5
7. अनु०पर्व-105।6, 7
8. अनु० पर्व-105।13

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उनकी भलाई हो।[1] पिता की मृत्यु के पश्चात् बड़े भाई को ही पितृतुल्य समझना चाहिए।[2] बड़े भाई को उचित है कि वह अपने छोटे भाइयों को जीविका प्रदान करे तथा उनका पालन-पोषण करे।[3] छोटे भाइयों का कर्त्तव्य है कि वे सबके सब उसके सामने नतमस्तक हों तथा उसकी आज्ञा का पालन करें।[4] बड़ी बहिन भी माता के समान है तथा इसी प्रकार भाभी व धाय भी माता के समान हैं।[5]

भाइयों में परस्पर प्रेम व सौहार्द रहना चाहिए। महाभारत में पांचों पाण्डव प्रेम से रहते थे, परस्पर मन्त्रणा करते थे। चारों भाई युधिष्ठिर को समय-समय पर मन्त्रणा देते थे। चारों भाइयों की मन्त्रणा को वे भी प्रेमपूर्वक सुनते थे और यदि धर्म के विरुद्ध होती तो उन्हें प्रेम से समझाते थे। विदुर, धृतराष्ट्र के प्रेमी व विश्वासपात्र थे तथा समय-समय पर उनको अच्छी राय दिया करते थे। धृतराष्ट्र भलीभांति जानते थे कि विदुर ही एकमात्र उनके शुभाकांक्षी मित्र हैं। महाभारत[6] में कहा गया है कि भाइयों को एक ही परिवार में रहना चाहिए। पैतृक् सम्पत्ति का विभाजन करके पृथक्-पृथक् रहना अच्छा नहीं है। क्योंकि अलग हो जाने पर भाई धन के मद, मोह या लोभ में अन्धे होकर परस्पर कलह करते हैं। उस समय मुंह का मीठा व मन का कपटी शत्रु सुयोग समझकर उस कलह को बढ़ावा देता है और दोनों पक्ष कलहाग्नि में भष्म हो जाते हैं।

छोटी बहिन को भी बड़े भाई अधिक प्यार करते थे यथा श्रीकृष्ण व सुभद्रा।[7] पतिहीना विधवा बहिन का भरण-पोषण करना भाइयों का परम कर्त्तव्य था। उसका सम्पूर्ण भार भाइयों पर ही होता था।[8] बड़े भाई की पत्नी मां के तुल्य होती थी और वह भी देवर को स्नेह करती थी। एक बार युधिष्ठिर ने कहा कि 'यदि छोटा भाई अपने सपत्नीक बड़े भाई के शयन कक्ष में जाए तो कोई बात नहीं है, परन्तु बड़े भाई को अपने सपत्नीक छोटे भाई के शयन कक्ष में जाना निषिद्ध है।[9]

महाभारत काल में बड़े को तू या तुम (त्वं) कह देना उसका अपमान माना जाता था तथा छोटे के द्वारा बड़े का अपमान उसकी मृत्यु मानी जाती थी। कर्ण पर्व में घायल युधिष्ठिर ने अर्जुन के साथ-साथ उनके गाण्डीव की भी निन्दा कर दी तो अर्जुन

1. अनु० पर्व-105।13, 14
2. अनु० पर्व-105।16
3. अनु० पर्व-105।17
4. अनु० पर्व-105।17
5. अनु० पर्व-105।19
6. आदि० पर्व-29।18-21
7. सभा पर्व-2।4 दरशांनन्तरं कृष्णौ भगिनी स्वांभरतर्षभ।
8. उद्योग पर्व-33।74 चत्वादि ते तात गृहेवसन्तु············भगिनी चानपत्या।
9. आदि पर्व-213।32 गुरोरनप्रवेशो हि नोपघातोयवीयसः।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तलवार निकालकर उनके शिरच्छेद के लिए उद्धत हो गए तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मुख से महाराज के प्रति 'त्वं' का प्रयोग कराकर उसकी प्रतिज्ञा का पालन कराया अर्थात् 'त्वं' कहने से युधिष्ठिर का अर्जुन द्वारा वध मान लिया गया ।[1] किन्तु इस प्रकार तू कहना अपमान के भाव से ही बुरा माना जाता था। यदि भाव आदर का हो तो त्वं भी कहा जाता था व नाम लेकर भी पुकारा जाता था। अर्जुन भीम को उनका नाम सम्बोधन करके पुकारा करते थे किन्तु अपमान के उद्देश्य से नहीं ।[2]

उस काल में भी सास-ससुर दामाद का अत्यधिक आदर-सत्कार करते थे ।[3] ज्ञाति बन्धु (जाति वाले) को मृत्यु के समान भयानक समझा जाता था ।[4] यदि उससे शत्रुता हो जाए तो, अन्यथा ज्ञाति बन्धुओं के समान अपना कोई मित्र व सहायक नहीं, ऐसी मान्यता थी ।[5] क्योंकि ज्ञाति बन्धु सब समान होने के कारण एक-दूसरे का गौरव सहन नहीं कर सकते अतः परस्पर द्वेष हो जाने के कारण वैर हो जाता है ।[6] इसी-प्रकार अन्य ज्ञाति वाले से शत्रुता होने पर अपना ज्ञातिबन्धु ही, ज्ञाति मोह के कारण, अपनी सहायता करता है ।[7] द्वेष होने पर सरल स्वभाव, मृदुभाषी, उदार, सुशील व सत्यवादी पुरुष के विनाश की कामना उसका ज्ञातिबन्धु ही कर सकता है और कोई नहीं ।[8] ज्ञाति विहीन पुरुष प्रत्येक अवज्ञा का पात्र होता है वह बड़ी सरलता से शत्रु द्वारा पराजित हो जाता है अतः दोनों प्रकार से विचार करके मनुष्य का कर्त्तव्य है कि ज्ञाति से विनम्र व प्रेममय सद्व्यवहार करें, तथा अन्तः से उनपर विश्वास भी न करे ।[9] उन पर दया करे, उन्हें भोजना, मधुर भाषण, क्षमा, नम्रता, मृदुता, त्याग व प्रेम से संतृप्त करता रहे ।[10] दुर्योधन को जब गान्धर्वों के राजा ने कैद कर लिया तब युधिष्ठिर ने शत्रुता होते हुए भी अपना जाति बन्धु समझकर शत्रु के पंजे से मुक्त करवाया ।[11] कल्याणकामी मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह असहाय, वृद्ध ज्ञाति वाले को आश्रय दे ।[12]

---

1. कर्ण पर्व-69।81-83 गुरुणामपमानो हि वध इत्यभिधीयते ।
2. कर्ण पर्व 71।21, आदि पर्व-153।29
3. आदि पर्व-115।12 अधिकाकिल नारीणां प्रीतिर्जामातृजा भवेत् ।
4. शान्ति-पर्व-80।32
5. शान्ति पर्व-80।35
6. उद्योग पर्व-91।30
7. वन पर्व-242।3-22
8. शान्ति पर्व-80।33
9. शान्ति पर्व-80।38, 39
10. शान्ति पर्व-81।21-27
11. वन पर्व-242।3-22
12. उद्योग पर्व-33।74 वृद्धो ज्ञातिः

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यदि ज्ञाति बन्धुओं में सदा विरोध रहता है तो शत्रु को उन्हें पराजित करने का अवसर मिलता है। अतः साथ-साथ उठना-बैठना, खाना-पीना व मन्त्रणा करना ज्ञाति बन्धुओं को परमावश्यक है। परस्पर सहानुभूति एवं सद्व्यवहार रखने से जलाशय के कमलों के समान ज्ञातियों की शक्ति बढ़ती रहती है।[1] जो व्यक्ति अपने गुण सम्पन्न ज्ञाति से ईर्ष्या करता है उस असंयत मनुष्य का लक्ष्मी भी परित्याग कर देती है।[2] ज्ञातियों का विनाश करना अतिशय नीच कर्म है, जो अपने कुल धर्म को नष्ट करता है वह धर्म से च्युत हो जाता है।[3] ज्ञातियों में विरोध होने पर मध्यस्थता करके उनके विरोध को समाप्त कर देना मित्र का कर्त्तव्य माना जाता था।[4] सारांश यह है कि परिवार में कपट, द्वेष व अभिमान का त्याग करके सबके साथ उदारता, प्रेम व त्याग मय व्यवहार करे। बड़ा भाई पिता के समान, पत्नी व पुत्र अभिन्न शरीर, मृत्यु वर्ग अपनी छाया एवं दुहिता व छोटी बहिन नितान्त करुणा की पात्री होती हैं। बड़ी बहिन व भाभी मां के समान सम्मानीय हैं। ये लोग यदि कोई अनुचित कार्य कभी करें भी तो उसे सहन करना मनुष्य का कर्त्तव्य है।

गार्हस्थ्य धर्म को पालने वाला धार्मिक व्यक्ति निरन्तर परिश्रम करता हुआ परिवार के हित की कामना करे, यही उसकी तपस्या है। अपनी उन्नति, आदर, प्रतिष्ठा में परिवार की उन्नति, आदर व प्रतिष्ठा है उसी प्रकार अपने परिवार के किसी भी व्यक्ति के अभ्युदय में अपना भी अभ्युदय है। अतः परिवार के समस्त सदस्यों को मेल मिलाप व प्रेम से रहकर अपने परिवार की उन्नति करनी चाहिए न कि परस्पर कलह करके उसका पतन व विनाश। पारिवारिक कलह उसके प्रत्येक सदस्य के विनाश का मूल है।[5] महाभारत में भी तो यही आदर्श उपस्थित किया गया है। परस्पर बन्धु (कौरव-पाण्डव) ने कलह व युद्ध करके अपने वंश का व देश का भी विनाश कर दिया। यदि यह बन्धु-विरोध न होता तो न जाने भारत की क्या स्थिति होती।

(छ) आहार एवं वेषभूषा

महाभारत काल में आहार के सम्बन्ध में विशेष ध्यान रखा जाता था, क्योंकि आहार का विचारों से तथा विचारों का आचरणों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। खान-पान की वस्तुओं को सात्विक, राजस व तामस तीन भेदों में विभाजित किया गया था। जो आयु-सत्व, बल, आरोग्य, सुख व प्रीतिवर्धक होती है; स्वादिष्ट, सरस व

1. उद्योग पर्व-64।10, 11
2. उद्योग-पर्व-91।30
3. भीष्म पर्व-25।38-45
4. स्त्री पर्व-25वां अध्याय
5. उद्योग पर्व-39।18-25, वन पर्व-199।100, 101

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रुचिकर होती हैं वे सात्विक। कटुअम्ल, लवण, मिर्च आदि तीक्ष्ण, रुक्ष, विदाहक व रसहीन पदार्थ राजस होते हैं तथा बासी, दुर्गन्धयुक्त, उच्छिष्ठ, मांस, मदिरा आदि तामस होते हैं।[1] एक स्थान पर कहा है कि भोजन में संयम रखने से पाप नष्ट होते हैं।[2] ठीक है, पापों का फल दुख है अतः रोगादि पाप ही हैं इनका शमन हुआ कि पापों का ही शमन हुआ।

महाभारत काल में केवल दो बार खाने का नियम था। जो दिन रात में केवल दो बार आहार लेते थे, मध्यान्तर में कुछ भी नहीं लेते थे वे 'सदोपवासी' कहे जाते थे।[3] भोजन के विषय में अन्य अनेक प्रकार के नियम भी थे। भोजन के पूर्व भली-भांति हाथ पैर धो लेना व आचमन कर लेना चाहिए। आसन व भोजन-पात्र पवित्र होना चाहिए। उस समय शरीर के उत्तमांग पर उत्तरीय रहना चाहिए। जूता व खड़ाऊ पहिनकर कुछ भी नहीं खाना चाहिए। अकेले बैठकर, एकान्त में एकाग्रचित होकर भोजन करना चाहिए। भोजन के अन्त में दही नहीं खाना चाहिए।[4] गृहस्थ को स्वयं भी वही भोजन करना चाहिए जो परिवार के अन्य लोग, अतिथि व सेवकों के लिए बने। स्वयं के लिए कुछ भी विशिष्ट बनाना निषिद्ध है।[5] देव, पितृ, अतिथि एवं परिवार के अन्य व्यक्तियों को भोजन कराने के पश्चात, भोजन करने वाले को 'विघसाशी' कहते थे।[6] सबके भोजन कर लेने के पश्चात्, अवशिष्ट भोजन को 'अमृत' कहते थे।[7] केवल स्वयं के लिये भोजन बनाना भी निषिद्ध था।[8] विशिष्ट स्वादिष्ट पदार्थों को प्रथम किसी अन्य व्यक्ति को खिलाये विना स्वयं खा लेना निषिद्ध माना जाता था।[9] साथ ही भोजन अपने इष्ट देव के अर्थ बनाया जाता था, स्वयं के लिए नहीं।[10] जिससे परमात्मा किसी भूखे दीन हीन के रूप में यदि उपस्थित हो जायें तो उन्हें भोज्य पदार्थ समर्पित करने में कोई कष्ट का अनुभव न हो। उस काल के भोजन में दूध, दही एवं घी का व्यवहार बहुत अधिक होता था। दूध को 'अमृत' माना जाता था। दूध, दही व घी की प्रशंसा अनेक स्थानों पर मिलती है।[11] खाद्यान्नों में यव व

1. भीष्म पर्व-41।8, 10
2. शांति पर्व-217।18
3. शान्ति पर्व-193।10, अनु० 93।10, 162।40
4. अनु० पर्व-104 वां अध्याय
5. शान्ति पर्व-193।9
6. अनु० पर्व-93।15
7. अनु० पर्व-93।13
8. भीष्म पर्व-27।13
9. शान्ति पर्व-36।33-35, शान्ति पर्व 228।63
10. अनु० पर्व-104।41
11. अनु० पर्व-66।45, अनु० 71।51, अनु० 83 वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

धान प्रधान थे।[1] भोजन के प्रसंग में प्रत्येक स्थान पर अधिकतर 'अन्न' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त तिल, गुड़, शाक, मांस व मछली का भी उल्लेख खाद्य पदार्थों में हुआ है।[2]

महाभारत काल में दोनों ही प्रकार के व्यक्ति थे, अनाहारी वा मांसाहारी। किन्तु शिष्ट व साधु पुरुषों का भोजन अन्न, दुग्धादि, दाल-शाक आदि ही था, क्योंकि सत्वादि तीनों गुणों में सत्व को श्रेष्ठ व रज व तप को त्याज्य माना जाता था। मांस की गणना तपोगुणी पदार्थों में की गई है तथा भीष्म ने युधिष्ठिर से अनेक बार मांस भक्षण की निन्दा की है।[3] क्षत्रिय लोग शिकार में मारे गये पशुओं का मांस खाते थे।[4] युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ में संग्रहीत खाद्य पदार्थों में पशु-पक्षी भी सम्मिलित थे।[5] मौषल पर्व में कहा गया है कि अंधक व वृष्णीवंशी राजा बहुत ही मांसप्रिय थे। उस काल में मांस दो प्रकार का माना जाता था—वैंध एवं अवैंध। अनेक प्रकार के मांस वैंध माने जाते थे। विहित मन्त्रों द्वारा बलि दिया हुआ तथा ब्राह्मण के निमित्त लाया गया,[6] वेदोक्त प्रमाणानुसार तथा पितृओं की श्राद्ध आदि क्रियाओं में मांस विहित था इससे अन्यथा 'वृथामांस' कहा जाता था जो 'अभक्ष्य' था।[7] इत्यादि प्रमाण मांस भक्षण के विषय में प्राप्त होते हैं। केवल आत्म तृप्ति के उद्देश्य से पशुपक्षी का वद्ध करके मांस भक्षण करना निषिद्ध था।[8] देवताओं व पितरों को निवेदित किया हुआ मांस वैंध तथा अन्यथा मांस वृथा मांस कहलाता था।[9] 'वृथा मांस' खाना पाप माना जाता था।[10] जो वृथा मांस न खाकर केवल वैंध मांस खाता था उसे 'अमांसाशी' कहा जाता था।[11] किन्हीं किन्हीं प्रदेशों में मांस भक्षण अधिक प्रचलित था। मिथिला के बाजार में मांस की दुकान पर ग्राहकों की भीड़ का वर्णन है।[12]

महाभारत में स्थान-स्थान पर मांस त्याग को पुण्य कर्म बतलाया गया है तथा

---

1. अनु० पर्व-93।33, 44, आदि पर्व-85।13
2. अनु० पर्व-116।2, अश्व० पर्व-81।21
3. अनु० पर्व-116।11-36
4. अनु०पर्व-116।16, वन पर्व-2।8
5. आश्व पर्व-88।33, 34
6. अनु० पर्व-115।45, अनु० पर्व-162।43
7. अनु० पर्व-115।52, 53
8. वन पर्व-2।58
9. वन पर्व-207।14
10. अनु० पर्व-93।121
11. अनु० पर्व-93।12
12. वन पर्व-206 वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मांस न खाने वालों को 'तपस्वी', 'मुनि' कहा गया है।[1] मांस न खाने वाले को प्रतिमास अश्वमेघ यज्ञ करने वाले व्यक्ति के समान पुण्यात्मा बतलाया है।[2] क्षत्रिय अनेक प्रकार के मांसों का प्रयोग करते थे। त्रैणेय, पृषत, न्युंक, हरिण, शरभ, शश, ऋक्ष, रूरू, गवय, मृग, बराह महषि आदि।[3] अनेक पक्षियों का मांस भी खाया जाता था।[4] विशिष्ट अवसरों पर पर्याप्त मांस संग्रह किया जाता था। मछली प्रचलन कम था। पितृकृत्य में मछली का यदाकदा व्यवहार किया जाता था।[5] महाभारत काल में गौ-हत्या निषिद्ध थी। गौहत्या को पातक माना जाता था।[6] अतिथि अभ्यागत के सम्मान में अर्घ्यपाद्य के साथ गौ भी दी जाती थी। गौहत्या का समर्थन कहीं भी नहीं किया गया है वरन् गौरक्षा का उपदेश ही दिया गया है। जनमेजय ने अपने नागयज्ञ में महर्षि व्यास को भी सम्मानार्थ गौदान किया था।[7] यत्र तत्र अतिथि को गौदान करने के उदाहरण मिलते हैं।[8] अन्न-ग्रहण में विधि-निषेध के सम्बन्ध में अनेक कठोर नियम थे। प्रेत्-श्राद्ध, सूतिका व अशौची का अन्न अग्राह्य माना जाता था। बायें हाथ से दिया हुआ, बासी, उच्छिष्ठ, हाथ से दिया नमक, शराब से छुआ अन्न अभक्ष्य थे। (शेष विधि निषेध "वर्ण-व्यवस्था" नामक अध्याय में वर्णित है)

महाभारत काल में सुरापान भी अधिक मात्रा में किया जाता था यद्यपि साधु-पुरुष या शिष्टपुरुष निन्दा करते थे। ब्राह्मणों के लिए तो प्राचीनकाल से ही सुरापान निषिद्ध था।[9] भीष्म ने भी सुरापान को अधिक निन्दनीय व पतित करने वाला दुष्कर्म बतलायाहै।[10] कर्ण व शल्य की पारस्परिक कलह में कर्ण ने मद्र प्रदेश की महिलाओं के सुरापान की चर्चा करके व्यंग किया था।[11] इतना होने पर भी तत्कालीन समाज में इसका पर्याप्त प्रचार पाया जाता है। अभिमन्यु के विवाह में सुरा का पर्याप्त प्रबन्ध किया गया था।[12] हलधर के सुरापान की चर्चा अनेक स्थलों पर है।[13] उद्योग पर्व में जब संजय

1. अनु० पर्व-114वां और 115वां अध्याय
2. अनु० पर्व-115।10
3. वन पर्व-206।14, 15
4. अश्व० पर्व-85।34
5. अनु० पर्व-88।5
6. कर्ण पर्व-45।29, अनु० 78।17
7. आदि पर्व-60।13,14
8. सभा पर्व-21।31, उद्योग पर्व-8।26, उद्योग पर्व-35।26, शान्ति पर्व-326।5
9. आदि पर्व-76।67
10. शान्ति पर्व-141।90, शान्ति पर्व 165।34, उद्योग पर्व 35।34
11. कर्ण पर्व-40।34
12. विराट पर्व-72।28
13. आदि पर्व-219।7, आदि०220।20, उद्योग पर्व-156।19

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शान्ति दूत बनकर गया, उस समय श्रीकृष्ण व अर्जुन दोनों मदिरा पान कर मद-मत्त थे ।[1] द्रोणपर्व में भीम ने युद्ध करने को जाते समय मदिरा पान करके अपने में द्विगुणित बल का अनुभव किया ।[2] सात्यकि की भी युद्धकाल में मदिरा पान की चर्चा है ।[3] इससे विदित होता है कि युद्ध में मस्त हो जाने के लिए अधिकतर क्षत्रिय मदिरापान किया करते थे । युद्ध के अतिरिक्त भी अनेक व्यक्ति मदिरापान करते थे[4] यदुवंश में सुरा का अधिक प्रयोग किया जाता था, और वही उनके विनाश का कारण बना ।[5] युधिष्ठिर की अश्वमेघ यज्ञ में भी सुरा का पर्याप्त प्रबन्ध किया गया ।[6] कृष्ण व अर्जुन जब जल क्रीड़ा को यमुना तट पर गये तो उनके साथ द्रौपदी, सुभद्रा आदि कुल वधुएं भी गई थीं। उनमें से अधिकांश ने श्रेष्ठ सुरा का पान कर लिया था या कर रही थीं ।[7] कीचक की बहिन व विराट की रानी सुदेष्णा बार-बार मदिरा पान की अभ्यासिनी थी ।[8] उत्तरा के सम्बन्ध में भी मद-पान की चर्चा है ।[9] अतः विदित होता है कि सम्भ्रान्त-कुल की, धनी वर्ग की नारियां भी मदिरापान किया करती थी ।

सोमपान के अधिकारी केवल वे ब्राह्मण होते थे जिनके घर में तीन वर्ष के लिए पर्याप्त खाद्य सामग्री ही । इससे प्रतीत होता है कि साधारण समाज में सोमरस-पान सुलभ नहीं था ।[10]

योगियों के लिये स्निग्ध पदार्थों का निषेध था। उनके लिए कण, पिण्याक, यापक व कन्द, फल व मूल खाने का विधान था।[11] जंगली फल मूल साधारणतः ब्राह्मणों के खाद्य स्वरूप व्यवहृत होते थे। उन्हें ब्राह्मणों की सम्पत्ति समझा जाता था। जंगली कन्द फल मूल कोई नष्ट न करे इसका राजा विशेष ध्यान रखता था ।[12] किरातादि वन्य जातियां भी केवल फल मूल खाती थी।[13] धनियों का प्रधान खाद्य मांस, मध्यक्ति परिवार

1. उद्योग पर्व-59।5
2. द्रोण पर्व-125।13,14
3. द्रोण पर्व-110।61
4. विराट पर्व-16।3
5. मौषल पर्व-3।8-32
6. अश्व पर्व-89।39
7. आदि पर्व-222।24
8. विराट पर्व-16।4
9. स्त्री पर्व-20।7
10. शान्ति पर्व-164।5
11. शान्ति पर्व-300।43,44
12. शान्ति पर्व-89।1
13. सभा पर्व-52।9

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

में दूध व घी का प्रयोग होता था किन्तु व्यक्तियों के भोजन में केवल तेल का प्रयोग किया जा सकता था।[1] धनी व्यक्तियों की पाचन शक्ति अधिक गरिष्ठ पदार्थ खाने व श्रम कम करने से नष्ट हो जाती थी परन्तु दरिद्र को, रूखा-सूखा खाने व अधिक श्रम करने से अधिक भूख लगती थी।[2] साधारणतः भोजन बनाने का भार स्त्रियों पर ही रहता था। द्रौपदी, जो राजकुमारी थी, को आते ही विवाह के दिन ही, कुन्ती के आदेश से भोजन बनाना पड़ा था।[3] वैसे कुछ व्यक्ति भी भोजन बनाने की कला में चतुर थे। भीम राजा विराट के यहां एक वर्ष तक रसोइया रहे थे।[4]

भोजन के सम्बन्ध में अनेक विधि निषेध होते हुए भी आपत्काल के लिए ढील थी। प्राण रक्षा के लिए मनुष्य कुछ भी व किसी स्थिति में तथा किसी भी व्यक्ति के हाथ का अन्न, मांस आदि खा पी सकता था। कोई बन्धन नहीं था। उस समय तो सब धर्मों का व शुभ कर्मों का आधार शरीर की रक्षा जैसे भी हो वैसे करना प्रमुख धर्म माना जाता था।[5] एक बार दुर्भिक्ष पड़ने पर महर्षि विश्वामित्र भूख की ज्वाला न सह सके, तब वे चोर की भांति एक चांडाल के घर में घुसे और एक कुत्ते की टांग उठा लाये। सौभाग्य से उसे खाने का योग नहीं आया और उनके तपोबल से वर्षा हो गई तथा दुर्भिक्ष का अन्त हो गया।[6]

महाभारत कालीन वेषभूषा का भी महाभारत के अध्ययन से ज्ञान होता है। उस काल में भी नाना प्रकार के वस्त्र पहनने का प्रचलन था। ब्राह्मण अधिकतर श्वेत वस्त्र धारण करते थे। आचार्य दोण एवं कृप श्वेत वस्त्र की धोती पहनते थे।[7] तथा भीम, अर्जुन व श्रीकृष्ण जब जरासन्ध वध के लिये ब्राह्मण वेश धारण करके गये तब वे श्वेत वस्त्र धारण किये हुए थे।[8] ब्राह्मण मृग चर्म भी धारण करते थे।[9] श्वेत वस्त्रों को विशेष पवित्र माना जाता था।[10] कर्ण, कृष्ण व अर्जुन पीले, बलराम अश्वस्थामा, दुर्योधन आदि नीले वस्त्र पहिनते थे।[11] राजाओं का परिधान एक 'प्रावार' नामक बहुमूल्य वस्त्र भी

---

1. उद्योग पर्व-34।59
2. उद्योग पर्व-34।51, शान्ति पर्व 28।29
3. आदि पर्व-192।4
4. विराट पर्व-8वां अध्याय
5. शान्ति पर्व-141।100
6. शान्ति पर्व-141वां अध्याय
7. विराट पर्व-66।13
8. सभा पर्व-21।44
9. आदि पर्व-190।41
10. अनु० पर्व-127।14
11. वन पर्व-18।18, विराट पर्व 66।13

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

होता था। सभापर्व में ईर्ष्या से जलते रहने वाले दुर्योधन से महाराज धृतराष्ट्र ने कहा था। 'प्रावार पहनते हो और पिशितोदन खाते हो फिर भी क्यों सूखते जाते हो?'[1] गीले वस्त्र पहनकर स्नान करने का नियम था। समयानुसार विभिन्न वस्त्रों का व्यवहार किया जाता था। सोते समय, पूजापाठ के समय, कामकाज के समय विभिन्न वस्त्र पहने जाते थे।[2] युद्ध काल में योद्धा लोग अधिकतर रक्त वस्त्र धारण करते थे।[3] भिन्न-भिन्न देशों की वेशभूषा में भी अन्तर था। युधिष्ठिर की राजसूय यज्ञ में सिंहलवासी रत्न खचित वस्त्र धारण करके आये थे।[4] तथा पर्वतीय किरात आदि अपने शरीरों पर पशुओं के चमड़े लपेटे थे।[5] राक्षस भी वस्त्रादि का प्रयोग करते। वे गंधमल्य धारण करते थे।[6] उष्णीद का प्रयोग भी किया जाता था। प्राग्ज्योतिष पुर नरेश अपने सिर पर उष्णीश बांधे हुए थे।[7]

पुरुष भुजबन्द, कुण्डल आदि स्वर्ण अलंकारों का प्रयोग करते थे।[8] सोने की प्रचुरता थी। राजाओं के स्वर्ण मुकुटों में मणि व गले में निष्क-हार होते थे। प्रव्रज्या लेते समय पाण्डु ने ये आभूषण ब्राह्मणों को दान में दिए थे।[9] सोने के शिरस्त्राणि भी होते थे।[10] कुछ पुरुष लम्बे बाल रखते थे तथा कुछ चोटी रखते थे। दुर्योधन के लम्बे बाल थे[11] तथा अर्जुन के सिर पर चोटी थी।[12] कोई कोई पहाड़ी जाति वाले लोग भी चोटी रखते थे।[13] साधारणतः लम्बे बाल रखने प्रचलन था।[14] भीम ने कीचक को बाल पकड़-कर पछाड़ा था, अवश्य बड़े बाल थे।[15] भीम ने जरासंध के भी बाल मुट्ठी में पकड़

1. सभा पर्व-49।9, वन पर्व-3।5।
2. अनु० पर्व-104।85-87
3. द्रोण पर्व-33।15
4. सभा पर्व-52।36
5. सभा पर्व-52।9
6. आदि पर्व-154।14
7. भीष्म पर्व-16।22, उद्योग पर्व 152।19
8. उद्योग पर्व-152।18
9. आदि पर्व-119।38
10. द्रोण पर्व-111।14
11. शल्य पर्व-64।4-4
12. विराट पर्व-2।27, विराट-11।5
13. सभा पर्व-52।3
14. विराट पर्व-32।12
15. विराट पर्व-22।52

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लिए थे।[1] कुछ लोग श्रृंग के आकार का केशविन्यास करते थे[2] कृष्ण व अभिमन्यु के सिर पर काक पक्ष थे।[3] काक पक्ष को कोई कोई पांच शिखा तथा कोई जुल्फें कहते हैं। महाभारत में दो ही गृहस्थ ऐसे मिलते हैं जो दाढ़ी मूंछ रखे हुए थे, वे थि व्यासव द्रोण।[4]

महाभारत काल में ब्रह्मचारी एक पलाश या बिल्व काष्ठ का दण्ड धारण करते थे। मूंज निर्मित मेखला व यज्ञोपवीत धारण करते थे। सिर पर जटा रखते थे।[5] वानप्रस्थी व संन्यासी, चर्म या वल्कल वस्त्र धारण करते थे, बाल तथा दाढ़ी मूंछ रखते थे। कुन्ती, विदुर, धृतराष्ट्र व गांधारी ने वानप्रस्थ में प्रवेश करते समय ये ही वस्त्र पहने थे।[6] महा-प्रस्थान के समय पांचों भाई पांडवों व द्रौपदी ने चर्म व वल्कल वस्त्र धारण किये थे।[7] ऐसे ही वस्त्र वनवास के समय भी पहने थे।[8]

यज्ञ में यजमान भी ब्रह्मचारी की भांति कृष्ण मृग चर्म पहनते थे, दण्ड धारण करते थे किन्तु आभूषण आदि का निषेध नहीं था। रेशमी वस्त्र पहनते थे, स्वर्ण हार भी पहनते थे। अश्वमेघ यज्ञ में महाराज युधिष्ठिर की यही पोषाक थी।[9] स्त्रियों के वस्त्रों के विषयों में महाभारत में विस्तृत विवरण नहीं मिलता केवल 'सपरिच्छदाः' शब्द आया है।[10] विवाह के समय द्रौपदी रेशमी वस्त्र पहने हुई थी।[11] सुभद्रा लाल रंग का कौषेय वस्त्र धारण किये थी।[12] स्वर्णमाल्य आदि अलंकार भी धारण किये जाते थे।[13] छाता जूता का प्रयोग व्यापक रूप से किया जाता था। स्नातक व ब्राह्मण को छाता जूता दान करने का नियम था।[14] प्रसाधन द्रव्यों में चन्दन सर्व प्रधान था।[15] अगरू मिश्रित अथवा बिना अगरू मिलाये भी चन्दन का लेप सभी नर नारी किया

1. सभा पर्व-23।6
2. सभा पर्व-51।30
3. द्रोण पर्व-48।17
4. आदि पर्व-106।5, आदि०-138।19
5. अश्व० पर्व-46।4, 6
6. अश्व पर्व-46।8, 15, आश्रम० 19।15-18
7. महाप्रस्थान पर्व-1।20
8. सभा पर्व-79।10
9. अश्व० पर्व-73।5
10. आदि पर्व-134।15, आदि० 153।14 विराट-72।31
11. आदि पर्व-119।13
12. आदि पर्व-221।19
13. 73।2, 3
14. अनु० पर्व-95।2, अनु० पर्व-96।20
15. सभा पर्व-21।8

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

करते थे। विराट नगर में द्रौपदी राजा विराट के लिये चन्दन तैयार किया करती थी।[1] वीर शैया पर पड़े भीष्म को उनके सम्मानार्थ कुमारियों ने उन्हें चन्दनादि से विभूषित किया था।[2] स्त्री पुरुष स्नान के पश्चात् पुष्पादि से सज्जित होते थे।[3] प्राचीन आर्यों का पुष्पों से अधिक प्रेम था। विवाहादि सभी शुभ कार्यों में पुष्पों का प्रयोग किया जाता था।[4]

महाभारत कालीन समाज में अन्य अनेक सामाजिक प्रथाएं थीं जिनमें से अधिकांश आज भी भारतीय समाज में प्रचलित हैं तथा कुछ समय के परिवर्तन से लुप्त हो गई हैं। शवदाह-क्रिया लगभग आज की भांति ही होती थी। शव को वस्त्र द्वारा भलीभांति आच्छादित करने का नियम था।[5] भीष्म पितामह की मृतदेह को युधिष्ठिर तथा विदुर ने रेशमी वस्त्र व फूल मालाओं से भलीभांति ढका था। युयुत्सु ने छत्र लगाया, भीमार्जुन ने चंवर डुलाये, नकुल सहदेव ने सिर पर पगड़ी बांधी, धृतराष्ट्र तथा युधिष्टिर उनके चरणों में बैठे और कुरूकुल की स्त्रियां ताल वृन्त से व्यजन करने लगीं।[6] चन्दनकाष्ठ से चिता तैयार करके उसपर गन्धद्रव्य रखे गये व धृतराष्ट्र आदि ने चिता की प्रदक्षिणा करके दाह संस्कार किया। उस समय साभग पंडितों ने श्मशान में ही वेद गान किया।[7] महाराज पाण्डु के शव के साथ माद्री सती हुई। हिमालय पर से ऋषिगण सत्रहवें दिन उन दोनों की अस्थियों को हस्तिनापुर लाये। धृतराष्ट्र की आज्ञा से दोनों की अन्त्येष्टि क्रिया राजोचित ढंग से की गई। भस्मावशिष्ट अस्थियों को वस्त्रों से आच्छादित शिविका में रखकर श्मशान ले जाया गया। श्वेतछत्र, चमर व व्यजन आदि लेकर लोग साथ चले, वाद्यों के निनाद से चारों दिशाएं मुखरित हो उठीं। याचकों को मनचाहा मिला। गंगा किनारे अस्थियों को निकालकर उनपर सुगन्धित द्रव्यों का लेप किया और जल पूर्ण स्वर्ण घट से स्नान कराया। पुनः काला-गरुचन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों का लेप करके श्वेत वस्त्र से आच्छादित किया गया, घी का सिंचन करके चन्दनादि गन्ध द्रव्यों से उनका दाह किया गया।[8]

युद्ध क्षेत्र में भी युद्धोपरागत सभी प्रमुख योद्धाओं की यथाशक्ति दाह क्रिया

---

1. विराट पर्व-20।23
2. भीष्म पर्व-121।3
3. अनु० पर्व-104।87, 88
4. अनु० पर्व-98।33
5. आदि पर्व-127।3
(. अनु० पर्व-168।12-15
7. अनुशासन पर्व-168।15-17
8. आदि पर्व-127 वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की गई थी।[1] शवदाह के पश्चात् साथ जाने वाले लोग वृद्ध को अग्रवर्ती करके, नदी आदि के जल में स्नान करके पवित्र होते थे।[2] स्नान करते ही मृतात्मा की तृप्ति के लिये उदक-क्रिया की जाती थी।[3] जो यति योगबल से शरीर त्याग करते थे उनका दाह संस्कार नहीं होता था जब विदुर की देह का दाह संस्कार करने को युधिष्ठिर उद्यत हुए तब आकाशवाणी हुई, 'महाराज' विदुर ने यात्रियों की भांति देह त्याग किया है, वे 'सान्तानिक' लोग जावेगें। उनकी दाह क्रिया मत कीजिये, यह शव यही रहेगा।[4] पिता की मृत्यु के पश्चात् पाण्डव तथा अनेक नगर निवासी ब्राह्मणादि भूमि पर सोये थे।[5] दाह संस्कार के दिन से बारह दिन तक अशौच का पालन किया, नगर के बाहर रहे। तेरहवें दिन श्राद्धादि कर्म सम्पन्न किये।[6] क्षत्रियों में युद्धकाल में सद्यःशौच का पालन किया जाता था।[7] पितृ-ऋण-शोध के दो ही उपाय थे, 1-पुत्रोत्पादन, 2-श्राद्ध-तर्पण[8]। पुत्रोत्पादन का वर्णन 'गृहस्थाश्रम' में किया जा चुका है।

प्रतिदिन तर्पण व श्राद्ध करना सन्तान का कर्त्तव्य माना जाता था।[9] अमावस्या के दिन का विशेष विधान था।[10] तीर्थों में तर्पण करने का भी विधान था। अर्जुन ने हरिद्वार पहुंचकर सर्वप्रथम, गंगा में स्नान करके तर्पण किया था।[11] युद्धोपरान्त भी सबने अपने-अपने सगे सम्बन्धियों का तर्पण किया था।[12] श्राद्ध तर्पण के द्वारा पितरों को तृप्त करके मनुष्य उत्कृष्ट-सन्तान, उत्तम स्वास्थ्य व विपुल सम्पत्ति प्राप्त करता है तथा सब प्रकार की आपत्ति-विपत्ति से रक्षित होकर परम शान्तिमय जीवन व्यतीत करता है।[13] श्राद्ध में श्रृद्धा व शुचिता की प्रधानता होती है नहीं तो वह निष्फल होता है।[14] श्राद्ध में श्रृद्धा सहित दान देने से दान प्राप्त करने वाले की तृप्ति के साथ-साथ

---

1. स्त्री पर्व-26।24-43
2. स्त्री पर्व-26।44, अनु पर्व 15।18।19
3. आदि पर्व-127।28, अनु० 168।20
4. आश्रम०-26।31-33
5. आदि पर्व-127।31
6. आदि पर्व-127।32, आदि पर्व 128।3
7. शान्ति पर्व-1।103
8. शान्ति पर्व-292।60
9. अनु० पर्व-92।16
10. अनु० पर्व-92।19
11. आदि पर्व-214।12
12. स्त्री पर्व-9।7
13. शान्ति पर्व-110।20, शान्ति पर्व-345।26, 27
14. अनु० पर्व-90।20

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पितरों की भी तृप्ति होती है।[1] श्रद्धा विधि अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है स्वयं भू ब्रह्मां ही इस विधि के प्रवर्तक हैं[2] जीवित व्यक्ति स्वयं भी अपना पिंडदान करके श्राद करते थे।[3]

महाभारत काल के समय में भी गया-श्राद्ध की महिमा थी।[4] श्राद्ध के लिये कुल शील, वय, विद्या, विनय, व्यवहार आदि को ध्यान में रखकर ब्राह्मण की परीक्षा की जाती थी।[5] पंक्ति पावन ब्राह्मण ग्राह्य व निंद्य या पतित ब्राह्मण अग्राह्य थे।[6] श्राद्ध में मित्र व शत्रु दोनों ही ब्राह्मण वरणीय नहीं। ब्राह्मण के विना श्राद्ध नहीं। श्राद्ध का भोजन व दान केवल ब्राह्मण, वह भी श्रेष्ठ ब्राह्मण के ही लिये है। श्राद्ध में 'संभोजनी' (भाई बन्धु मित आदि को बुलाकर तृप्त करना) को 'पिशाचदक्षिणां कहा जाता था श्राद्ध तो असफल होता ही है साथ ही पाप भी लगता है।[7] श्राद्ध कर्म में सामर्थ्य के अनुसार व्यय करने का विधान था। ऋण लेकर धर्म कृत्य करना प्रशंसित नहीं माना जाता था, ऋणगृस्त व्यक्ति को पातकी माना जाता था।[8] तीन ब्राह्मण से अधिक के भोजन का विधान नहीं था। मनुस्मृति में भी श्राद्ध में देव के लिये दो व पितरों के लिये तीन अथवा (यदि इतनी भी सामर्थ्य न हो) देव व पितर दोनों के लिये एक-एक ब्राह्मण को भोजन करना चाहिए।[9] इस प्रकार स्पष्ट है कि श्राद्ध में अधिक व्यय व आडम्वर को कोई आवश्यकता नहीं है। लोक लाज की भी कोई आवश्यकता नहीं।

(ज) अन्य सामाजिक रीति-रिवाज

महाभारत काल में अन्तःपुर में प्रवेश करते समय दोनों हाथ जोड़े हुए, दृष्टि नीचे पैरों की ओर झुककर जाने का नियम था।[10] किसी व्यक्ति को अपमानित करने के लिए उसके बाल मुंडाकर पांच स्थानों पर बाल छोड़े जाते थे तथा उसके द्वारा 'दासोस्मि' कहलवाया जाता था। द्रौपदी हरण के अवसर पर 'जयद्रथ' को अवध्य मानकर,

1. आश्रम पर्व-14 वां अध्याय
2. अनु० पर्व-91 वां अध्याय
3. आश्रम पर्व-14।15
4. अनु० पर्व-88।14
5. अनु० पर्व-90।204
6. इनका वर्णन 'वर्ण व्यवस्था' अध्याय में देखिये
7. अनु० पर्व-90 वां अध्याय
8. अनु० पर्व-23।21
9. मनु० 3।125,126
10. उद्योग पर्व-59।2

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उसका इसी प्रकार अपमान किया गया था ।[1] रजस्वला, निपुत्री, व श्वेत कुष्ठ वाली स्त्रियों का मांगलिक कार्यों में अनाधिकरण था ।[2] कल्याणकामी व्यक्ति प्रात: शैया त्याग करते ही माता, पिता आदि गुरुजनों का, उनके चरणों में सिर रखकर व हाथ जोड़कर अभिवादन करते थे ।[3] यात्रा के प्रारम्भ में मी देवता, ब्राह्मण व गुरुजनों को चरण स्पर्श पूर्वक प्रणाम करना अनिवार्य था ।[4] कहीं से आने पर गृह-प्रवेश से पूर्व भी सबको अपना नाम लेकर प्रणाम किया जाता था ।[5] गुरुजन प्रणाम करने वाले का आलिगन करते व सिर सूंघते थे । कुशल क्षेम के पश्चात् पूछते थे 'तुम्हारी धर्म एवं ज्ञान तो नहीं घट रहा ? तुम पूज्य गुरुजनों का यथारीति सम्मान तो करते हो ?[6]

अभिषेक की प्रथा थी । यह एक महोत्सव के रूप में मनाया जाता था । महाभारत में कर्ण[7] व युधिष्ठिर[8] के अभिषेक का वर्णन मिलता है । शृगाल आदि पशुओं के अमंगल सूचक शब्द सुनने पर 'स्वस्ति-स्वस्ति' शब्द का उच्चारण करते थे ।[9] आनन्द के समय परस्पर हाथ मिलाकर प्रसन्नता व्यक्त की जाती थी । अचानक किसी प्रेमी के आ जाने पर हर्षातिरेक से उससे हाथ मिलाया जाता था ।[10] आनन्द व्यक्त करने के लिए ताली वजाना प्रचलित था । रंगमंच तथा युद्वभूमि के दर्शकगण ताली बजाकर अभिनेता व योद्धा का उत्साह बढ़ाते थे ।[11] सभा समिति में वस्त्र हिलाकर भी हर्ष प्रकट किया जाता था । धृतराष्ट्र के कहने से जव द्रौपदी को दासत्व से मुक्ति मिली तव सभा सद्गणों ने वस्त्रांचल हिलाकर हर्ष प्रकट किया था ।[12] ब्राह्मम वेशधारी अर्जुन के, द्रौपदी के स्वयंवर में, लक्ष्यवेध कर लेने पर उपस्थित अगणित ब्राह्मणों ने अपने-अपने चैल खंड विजय पताका की भांति ऊपर उड़ाए थे ।[13] युद्धारम्भ में दुर्योधन सैनिकों ने भी

---

1. वन पर्व-271।9-11
2. अनु० पर्व-127।13
3. अनु० अर्व-104।44
4. आदि पर्व-145।1-4, आदि पर्व 113।22 अश्वमेघ पर्व-63।22
5. आदि पर्व-113।43, आदि० 207।21, सभा० 49।53, सभा० 2।34, वन पर्व 159।1, आदि पर्व-191।20
6. सभा पर्व-2।3 आदि०159-4
7. आदि पर्व-136।37-38
8. शान्ति पर्व 40वां अध्याय
9. सभा पर्व-71।23
10. वन पर्व-237।24, वन पर्व-261।25, उद्योग पर्व-156।22, शल्य० 32।43
11. वन पर्व-20।27, शल्य पर्व-33।60
12. सभा पर्व-70।7
13. आदि पर्व-188।23

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हर्षोल्लास में वस्त्र हिलाए थे।[1] एक ही उद्देश्य से, जब बहुत से लोग एकत्रित होते थे तब 'योग-योग' शब्द आनन्द सूचक के लिए कहा जाता था।[2]

अपने घर आने वाले सगे-सम्बन्धियों से 'तुम जाओ' या 'अब तुम्हारा जाना उचित है' नहीं कहा जाता था।[3] उस काल में मेला, उत्सव आदि होते थे। वारणाव्रत भेजते समय पाण्डवों से कहा गया था कि वहां 'पशुपति समाज' लगा है।[4] ब्रह्म-उत्सव नामक मेला भीम द्वारा वक राक्षस का वध किए जाने पर लगा था।[5] भीम उस समय ब्राह्मण वेष में थे। सुभद्रा हरण के समय यादवों का, रैवतक पर्वत पर मेला था जिसे समाज या उत्सव कुछ भी कहा जाए।[6] विराट नगर में शरत्काल में 'ब्राह्मणोत्सब' धूम-धाम से मनाया जाता था।[7] किसी व्यक्ति के हास्यास्पद आचरण पर पुरुष व स्त्री किसी का भी अटूट हास करना उपहास माना जाता था।[8] कभी बड़ा भाई छोटे भाई से भी क्षमा प्रार्थना करता था। जब विदुर धृतराष्ट्र के दुर्व्यवहार से व्यथित होकर चले तब धृतराष्ट्र ने अपनी भूल समझ संजय द्वारा उन्हें बुलवाया और आने पर क्षमा प्रार्थना की।[9] नव वधू को उसके पिता पक्षीय पुरुष पति ग्रह की किसी वृद्धमहिला के हाथों में सौंपते थे।[10] अधिकांशतः महिलाएं पति का नाम नहीं लेती थीं, आर्य शब्द कहकर सम्बोधन करती थी। साधारणतः प्रसव पतिग्रह में ही होता था। विशेष कारण से कोई कोई गर्भवती स्त्री ससुराल वालों की अनुमति से पितृगृह जाकर सन्तान प्रसव करती थी। वरदान व शाप की प्रथा थी। ऐसी मान्यता थी कि सन्तुष्ट व्यक्ति के अन्तःकरण से मिला हुआ आशीर्वाद 'वरदान' होता है व दुखी व्यक्ति की आहत इच्छाशक्ति, दुखाने वाले व्यक्ति के लिए शाप बनकर उसके भाग्य व पुरुषार्थ को निष्फल कर देती है। भक्तों, योगियों व तपस्वियों में यह इच्छा शक्ति अधिक प्रबल होती है अतः उनके शाप व वरदान अधिक सफल होते हैं। महाभारत में शाप व वरदान सहस्त्रों की संख्या में है पर कोई भी व्यर्थ नहीं बतलाया गया। वर देने व लेने के भी नियम थे। वैश्य एक

1. भीष्म पर्व-43।30, द्रोण पर्व-20।13
2 आश्रम पर्व-32।2
3. आदि पर्व-207।2
4. आदि पर्व-143।3
5. आदि पर्व-164।20
6. आदि पर्व-219।2
7. विराट पर्व-13।14
8. सभा पर्व-47।7-9
9. वन पर्व-6।21
10. आदि पर्व-220।19,20

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

से अधिक वरदान नहीं ले सकता, क्षत्रिया दो, क्षत्रिय तीन व ब्राह्मण अनेक वरदान ले सकता है। शूद्र के विषय में कोई चर्चा नहीं है।[1] विरक्ति के अर्थ में 'नमस्कार' शब्द का प्रयोग उस काल में भी किया जाता था।[2] इसी प्रकार निन्दा के अर्थ में बड़े-बड़े विशेषणों का प्रयोग किया जाता था।[3] महाभारत काल में भी भूतप्रेत का देह में प्रवेश कर जाने के सिद्धान्त की मान्यता थी।[4] क्रोधावेश में प्रतिपक्षी पर प्रहार करने के उद्देश्य से 'मैं तुम्हारे सिर पर पैर रखता हूं' यह कहकर भूमि पर पैर पटकते थे।[5] उस काल में भी धन से मनुष्य का क्रय-विक्रय करना समाज में प्रचलित था।[6] लेकिन उस काल की व्यवस्था में यह विहित नहीं था, निषिद्ध था।[7] मृगया खेलने का भी प्रचलन था। शान्तुन, पाण्डु, पाण्डव व कृष्ण के शिकार करने का वर्णन मिलता है।[8] महाभारत काल में शपथ खाने के अनेक विचित्र प्रकार थे।[9] जो वर्तमान में प्रचलित नहीं है। सन्ध्या समय कार्य करना बन्द कर दिया जाता था। स्नान, भोजन, अध्ययन आदि सन्ध्या को करना निषिद्ध था। उस समय संयत चित होकर भगवच्चिंतन करने का नियम था।[10] महाभारत काल में भी सपत्नी विद्वेष के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कुन्ती व माद्री[11], द्रौपदी व सुभद्रा[12] में भी सपत्नी-दाह थोड़ा बहुत था ही। विदुरनीति में कहा गया है कि जिन स्त्रियों के सोत होती है वे बहुत दुःख में जीवन-यापन करती है।[13] देश में सभा-समिति की बैठकें होती ही रहती थी। आमोद-प्रमोद होते थे। सभा में ज्ञानी पुरुष की उपस्थिति न होने पर उसे सभा ही नहीं माना जाता था।[14] लोगों

1. सभा पर्व-71।35
2. शान्ति पर्व-196।15 'विषयेभ्यो नमस्कुर्याद्'।
3. द्रौण पर्व-120 वां अध्याय
4. भीष्म पर्व-46।3
5. सभापर्व-39।2
6. आदि पर्व-160।15
7. अनु० पर्व-45।23
8. आदि पर्व-95।59
9. वन पर्व-157।55, वन० 252।23, उद्योग 174।16, सभा० 71।14, द्रौण 16।29
10. अनु० पर्व-104।141
11. आदि पर्व-124।2-6, 25-28
12. आदि पर्व-221।16-19
13. उद्योग पर्व-35।31
14. उद्योग पर्व-95।48, उद्योग 35।58

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की धारणा थी कि सभ्यगण धर्म सम्मत बात कहते हैं। धर्म नष्ट हो जाने पर परिषद् का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। सभा में सत्य एवं धर्म की प्रतिष्ठा समाप्त होने से सभासद् गण पाप के भागी होते हैं।[1] अगर किसी के साथ गोपनीय विषय पर विचार विनिमय करना होता था तो सभागृह के बाहर ले जाकर परामर्श करने का नियम था।[2]

1. सभा पर्व-71।48
2. आदि पर्व-196।21

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पंचम अध्याय

शासन व्यवस्था एवं युद्ध नीति

अनुक्रमणिका—महाभारत कालीन राजनैतिक स्थिति पर विचार करने से पूर्व, पूर्ववर्ती राजनैतिक स्थिति पर विचार प्रकट करना भी अनिवार्य है। वैदिक काल, उत्तर वैदिक काल तथा मनु व रामायण काल में राजनीति का क्रमश: किस प्रकार विकास होता रहा ? प्रारम्भ में भारत की राजनैतिक स्थिति क्या थी ? तथा महाभारत काल तक आते आते परिस्थितियों के परिणामस्वरूप उसमें क्या क्या परिवर्तन हुए व क्यों ?

इस प्रकार वैदिक काल से प्रारम्भ कर महाभारत काल तक की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही महाभारतकालीन राजनैतिक स्थिति भलीभांति समझ में आ सकती है। 'आर्य भारत में बाहर से आये अथवा उनका मूल निवास भारत ही था' यह तो अभी भी विवादास्पद विषय है। हमारे विषय का इस विवाद से कोई सम्बन्ध नहीं। मैं तो, जब तक यह सर्व सम्मति से निश्चित नहीं हो जाता कि आर्य कब और कहां से आये, आर्यों का भारत का ही निवासी मानना उचित समझता हूं। वैदिक साहित्य के विद्वानों का मन्तव्य है कि 'वेद कालीन आर्य विभिन्न जातियों या कबीलों में बंटे हुए थे।[1] वैदिक काल के अनेक मन्त्रदृष्टा ऋषि, पुराणों के भी पात्र हैं। युद्ध, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु व पुरु सभी वैदिक मन्त्रों के दृष्टा हैं साथ ही पौराणिक वंशावली के अनुसार ये पांचों इला व बुध के पुत्र पुरूरवा के प्रपौत्र राजा ययाति के पुत्र हैं।[2] अर्थात् वैदिक काल का क्रम बद्ध इतिहास, पुराणों में ही मिलता है। कहा गया है—'इतिहास पुराणाम्यां वेदं समुपबृंहयंत्।' अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त में 'इतिहास-पुराण' को चारों वेदों

1. 'वैदिक एज' (भारतीय विद्या भवन) पृ० 245-250
   एस. सी. दास 'ऋग्वैदिक कल्चर' पृ० 45 और आगे 352-367
   ए. ए. मैकडोलन 'ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' पृ०, 153-155
2. वायु पुराण 93।1-17 मत्स्य पुराण का 24वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के साथ-साथ चलता हुआ बतलाया है। एक स्थान[1] पर कहा गया है कि 'ब्रह्माजी ने सर्व शास्त्रों में प्रथम पुराणों की रचना की, इसके पश्चात् उनके मुख से वेद प्रकट हुए।' तात्पर्य यह है कि वैदिक काल की राजनीति आदि का सांकेतिक वर्णन तो वेदों में प्राप्त होता है किन्तु यदि वेदों व पुराणों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो उस काल का इतिहास व राजनैतिक परिस्थिति आदि का विस्तृत वर्णन पुराणों में से प्राप्त किया जा सकता है।

वैदिक काल—वैदिक काल में राजनैतिक इकाई 'ग्राम' थी। ग्राम के मुखिया को 'ग्रामिणी' कहा जाता था। एक ग्राम अनेक कुलों को मिलाकर बनता था तथा अनेक ग्रामों के समूह को 'विश्' कहते थे। बहुत से विशों के समूह को 'जन' कहा जाता था। एक ग्राम में कुछ 'गौत्र' भी होते थे। जैसा कि गौत्र शब्द का अर्थ ही बतलाता है--'गायों की रक्षा करने के स्थान' को गौत्र कहते थे। अनेक कुल मिलकर अपनी गौओं को एक साथ एक स्थान पर रखते थे। अतः एक गौत्र में अनेक कुल होते थे। एक गांव के मुखिया को 'गौत्र पति' कहते थे।[2] गौत्र, अनेक कुलों का सर्व साधारण चरागाह होता था। ग्राम का अपनी भूमि पर पूर्ण अधिकार होता था। कभी-कभी पड़ौसी ग्रामों में सीमा भूमि के विषय को लेकर विवाद या झगड़े हो जाते थे। अपनी भूमि आदि की व्यवस्था तथा अन्य कार्यों में प्रत्येक ग्राम को पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त था।[3] ग्राम के प्रबन्धार्थ ग्रामिणी की सहायता के लिए एक ग्राम-सभा होतो थी।[4] ग्रामिणी द्वारा ग्राम का सम्बन्ध राजा से रहता था। राजा के समक्ष ग्रामिणी ही ग्राम का प्रतिनिधित्व करता था। साधारणतया राजा ग्राम की व्यवस्था में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था। उस काल में विकेन्द्रीकरण ही शासन-व्यवस्था का मूल मन्त्र था। विश का अर्थ जन साधारण माना जाता था और 'जन पद शब्द का प्रयोग' देश या राष्ट्र के अर्थ में किया जाता था।[5]

ऋग्वेद[6], अथर्व वेद[7] आदि में राजा के चुनाव का उल्लेख आता है। वैदिक काल में प्रतिनिधियों की एक समिति रहती थी, जिसके द्वारा राजा का निर्वाचन होता था।[8]

---

1. मत्स्य पु० 3।3,4 — पुराणं सर्वे शास्त्राणां ब्रह्मणा प्रथमं स्मृतम।
   अनन्तरं च वक्त्रैभ्यो वेदास्तस्य विनिसृःताः ।।
2. ए० सी० दास—'ऋग्वैदिक कल्वर' पृ० 109
3. वही, पृ० 110
4. ऋग्वेद 3।11।15
5. ऐतरेय ब्राह्मण-8।3।14
6. ऋग्वेद-10।173।1
7. अथर्व वेद-6।87।1
8. ऋग्वेद-9।92।6, अथर्व वेद 5।19।5, 6।88।3

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मनुजी ने भी कहा है कि राजा नर रूप में देवता ही है।[1] राज्य का प्रबन्ध करने के लिये 'एकादश रत्नी' सभा होती थी,[2] जिसके ग्यारह रत्न इस प्रकार होते थे—1. सेनानी, 2. पुरोहित, 3. क्षत्र, 4. महिषी, 5. सूत, 6. ग्रामिणी, 7. क्षत् (अन्त:पुराध्यक्ष) 8. संग्रहीतृ (कोषाध्यक्ष) 9. अगद्रुह (कर आदि का अध्यक्ष,) 10. अक्षवाय (लेखाध्यक्ष), 11. गोविकर्तृ (वनाध्यक्ष)।

समिति को अधिकार था कि वह चुनाव की भांति राजा को पदच्युत भी कर सकती थी। यदि समिति चाहती तो पदच्युत राजा को, यदि वह क्षमायाचना करे तो, पुन: निर्वाचित करके उसे पदारूढ़ कर देती थी।[3] ऋग्वेद[4] व अथर्ववेद[5] दोनों में ही सभा व समिति को प्रजापति की दो पुत्रियां कहा गया है जिनमें अच्छे-अच्छे एकत्र होकर बोलने की इच्छा प्रकट करते हैं। राजा स्वयं भी समिति में सम्मिलित होता था।[6] वह सभा व समिति से विचार-विनिमय किये विना कुछ नहीं कर सकता था।[7]

बहुत काल तक भारत में 'जन' राज्यों का ही प्रचलन रहा। उत्तर-वैदिक काल में प्रादेशिक राज्य की भावना का विकास होने लगा। अथर्ववेद में इसका स्पष्ट उल्लेख है।[8] तैत्तरीय संहिता में ऐसे अनुष्ठान का वर्णन है जिससे राजा अपने 'विश्' पर प्रभुता पा सकता था पर राष्ट्र या देश पर नहीं। वैदिक काल में राजाओं को अनेक उपाधियां उनकी शक्ति पद व गौरव के अनुसार दी जाती थी। वे थी—राज्य स्वराज्य, वैराज्य, भोज्य, महाराज्य आदि। इस धारणा का समर्थन ऐतरेय ब्राह्मण[9] से होता है।

वेदों में प्रत्यक्ष रूपेण राज्य के उद्देश्यों पर विचार नहीं किया गया है, पर स्फुट उल्लेखों से पता चलता है कि शांति, सुव्यवस्था, सुरक्षा और न्याय ही राज्य के मूल उद्देश्य थे। राजा को वरुण के समान घृतव्रत, नियम और व्यवस्था का संरक्षक, साधुओं का प्रतिपालक, दुष्टों को दण्ड देने वाला होना चाहिये। धर्म का संवर्धन, सदाचार का प्रोत्साहन, और ज्ञान का संरक्षण प्रत्येक राज्य में भलीभांति होना चाहिये[10] प्रजा की नैतिक उन्नति के साथ ही भौतिक उन्नति करना भी शासन संस्था का काम था। वेद कालीन परीक्षित् के राज्य में दूध और मधु की धार बहती थी। वैदिक काल से 600

1. मनुस्मृति-7।8
2. शतपथ ब्राह्मण-5।3।1
3. अथर्ववेद-3।4।2, 3।3।4, 3।4-6,7
4. ऋग्वेद-9।92।6
5. अथर्ववेद-6।88।3, 6।64।2, 5।19।15
6. ऋग्वेद-9।92।6
7. अथर्ववेद-7।12
8. अथर्ववेद-20।127।9-10, 19।30।3-43
9. ऐतरेय ब्राह्मण-7।3।14
10. छान्दोग्य उपनिषद-5।11।5

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ई० पूर्व तक प्रजा का सर्वांगीण कल्याण ही राज्य का मुख्य लक्ष्य माना जाता था।[1]

वैदिक काल में राजा का निर्वाचन तो होता था किन्तु जनता के नेतागण अर्थात् कुलपति और विश्पति ही राजा का वरण करते थे, साधारण प्रजा नहीं। ऋग्वेद में एक स्थल पर राजा के निर्वाचन का उल्लेख है[2] अथर्व वेद में भी एक स्थल पर विशों द्वारा राजा के वरण की कामना की गई है।[3] शतपथ ब्राह्मण में एक उल्लेख में कहा गया है कि अन्य राजागण जिसे माने वही राजा होता है अन्य नहीं।[4] निर्वाचन भी यदाकदा ही हुआ करते थे। साधारणत: सबसे प्रतिष्ठित कुल के सबसे वयोवृद्ध व्यक्ति को ही नेता मानकर राजा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता था।[5] किन्तु उत्तर वैदिक काल में राजा का पद आनुवांशिक हो गया था। अथर्व,[6] में उल्लिखित 'राजकृत' और रामायण के उल्लिखित 'राजकर्ता:' राजा के निर्वाचक नहीं अपितु राज्याभिषेक करने वाले ब्राह्मण हैं। राजा का सबसे बड़ा कर्त्तव्य था कि वह अपनी प्रजा की आंतरिक अशांति और बाहरी शत्रु के आक्रमण से रक्षा करे।[7] 'सभापति,' 'सभासद' आदि शब्द क्रमश: वाज सनेयि संहिता[8] तथा अथर्व वेद[9] में प्रयुक्त हुए हैं जिनसे यह परिलक्षित होता है कि सभा में सभापति होता था। जो सभा की कार्यवाही का सम्पादन करता था। अथर्व वेद से यह ज्ञात होता है कि गुप्तचर भी होते थे।[10] न्याय की देखरेख सभा के अतिरिक्त राजा स्वयं करता था।[11] तैत्तरीय संहिता से 'ग्राम्य वादिन' ग्राम का न्यायाधीश जान पड़ता है।[12] पंचायत द्वारा भी झगड़ों का अन्त किया जाता था।[13] राजद्रोह भारी अपराध माना जाता था जिसके लिये ब्राह्मण को भी प्राण दण्ड दिया जा सकता था।[14]

1. प्रा० अनन्त सदाशिव अलटेकर, एम. ए. डी. लिट्, 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति' पृ० 27
2. ऋग्वेद-10।124।8
3. ऋग्वेद-3।4।2 'त्वा' विशो वृणतां राज्याय'
4. शतपथ ब्राह्मण-9।3।4,5
5. डा० अनन्त सदाशिव अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 48
6. अथर्व वेद-3।6।7
7. ऋग्वेद-3।43।5 'गोपाजनस्य'
8. वाज सनैयि संहिता-16।24
9. अथर्व वेद-3।29।1, 7।12।2, 19।55।6
10. अथर्व वेद-4।16।4 तैत्तरीय संहिता-4।7।1
11. अथर्द वेद-4।8।2
12. मैकडोन एण्ड कीथ-'वैदिक इन्डेक्स' खण्ड 1-पृष्ठ-248
13. डा० वेणी प्रसाद, 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता', पृ० 118
14. मैकडोन एण्ड कीथ-'वैदिक इन्डेक्स, खण्ड 2, पृ० 84

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मन्त्रि मण्डल—शासन कार्य चाहे जितना भी प्रारम्भिक रूप में हो, उसमें राजा के अतिरिक्त कुछ अन्य कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती है। ऋग्वेद काल में भी सुन्दर शासन व्यवस्था के लिये कुछ सहायकों की आवश्यकता थी जिनमें पुरोहित प्रधान था। पुरोहित का प्रभाव राजा पर अधिक रहता था। पुरोहित राजा का अभिन्न हृदय, मित्र, पथ-प्रदर्शक, दार्शनिक तथा सहायक होता था। वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि पुरोहितों का उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है। पुरोहितों का प्रमुख कार्य राज परिवार के धार्मिक गुरु के रूप में था किन्तु वे राजा के साथ रणक्षेत्र में भी जाते थे, जहां वे अपने मन्त्रों द्वारा राजा की शक्ति एवं सुरक्षा की वृद्धि करने की प्रार्थना करते थे।[1] पुरोहित के पश्चात् सेनानी का पद आता है। यह भी राज्य का प्रमुख पदाधिकारी था। सेनानी सेनाध्यक्ष होता था।[2] कुछ अन्य पदाधिकारियों का उल्लेख भी ऋग्वेद में किया गया है। समाचार वाहक दूत तथा रक्षा के प्रबन्धक अपने कार्य में पर्याप्त कुशल, बुद्धिमान तथा राजभक्त होते थे।

युद्ध प्रणाली—युद्ध प्रारम्भिक आर्यों का विशेष गुण था। युद्ध के विषय में ऋग्वेद में सामग्रियों का बाहुल्य है। युद्ध बहुधा आत्म रक्षा या विजयों के लिए कभी-कभी लूट के लिये होते थे।[3] सेना में पैदल तथा रथ का अधिक महत्व था। रथों में दो, तीन या चार साहसी घोड़ें लगाये जाते थे।[4] ऋग्वेद में वर्णित अस्त्र शस्त्र निम्नलिखित थे—धनुष,[5] बाण,[6] कवच,[7] हस्तदन,[8] बाहुरक्ष[9] तथा अन्य अस्त्र-शस्त्र यथा असि, भाला वर्छा आदि।

निष्कर्ष—वैदिक काल की समस्त परिस्थितियों का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि किसी अत्यन्त विशाल एवं सर्वोत्तम सभ्यता के लिए जिन मूलभूत तत्वों की [आवश्यकता पड़ती है वे सारे तत्व उस काल की सभ्यता में विद्यमान हैं। कुछ तो इतनी विकसित अवस्था में है कि उनमें कोई भी विकास, परिवर्तन, परिवर्धन हम आज तक नहीं कर सके। इस काल की सभ्यता एवं संस्कृति के इतने विकसित रहने का एक मात्र कारण यह है कि अनेकों शताब्दियों की साधना

1. ऋग्वेद-7।18।13
2. ऋग्वेद-7।20।5, 9।96।16
3. ऋग्वेद-10।142।4
4. ऋग्वेद-10।33।5, 2।18।1
5. ऋग्वेद-8।72।4
6. ऋग्वेद-6।75।17
7. ऋग्वेद-1।21।15
8. ऋग्वेद-10।101।8
9. ऋग्वेद-6।75।14

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का फल, युगों की तपस्या का वरदान है।

महाभारत काल

राजा प्रजा-सम्बन्ध—महाभारत काल में राजा, प्रजा को धर्म-मार्ग पर चलाता था। राजा धार्मिक होते थे अतः प्रजा अपने-अपने धर्मों (कर्त्तव्यों का पालन करती थी। महाराजा शान्तनु के राज्य में सभी वर्णों के लोग नियम पूर्वक प्रत्येक व्यवहार में धर्म को ही प्रधानता देते थे। क्षत्रिय ब्राह्मणों की सेवा करते थे। वैश्य उन दोनों की तथा शूद्र तीनों वर्णों की सेवा में रत रहते थे। उनके शासन में पशुओं, बराहों, मृगों तथा पक्षियों का वध नहीं होता था। वे समान भाव से प्राणियों का शासन करते थे। कर्मों का आरम्भ देवयज्ञ, कृषि यज्ञ तथा पितृ यज्ञ के लिये होता था। अधर्म के भय से किसी का वध नहीं किया जाता था। वे (शान्तनु) दुखी, अनाथ एवं पशुपक्षी की योनि के जीवों का भी पिता के समान पालन करते थे। प्रजाजन सब सत्यवादी थे तथा दान धर्म में सबका मन लगता था।[1] प्रजा इस प्रकार धर्म का पालन राज-भय के कारण ही करती थी। इसीलिये अराजक समाज को बुरा समझा जाता था। ऐसी मान्यता थी कि जिस राज्य में राजा नहीं होता वहां सब अधार्मिक हो जाते हैं कोई किसी की रक्षा नहीं करता तथा 'मत्स्य न्याय' से सब सबको लूटने, खा जाने के लिये तैयार रहते हैं। बलवान् कमजोरों को लूटते मारते हैं।[2] राजा ही समाज का रक्षक होता है। वही चारों वर्णों का वर्णाश्रम धर्मों के पालन में नियुक्त करता है।[3] अराजक राज्य की स्थिति भीषण होती है।[4] यही विचार का राजा का होना परमावश्यक है। प्रजापति ने अराजकता की इस स्थिति को देखकर मनु को मनुष्यों का सर्व प्रथम राजा बनाया।[5] अन्य मन से वैन्य या पृथु मनुष्यों का सर्वप्रथम राजा था।[6]

उस काल की मान्यता थी कि राजा जो प्रजा की आय का 1/6 भाग स्वयं प्रजा पालन के लिये कर रूप में ले लेता है वह यदि दुष्टों को दण्डित करके राष्ट्र की रक्षा नहीं करता तो उस अराजकता से होने वाले राष्ट्र के सम्पूर्ण पापों के 1/4 भाग का फल उसे भोगना पड़ता है।[7] राजा का कर्त्तव्य था कि वह अधिक से अधिक गौ-पालन करने वाले वैश्यों की दस्युओं से रक्षा करे। प्रजा को प्रसन्न रखना राजा का परम

---

1. आदि पर्व-100।8।19
2. शान्ति पर्व-67।3-8,16,17
3. शान्ति पर्व-68वां अध्याय
4. आदि पर्व-41।271।31
5. शान्ति पर्व-67।17-32
6. शान्ति पर्व-56।15,109
7. शान्ति पर्व-24।।2

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

धर्म समझा जाता था। वे सत्य की रक्षा करते हुए सदा सरल रहते थे। राजा के कोष से प्रजा को जो धन दिया जाना होता था वह समय पर दिया जाता था। प्रजा वर्ग में जिन लोगों के जीवन यापन की कोई व्यवस्था नहीं होती थी, उनका भरण पोषण राजा करता था।[1] सज्जन पुरुषों को राजा की ओर से धन देने की एवं आततायी व दुष्ट पुरुषों से धन छीन लेने की व्यवस्था थी। वे ही राजा श्रेष्ठ माने जाते थे जिनके राज्य में प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार निडर रहे जैसे बालक अपने पिता के घर में।[2]

उस काल में जनता में जागृति थी तथा उसको राजा को पदच्युत करने व पदारूढ़ करने के अधिकार प्राप्त थे।[3] आदि पर्व अध्याय 140 व 141 के अध्ययन से ज्ञात होता है कि जनता के लोग महाराज युधिष्ठिर को राजा बनाने का विचार कर रहे थे। वे कहते थे 'धृतराष्ट्र ने अन्धा होने के कारण पहले ही राज्य प्राप्त नहीं किया, फिर अब पाण्डु के पश्चात् वह राजा कैसे रह सकता है तथा भीष्म स्वयं राजा नहीं बनना चाहते। कुरुवंश में अपनी पीढ़ी में ज्येष्ठ युधिष्ठिर सम्पूर्ण गुणों से राज्य पाने योग्य है।"[4] जनता की ये बातें सुनकर दुर्योधन भयभीत हो गया तथा धृतराष्ट्र से एकान्त में सलाह की। धृतराष्ट्र ने भी कहा कि जब प्रजाजन युधिष्ठर के अनुकूल हैं तो वे युधिष्ठर को राज्य से वंचित कैसे होने देंगे तथा उनकी इच्छा के विपरीत करने पर हमें बन्धु बान्धव सहित अवश्य मार डालेंगे। प्रजा के विरोध का दोनों के हृदय में बड़ा भय था।[5] प्रजा को पूर्ण स्वतन्त्रता थी कि यदि राजा अपने धर्म का पालन न करे तो वह उसकी प्रकट रूप में चिल्लाकर निन्दा कर सकती थी। एक दिन एक ब्राह्मण की गौओं को चोर चुरा ले गये तब वह खाण्डव प्रस्थ में आकर उच्च स्वर से पाण्डवों को पुकारने लगा—'जो राजा प्रजा की आय का 1/6 कर के रूप में लेता है किन्तु प्रजा की रक्षा की कोई व्यवस्था नहीं करता, उसे सम्पूर्ण लोकों में पूर्ण पापाचारी कहा गया है।"[6] अर्जुन ने यह सुनकर उस ब्राह्मण पर क्रोध नहीं किया, अपितु गौ ब्राह्मण की रक्षा करना अपना परम कर्त्तव्य समझकर वनवास के कष्ट भोगने को उद्यत होकर, युधिष्ठिर व द्रौपदी के कक्ष में होते हुए शस्त्रागार में जा वहां से शस्त्र लाकर व दस्युओं का पीछा करके गायों को वापिस लाये।[7] राजा और प्रजा के मधुर सम्बन्ध का यह ज्वलन्त उदाहरण है।

महाभारत काल में राजा प्रजा का अंकुश मानते थे, उनसे प्रेम रखते थे

1. शान्ति पर्व-57।11,12,19
2. शान्ति पर्व-57।33
3. आदि पर्व-140।32
4. आदि पर्व-141।25-28
5. आदि पर्व-141।11
6. आदि पर्व-212।6।10
7. आदि पर्व-212।15-26

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तथा विनय पूर्ण व्यवहार करते थे। धृतराष्ट्र जब वन को जाने लगे तब उन्होंने प्रजा जनों से, अपने ज़ीवन में उनके प्रति हुए जाने या अजाने दुर्व्यवहारों के लिए क्षमा प्रार्थना की तथा वन जाने की आज्ञा मांगी।[1] यहां तक कि दुर्योधन जो महान् दुष्ट व अन्यायी था, उसकी भी प्रजा द्वारा भूरि-भूरि प्रशंसा की जा रही थी[2] कारण यही था कि वह अन्यायी होते हुए भी प्रजा का महत्व जानकर, उसे अपने पक्ष में बनाये रखने के लिये सहायता रक्षण व विनय पूर्ण व्यवहार द्वारा उन्हें प्रसन्न रखने के लिये प्रयत्नशील रहा था।[3] इस प्रसंग से भी सिद्ध होता है कि उस काल के राजा पूर्ण निरंकुश नहीं थे।[4]

राजा प्रजा से अन्याय पूर्वक धन उपार्जित नहीं करता था।[5] राजा में ब्राह्मणों को भूमि व ग्राम दान में दिये जाते थे।[6] स्त्रियों, बालकों, वृद्धों के संरक्षण की चिन्ता राजा रखता था। अतः उन्हें पेट भरने के लिये भिक्षावृति करते नहीं फिरना पड़ता था। राजा-प्रजा के इन्हीं सम्बन्धों के कारण प्रजा सदैव अपना यह कर्त्तव्य समझती थी कि योग्य व्यक्ति को राजा बनाकर रखा जावे एवं उसका सम्मान किया जावे। इसी सिद्धान्त के अनुसार राजा का सदा प्रजा द्वारा समादर किया जाता था।[7] राजा की नियुक्ति करने में केवल समिति व सभा का ही अधिकार नहीं होता था अपितु साधारण प्रजा का भी।[8]

महाभारत काल में राजा की नियुक्ति किसी चुनाव प्रथा से नहीं की जाती थी। राजा को वंश परम्परागत रीति से पदारूढ़ किये जाने की प्रथा तो अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही थी किन्तु विशेष परिस्थिति में प्रजा हस्तक्षेप करती थी।[9] महाभारत काल में ऐसे प्रसंग अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं। धीरे-धीरे राजा को भगवान की विभूति स्वरूप भी माना जाने लगा था।[10] महाभारत काल में ज्येष्ठ कुमार ही, पिता की मृत्यु के पश्चात्, शासन होता था। यदि वह रोगी, विकार युक्त या अ.योग्य होता था तो उससे छोटा शासन करता था। देवापि, जो शान्तुन का बड़ा

---

1. आश्रम पर्व-9 वां अध्याय, 10।5
2. आश्रम पर्व-10।21
3. आश्रम पर्व-10।20, 21
4. आश्रम पर्व-26।4
5. आश्रम पर्व-26।5
6. आश्रम पर्व-26।8
7. शान्ति पर्व-67।33-35
8. शान्ति पर्व-67।23-24
9. आदि पर्व-49।17-22, 29
10. भीष्म पर्व-34।27

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भाई था, त्वग्दोष से दूषित था। उसका पिता जब उसका राज्याभिषेक कर रहा था तब ब्राह्मण तथा वृद्ध पुरुषों ने, नगर तथा जनपद के लोगों के साथ आकर राज्याभिषेक रोक दिया।[1] 'जो किसी अंग से हीन हो, देवता ऐसे राजा का अभिनन्दन नहीं करते।[2] ऐसी मान्यता थी। इसके अतिरिक्त यदि ज्येष्ठ कुमार, पिता की अवज्ञा करने वाला, दुराचारी, व प्रजा का पालन न करने वाला हो तो भी उसे राज्य से च्युत कर दिया जाता था। पिता की मृत्यु के बाद धृतराष्ट्र शासन के अधिकारी थे किन्तु अन्धा होने के कारण, प्राचीन प्रथा के अनुसार वे राज्य प्राप्ति से वंचित रहे उनका भाई पाण्डु राज्य का स्वामी बना।[3] जब उसकी मृत्यु हो गई तो उनकी ज्येष्ठ सन्तान युधिष्ठिर ही धर्मतः कुरुकुल के साम्राज्य स्वामी थे। फिर भी अपने ताऊ धृतराष्ट्र व अपने चाचा विदुर की आज्ञा पालन करते हुए राज्य शासन चलाना उनका धर्म था। भीष्म पितामह राजा न होते हुए भी सर्वोच्च अधिकारी होना चाहिये थे जिनकी आज्ञा से तथा धृतराष्ट्र व विदुर की सहायता से युधिष्ठर अपने भाई भीम, दुर्योधन आदि सहित शासन चलाते।[4]

उस काल की मान्यता थी कि ब्रह्मा जी ने दस्युओं का वध करने के लिये ही क्षत्रियों की उत्पत्ति की है। जो रक्षा के पात्र मनुष्यों की रक्षा नहीं करते, उन राजाओं की जगत को कोई आवश्यकता नहीं।[5] राजा लोग दीन, हीन व दुर्बलों की 'आह' से भयभीत रहने के कारण उनका विशेष ध्यान रखते थे तथा उनकी रक्षा व भरण-पोषण किया करते थे।[6] उस काल का 'राजधर्म' था कि राजा बल के घमण्ड में चूर रहने वाले दुष्ट या शत्रु को मार डाले, सबकी रक्षा करे, पुत्र के भी अपराध को क्षमा न करे, दुर्बल व्यक्तियों को आवश्यक वस्तुएं देकर भोजन करे, दस्युओं को मार भगाकर समस्त राष्ट्र की रक्षा करे, प्रिय से प्रिय व्यक्ति को भी अधर्म करने पर क्षमा नहीं करे, व्यापारियों की पुत्र की भांति रक्षा करे तथा धर्म का भंग न करे।[7]

महाभारत काल में वही राजा श्रेष्ठ समझा जाता था जो 'उग्र शासन कर्ता हो, जिसके राज्य में बलात्कार न हो, किसी को किसी प्रकार का भय न रहे, जो दरिद्रों का पालन करता रहे, जिसका प्रजा के साथ पाल्य पालक सम्बन्ध सदा बने

1. उद्योग पर्व-149।22
2. उद्योग पर्व-149।25
3. उद्योग पर्व-149।29, 148।30 आदि० 108।25
4. उद्योग पर्व-149 वां अध्याय
5. शान्ति पर्व-91।12
6. शान्ति पर्व-91।14-22
7. शान्ति पर्व-91।31-40

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रहे ।[1] जिस देश का राजा गुणवान् और धर्म परायण होता है, वहां स्त्री, मित्र, पुत्र व सम्बन्धी सभी उत्तम गुणों से युक्त होते हैं। जो राजा धर्म को नहीं जानता उसके अत्याचार से धर्म का नाश हो जाता है ।[2] राजा धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का मूल है। अतः उसे पूर्ण सावधान रहकर अपनी प्रजा का पालन करना चाहिये। जो प्रजा की आय का 1।6 भाग कर रूप में लेकर उसका स्वयं उपभोग करता है और प्रजा का भलीभांति पालन नहीं करता वह तो राजाओं में चोर है ।[3]

राजा अपने सात गुणों के कारण भिन्न-भिन्न प्रजाजन के लिए विभिन्न अवसरों पर विभिन्न रूप में प्रतीत होता था—वे सात स्वरूप इस प्रकार हैं—माता, पिता, गुरु, रक्षक, अग्नि, कुबेर और यम। राजा दीन दुखियों की सदा देख भाल रखता था व सबका पालन करता था अतः माता कहा जाता था। वह अपनी प्रजा पर सदा कृपा रखता था अतः पिता समझा जाता था। प्रिय जनों को खुले हाथ धन लुटाता था और उनकी कामना पूरी करता था अतः कुबेर कहलाता था। धर्म का उपदेश करने के कारण गुरु और सबका संरक्षण करने के कारण सबका संरक्षक, तथा दुष्टों का दमन करने व उन्हें संयम में रहने के कारण उसे 'यम' कहा जाता था ।[4] राजा अपने गुणों से नगर व जनपद के लोगों को प्रसन्न रखता था। स्वयं धर्म का पालन करता था तथा अपनी प्रजा से करवाता था। वह स्वयं नगर व जनपद के लोगों का सम्मान करता था। ऐसे राजा का राज्य कभी डांवाडोल नहीं होता था ।[5]

इसके अतिरिक्त जिसकी प्रजा सदा करभार से पीड़ित हो नित्य उद्विग्न रहे और नाना प्रकार के अनर्थ उसे सताते रहें वह पराभव को प्राप्त होता है[6] ऐसी मान्यता थी। (ब्राह्मणादि) अवध्य लोगों का वध करने में जो दोष होता है राजाओं को वध्य (दस्युआदि) पुरुषों का वध न करने पर वही दोष माना जाता था ।[7] जिसके राज्य में डाकू पराये धन का अपहरण करते थे वह राजा क्षत्रिय, ब्राह्मणों से भयभीत रहते थे तथा उन्हें सदा प्रसन्न रखने का प्रयत्न किया करते थे ।[8] राजा के राज्य में यदि कोई ब्राह्मण यज्ञ कर रहा हो और धन की कमी से वह यज्ञ पूरा न हो सके तो राजा का कर्त्तव्य था कि वह किसी धनवान वैश्य, जो यज्ञानुष्ठान न करता हो,

1. शान्ति पर्व-139।97
2. शान्ति पर्व-139।99
3. शान्ति पर्व-139।100
4. शान्ति पर्व-139।105
5. शान्ति पर्व-139।107
6. शान्ति पर्व-139।109
7. शान्ति पर्व-142।27
8. शान्ति पर्व-142।37, 38

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के धन को बलात् छीनकर, उस यज्ञानुष्ठान की पूर्ति के लिये दे दे।[1] चूंकि शूद्रों का यज्ञों में किंचितमात्र भी अधिकार नहीं था अतः राजा शूद्र के घर से यज्ञ के लिये लेश मात्र भी धन न ले।[2] यदि छः समय का भूखा ब्राह्मण, एक समय के लिये कहीं से अन्न-चुराकर अपने परिवार का पोषण (प्राण रक्षा) करे तथा स्वतः राजा से आकर कह दे तो राजा का धर्म था कि वह उसे दण्ड न दे क्योंकि क्षत्रिय राजा की मूर्खता से ही ब्राह्मण को यह कष्ट उठाना पड़ा।[3]

उस काल की यह मान्यता थी कि यदि किसी राजा के राज्य में प्रजा पाप या पुण्य कुछ भी करती है तो जो उसका (पाप पुण्य दोनों का) चुतर्थांश राजा को भोगना पड़ता है। किसी के मत में उसका आधा तथा किसी के मत में वह सम्पूर्ण राजा को ही भोगना पड़ता था ।[4] अधिकांश मान्यता चतुर्थांश को ही प्राप्त थी। उस काल में प्रजा का कार्य ही राजा कार्य होता था, प्रजा का सुख ही उसका सुख, प्रजा का प्रिय ही उसका प्रिय, तथा प्रजा के हित में ही उसका हित और प्रजा के लिए ही उसका सर्वस्व होता था, अपने लिए नहीं।[5]

राजा के कर्त्तव्य : राजा का कर्त्तव्य था कि वह अपने भय से, दूसरे के भय से, पारस्परिक भय से तथा अमानुष भयों से अपनी प्रजा को सुरक्षित रखे। जो लोभी, कठोर तथा लूटमार करने वाले मनुष्य हों उन्हें राजा जहां-तहां से पकड़वाकर कैद में डाल दे। राजकुमारों को जन्म से ही विनयशील बनावे। नीतिज्ञ राजा अपने गुणों से युक्त राजकुमार को ही युवराज बनावे। वह अपने कोष को चार भागों में विभक्त करे—धर्म के लिए, पोष्य वर्ग के पोषण के लिए, अपने लिए तथा देशकाल वश आने वाली आपत्ति के लिए। इस प्रकार कोष का कम-से-कम 1।2 भाग जनता की भलाई के लिए प्रयुक्त होता था। राजा को स्वयं के लिए, राज्य कोष की 1।4 आय, खर्च के लिए, अधिक है, ऐसा अनुमान होता है तभी तो महाभारत काल के राजा पर्याप्त ऐश्वर्य शाली जीवन व्यतीत करते थे। राजा का कर्त्तव्य था कि वह अनाथ, रोगी और वृद्धों का स्वयं पोषण करे।[6] उस काल के राजा लोग इस बात की चिन्ता रखते थे कि नगर व जनपद के लोगों की

---

1. शान्ति पर्व-165।6-7
2. शान्ति पर्व-165।8
3. शान्ति पर्व-165।11-13
4. अनु० पर्व-61।34-36
5. अनु० पर्व-145

   प्रजाकार्यं तु तत्कार्यं, प्रजासांख्यं तु तत्सुखम्।
   प्रजा प्रियं प्रियं तस्य, स्वहितं तु प्रजा हितम्॥
   प्रजार्थं तस्य सर्वस्वमात्मार्थं न विधीयते।
6. अनु० पर्व-145वां अध्याय (दक्षिणात्य पाठ)

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मेरे प्रति सद्भावना है या नहीं। प्रजा का न्याय करने के काम पर सदा ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता था जो विश्वास पात्र, संतोषी और राजा के हितैषी हों। न्यायाधिकारी पुरुष अपराधियों के अपराध की मात्रा को भलीभांति जानकर उन्हें यथोचित दण्ड देते थे। न्यायाधीश यदि घूस लेता, परस्त्री से संसर्ग रखता, कठोर दण्ड देने का पक्षपाती होता, विपरीत या असत्य निर्णय देता या कटुवादी, लोभी या दूसरों का धन हड़पने वाला होता तो न्यायाधीश को देशकाल का ध्यान रखकर राजा के द्वारा स्वर्ण दण्ड दिया जाता था।[1] राजा एक प्रहर रात्रि शेष रहने पर उठकर, शौच, स्नान व सन्ध्यावन्दन से निवृत्त होकर, उन लोगों से मिलते थे जो राज्य का व्यय करने के विभाग के लिए नियुक्त किए जाते थे, फिर अलंकार आदि धारण करते और भोजन करते थे।[2] वे आधी रात पर घूमकर यह देखा करते थे कि कहीं प्रजा पर कोई अत्याचार तो नहीं हो रहा है।[3] राजद्रोही पुरुषों का गुप्तचरों द्वारा पता लगवाकर उनका बध करवा दिया जाता था।[4]

राज्य सत्ता—यद्यपि महाभारत काल में राज्य-सत्ता अनियन्त्रित होती थी तथापि उस पर जनता का नियन्त्रण धर्म शास्त्र के नियमों के अनुसार रहता था। राजा का राज्याभिषेक वंश परम्परागत होते हुए भी जनता की अनुमति से होता था। युद्ध के पश्चात्, सब ब्राह्मणों और राजा लोगों की अनुमति से ही, युधिष्ठिर ने अपने आपको अभिषित कराया था।[5] भारत के किन्हीं-किन्हीं भागों में तो राज-सत्ता ही नहीं थी गणतन्त्र ही थे। महाभारत में कुछ लोगों को 'गण' कहा गया है। सभापर्व में वर्णित है कि पर्वतवासी सात गणों को—अर्जुन ने जीत लिया।[6] महाभारत काल में 'गणपति एक विशिष्ट पदवी मानी जाती थी, जिसका अर्थ 'गण का मुखिया होता था, इसे गणमुख्य भी कहते थे। ऐसा माना जाता था कि यदि गणमुख्य में बुद्धि, क्षमा इन्द्रिय निग्रह आदि श्रेष्ठ गुण न हो और वह धन वैभव का त्यागी न हो तो संघ (गण) उसके अधीन नहीं रह सकता।[7] गणतन्त्र में चूंकि वहुत से मनुष्यों का समुदाय किसी मन्त्रणा को गुप्त नहीं रख सकता तथा अधिक मनुष्य एक मत भी नहीं हो सकते अतः फूट पड़ जाया करती थी और वे नष्ट हो जाते थे। लोभ और अमर्ष दोही, राजाओं में तथा

---

1. आश्रम०-5।29,31
2. आश्रम० 5।30
3. आश्रम पर्व-4।34
4. आश्रम० पर्व-5।37
5. शान्ति पर्व-38।31
6. शान्ति पर्व-107।23
7. शान्ति पर्व-81।26

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

गणों में वैर उत्पन्न करने वाले होते थे। संघवद्ध (एकमत) रहना ही गणराज्य के नागरिकों का परम आश्रय होता था।[1]

धर्मशास्त्रों—विशेषत: वृहस्पति नीति व मनुस्मृति—में राजा और प्रजा के पारस्परिक सम्बन्धों, उनके अधिकारों व कर्त्तव्यों का जो वर्णन प्राप्त होता था उसी के अनुसार दोनों को कर्त्तव्य करना पड़ता था, जो राजा धर्मशास्त्र के अनुसार प्रजा का परिपालन न करे, उसे राज्य च्युत कर देने का अधिकार ऋषियों को प्राप्त था जैसा कि पूर्वकाल की वेन कथा से विदित होता है।[2] प्राचीन भारत में राजा का कर्त्तव्य था कि वह प्रजा को सदा सन्तुष्ट रखे और उसके कल्याण के लिए प्रयत्न करता रहे। इसके लिए महाभारत काल ने गर्भिणी की उपमा दी है—जैसे गर्भिणी स्त्री अपने सुख की कल्पना को त्याग—अपने उदरस्थ बालक की सदा चिन्ता रखती है, वैसे ही राजा अपनी प्रजा के सुख की चिन्ता करे।[3] राजा किसी दूसरे के धन का लोभ न करे और जिसे जो कुछ देना हो पूरा-पूरा तथा समय पर दे। जो पीड़ित या दुखित हों, उनका पालन-पोषण राजा करे। वह किसी शूर पुरुष का अपमान न करे। वृद्ध और अनुभवी लोगों से मेल मिलाप रखे। वह प्रजा से सदा प्रसन्न-मुख ही मिले, प्रजा की शिकायतों पर सदा ध्यान दे।[4] महाभारत काल में राजा लोगों की सत्य निष्ठा, न्याय व उदारता के सम्बन्ध में प्रजावर्ग को सन्देह नहीं रहता था। प्रजा के साथ उसका प्रेम अपने बालक के समान रहता था। फलतः प्राचीनकाल में राजा पर प्रजा की भक्ति भी अतिशय रहा करती थी।

राजा के गुण—राजा के स्वाभाविक गुणों का महाभारत में इस प्रकार वर्णन मिलता है—धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को धृति, स्थिरता, सहिष्णुता, दयालुता, सरलता तथा अविचल सौहार्द गुणों के कारण प्रजा का पालन करने योग्य समझकर, प्रजा पर अनुग्रह करने के लिये युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिया।[5] निम्नलिखित प्रसंग में राजाचित गुणों पर प्रकाश पड़ता है। राजा तथा मन्त्री में निम्न गुणों का होना अनिवार्य माना जाता था—कुलीन, सुरक्षित, विद्वान्, ज्ञान-विज्ञान में पारंगत, सब शास्त्रों का तत्त्व जानने वाला, सहनशील, स्वदेशवासी, कृतज्ञ, बलवान्, क्षमाशील, मन का दमन करने वाला, देश व काल का ज्ञाता, आवश्यक वस्तुओं के संग्रह में तत्पर, आलस्य रहित, अपने राज्य में गुप्तचर लगाए रखने वाला, सन्धि और विग्रह के अवसर को जानने वाला, धर्म, अर्थ और काम की उन्नति का उपाय जानने वाला, नगर और ग्राम-

1. शान्ति पर्व-81वां अध्याय
2. शान्ति पर्व-59वां अध्याय
3. शान्ति पर्व-56।45-46,
4. शान्ति पर्व--57।11,12,19,20
5. आदि पर्व-138।152

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वासी लोगों को प्रिय, खाई और सुरंग खुदवाने तथा व्यूह रचना कराने की कला में कुशल, अपनी सेना का उत्साह बढ़ाने में प्रवीण मुखाकृति और चेष्टा देखकर ही मन के यथार्थ भाव को समझ लेने वाला, शत्रुओं पर आक्रमण करने के अवसर समझने में विशेष चतुर, हाथी की शिक्षा के यथार्थ तत्व का जानने वाला, अहंकार रहित, निर्भीक, उदार, संयमी, बलवान्, उचित कार्य करने वाला शुह, शुद्ध पुरुषों से युक्त, प्रसन्नमुख, प्रियदर्शन, नीतान्नति कुशल, श्रेष्ठ गुण एवं उत्तम चेष्टाओं से सम्पन्न, उद्दण्डतारहित, विनयशील, स्नेही, मृदुभाषी, धीर शूरवीर, महान् ऐश्वर्य से सम्पन्न तथा देशकाल के अनुसार कार्य करने वाला।[1] राजा व मन्त्री के इन सामान्य गुणों के अतिरिक्त राजा में कुछ विशेष गुण होना और आवश्यक थे—शास्त्र-ज्ञान, धर्म-परायणता तथा प्रजा-पालन की लगन।[2]

राजा के अन्य विशेष गुण—क्षमाशील, समय-समय पर तीक्ष्ण, पुरुषार्थ को जानने वाला, सुनने के लिए उत्सुक, वेदज्ञ, श्रवण परायण, तर्क-वितर्क में कुशल, मेधारी, धारणा शक्ति से सम्पन्न, यथोचित कार्य करने वाला, इन्द्रिय संयमी, प्रियवचन बोलने वाला तथा शत्रु को भी क्षमा प्रदान करने वाला, दानी, श्रद्धालु, दर्शन मात्र से सुख देने वाला, दीन दुखियों को सदा हाथ का सहारा देने वाला, विश्वसनीय मन्त्रियों से युक्त, नीति परायण, अहंकार रहित, द्वन्द्वों से प्रभावित न होने वाला, मनमानी न करने वाला, मन्त्रियों के लिए कार्यों का अनुमोदन करने वाला, सेवकों पर प्रेम रखने वाला अच्छे मनुष्यों का संग्रही, क्रोध न करने वाला, तथा विशाल हृदय वाला।[3] ऐसे सैंकड़ों गुणों से सम्पन्न राजा प्रजा के लिए वांछनीय होता था।

प्रजा पालक रूप राजोचित कर्म से प्रजा राजा से सन्तुष्ट ही नहीं रहती थी अपितु उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति रखती थी। यथा राजा युधिष्ठिर वे ही क्रिया करते थे जो प्रजा के मन को प्रिय लगे, प्रजा भी उनकी भक्त थी।[4] युधिष्ठिर के मुंह से प्रजा के प्रति कभी कोई अनुचित, असत्य, असह्य, और अप्रिय बात नहीं निकलती थी। वे धर्म, अर्थ काम व मोक्ष के मूर्तिमान् रूप थे।[5] राजा में छः राजोचित गुण—(1) व्याख्यान शक्ति, (2) प्रगल्भता, (3) तर्क कुशलता, (4) भूतकाल की स्मृति, (5) भविष्य पर दृष्टि, व (6) नीति-निपुणता—होना चाहिए।[6] तथा उसे सात उपायों का प्रयोग करना चाहिए—मन्त्र, औषध, इन्द्रजाल, साम, दाम, दण्ड और भेद।[7] उस काल

1. शान्ति पर्व-118।7-14
2. शान्ति पर्व-118।16
3. शान्ति पर्व-118।18-24
4. शान्ति पर्व-221।1(
5. आदि पर्व-221।4,1
6. सभा पर्व-5।21
7. सभा पर्व-5।21

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के अधिकांश राजा धर्माभिलाषी होते थे। उनका कर्त्तव्य था कि वह अनावृष्टि से अथवा लुटेरों व डाकुओं से प्रजा को दुखी न होने दें।[1] वह छात्र बल से लोगों को सत्कर्म में लगावे तथा पाप कर्म से निवृत्त करे।[2] अनाथों का नाथ सदा राजा ही होता था। जिनके ऊपर बलवान् बलात्कार करते थे उन पुकारते हुए दीनों की रक्षा राजा ही करता था।[3] राजा को छः गुणों, सात उपायों की, अपने और शत्रु के बलाबल की, देश, दुर्ग, अश्व, गज, रथ-शूरसैनिक, अधिकारी अन्तःपुर, अन्न, गणना, शास्त्र, लेखा धन, बल आदि की सदा परीक्षा करते रहना चाहिए।[4] राजा को अपनी और शत्रु की शक्ति को भली-भांति समझकर—यदि शत्रु प्रबल हुआ तो सन्धि बनाये रखकर अपने धन और कोष की वृद्धि के लिए कृषि का विस्तार, व्यापार की रक्षा, हाथी बांधना, सुवर्ण हीरा आदि की खानों पर अधिकार करना, कर की वसूली और उजाड़ प्रान्तों में लोगों को बसाना इन आठ संधान कामों का सेवन करना चाहिए।[5]

राजा को ध्यान रखना चाहिए कि मन्त्री आदि सप्त-प्रकृतियां (स्वामी, राजा व पुरोहित—मन्त्री, मित्र, कोष, राष्ट्र, दुर्ग, सेना, एवं परवासी) शत्रुओं में न मिल जाएं तथा राज्य के धनी लोग दुर्व्यसनों से बचे रहकर राजा से प्रेम करते रहें।[6] राजा को असमय में निद्रा के वशीभूत नहीं होना चाहिए। रात्रि के चतुर्थ भाग में जागकर आवश्यक कार्य एवं हित का चिन्तन करना चाहिए। उसके राज्य के कृषक मजदूर आदि श्रमजीवी इससे अज्ञात नहीं रहना चाहिए अर्थात् उसे साधारण व निम्न वर्ण की प्रजा की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। वे अविश्वास के पात्र नहीं होने चाहिए, उन्हें निरन्तर कार्य देते रहना चाहिए।[7]

व्यापारियों पर भी कर लगाया जाता था किन्तु उसके क्रय व विक्रय का, सामान लाने के मार्ग व्यय का, कार्य करने वाले सेवकों के वेतन का तथा बचत और उसके योगक्षेम के निर्वाह का ध्यान रखकर ही राजा कर नियत करता था। प्रजा पर कर स्थिति के अनुसार व इतने ही लगाए जाते थे, जिससे प्रजा संकट में न पड़ जाए। यह ध्यान रखा जाता था कि कृषि, वाणिज्य आदि कर्मों में यदि कर इतना अधिक लगा दिया कि 'लाभ कर के रूप में ही चला गया तो कोई कर्म में प्रवृत्त ही न होगा। राजा अधिक शोषण करके प्रजा का द्वेष पात्र न बनकर, उसका प्रिय दर्शन बना रहता

1. शान्ति पर्व-65।24
2. शान्ति पर्व-65।27,30
3. शान्ति पर्व-66।21
4. सभा पर्व-5।21
5. सभा पर्व-5।22
6. सभा पर्व-5।23
7. सभा पर्व-5।29,32

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

था।[1] राष्ट्र में एकत्रित धन संकट काल में राजा के काम आता था।[2] राजा भी संकट में पड़े हुए प्रजाजनों की आर्थिक सहायता करता था।[3] जब राष्ट्र पर भय आता था तो राजा स्वयं अपने राज्य में दौरा करके, नगर ग्रामवासियों का ध्यान संकट की ओर आकर्षित करके, उन्हें समझा-बुझाकर, संकट टलने के पश्चात् उनका धन लौटा देने का वचन देकर, धन संग्रह करता था। वह प्रजा को, 'उसके योगदान से उसका भी (प्रजा का) हित ही होगा, बड़ी स्नेहपूर्ण और व मधुर वाणी में समझाता था।[4] वह धनवान वैश्यों को यह बताकर कि 'नगर की रक्षा के लिए परकोटा बनवाना है अथवा सेवकों व सैनिकों का भरण-पोषण करना है अथवा युद्ध का भय टालना है, उनसे कर वसूल करता था। वह कर उनके हानि-लाभ की चिन्ता करके कोमलता के साथ प्रेमपूर्वक वसूल किया जाता था, जिससे व्यापारियों को कर भार से कष्ट न हो। राजा व्यापारियों को भी आवश्यकता पड़ने पर आर्थिक सहायता प्रदान करते थे।[5] 'व्यापारी राष्ट्र की उन्नति में अपने वाणिज्य, व्यवसाय एवं कृषि कार्य द्वारा, प्रधान कारण होते हैं, ऐसा सोचकर उन्हें सुखी रखता था। राजा का कर्त्तव्य था कि ऐसी व्यवस्था करे जिससे वैश्य लोग देश में सब और कुशलता पूर्वक विचरण कर सकें।[6] राजा लोग मीठी वाणी तथा उत्तम व्यवहार से प्रजा को प्रसन्न रखते थे तथा यही कहते थे कि 'मैं आपका ही हूं।' राजा को उचित था कि वह आपत्ति काल में भी प्रजा को दुःख देकर कर वसूल न करे।[7] राजा को धन के लोभ में पड़कर धर्म को, केवल धर्म में संलग्न रहकर धन को, तथा केवल काम भोग के द्वारा धर्म व अर्थ दोनों को हानि नहीं पहुंचाना चाहिए। त्रिवर्ग का सेवन काल विभाग करके नियत और उचित समय पर करना चाहिए।[8] यदि कोई कर्मचारी अपने परिश्रम से किसी कार्य को अच्छे ढंग से सम्पन्न करता था तो अधिक सम्मान व अधिक वेतन आदि पाता था। विद्या विनय सम्पन्न व ज्ञानी मनुष्य का यथायोग्य धन आदि देकर सम्मान किया जाता था। राजा के हित में मृत्यु का वरण करने वालों के बाल-बच्चों की रक्षा राजा करता था। भय, धननाश या पराजय से जो राजा की शरण में आता था, उसका पुत्रवत् पालन किया जाता था।

---

1. शान्ति पर्व-87।13-19
2. शान्ति पर्व-23।24
3. शान्ति पर्व-87।24
4. शान्ति पर्व-87।26-30
5. शान्ति पर्व-87।34-37
6. शान्ति पर्व-87।38-40
7. शान्ति पर्व-123।23; 124वां अध्याय
8. अनु०पर्व-104
9. सभा पर्व-5।19,20

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

राजा को समदर्शी एवं माता-पिता के समान विश्वसनीय माना जाता था।[1] महाभारत काल के राजा लोग सरल, ईमानदार व दृढ़ प्रतिज्ञ होते थे। शल्य पाण्डवों के मामा थे। किन्तु दुर्योधन ने मार्ग में उनका भारी स्वागत सत्कार किया। जव वह अज्ञात सेवा सत्कार करने वाले के सम्बन्ध में सेवकों से पूछने लगे व प्रशंसा करने लगे तव दुर्योधन प्रकट हो गया और अपनी ओर से युद्ध करने का वचन मांगा। शल्य ने उस सेवा से वंधकर वचन दिया तथा अपने भांजों के विपक्ष में युद्ध किया।[2] इसी प्रकार श्री कृष्ण से दुर्योधन शत्रुता रखता था व अर्जुनादि पाण्डव उनके परम मित्र थे फिर भी दुर्योधन जब सहायता मांगने गया तब उन्होंने उसे शस्त्र, महाबलशालिनी 'नारायणी' सेना दी।[3]

राजा लोग ब्राह्मणों को वृत्ति के लिए ग्राम आदि देते थे ताकि वे अध्ययन-अध्यापन, शान्तिपूर्वक कर सकें। वे अध्यात्म विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि के विद्वान् हो सकें तथा विद्वान् बना सकें। इस प्रकार देश उन्नति के पथ पर अग्रसर होता था।[4] राजा लोग धर्म से भी बल को श्रेष्ठ मानते थे क्योंकि धर्म बल पर ही प्रतिष्ठित रहता है।[5] राजा को यदि पूंजीपति व्यापारी, प्रजापालन के लिए, मांगने से धन न देते थे तो वे बलात् ले लेते थे क्योंकि दण्ड का विधान दुष्टों के दमन के लिए ही था। जो लोग राष्ट्र को हानि पहुंचाकर केवल अपनी उन्नति के लिए प्रयत्न करते हैं उन्हें नष्ट कर देना चाहिए।[6] राजा लोग यज्ञानुष्ठान करने वाले विजों का धन व देव सम्पत्ति नहीं लेते थे। राजा लोग पूजनीय व्यक्तियों को अभीष्ट वस्तुएं देकर सम्मानित करते रहते थे। वे जगत् के श्रेष्ठ पुरुषों, सब आश्रम वासियों का सत्कार करते थे, संध्या-वन्दनादि नित्यकर्म, पितृश्रद्धा, भूत यज्ञ (प्राणी) मनुष्य यज्ञ (अतिथि सत्कार) सबका अनुष्ठान करते थे। वे समस्त प्राणियों का पालन, राष्ट्र की रक्षा, वेदों का स्वाध्याय, क्षमाभाव तथा गुरुजनों की सेवा करते थे।

राजा लोग युद्ध में प्राणों की बाजी लगाकर इस निश्चय के साथ शत्रुओं से युद्ध करते थे कि 'या तो मैं मर जाऊंगा, या राष्ट्र की रक्षा करके ही रहूंगा'। वे समस्त प्राणियों के साथ माया एवं कुटिलता से रहित व्यापार करते थे।[7] शान्ति पर्व में कहा गया है कि राजा को दानशील, यज्ञशील, उपवास शील एवं तप:शील होना चाहिए

1. सभा पर्व-5।53-57
2. उद्योग पर्व-8वां अध्याय
3. उद्योग पर्व-7 वां अध्याय
4. उद्योग पर्व-26।15-17
5. शान्ति पर्व-134।6
6. शान्ति पर्व-130।20,26
7. शान्ति पर्व-65।16,17

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तथा प्रजापालन में रत रहना चाहिए।[1] राजा के सद्‌गुणी होने के कारण उस काल की प्रजा भी सद्‌गुणी होती थी। राजा का समस्त भोग व धन यज्ञानुष्ठान और सेना के लिए होता था।[2]

राज्य प्रबन्ध—महाभारत काल में बड़े-बड़े राज्य नहीं थे। उन दिनों ग्राम महत्त्वपूर्ण थे। राज्य प्रबन्ध के लिए प्रत्येक ग्राम में एक मुखिया रहता था, वह ग्रामाधिपति कहलाता था। उससे बड़ा 10 ग्राम का, बीस ग्राम का, सौ ग्राम का और हजार ग्राम का मुखिया होता था। छोटे मुखिया बड़े के अधीन होते थे तथा अपनी-अपनी सूचनाएं बड़े मुखिया को देते रहते थे।[3] जनपद के प्रत्येक ग्राम में शूरवीर, बुद्धिमान् और कार्यकुशल पांच-पांच पंच मिलकर सुचारु रूप से जनपद के कार्य करते थे।[4] हजार ग्राम वाला मुखिया समस्त सूचनाएं राजा के समक्ष प्रस्तुत करता था।[5] ग्रामों में जो आय कर से अथवा उपज के 1/4 भाग की प्राप्ति से होती थी, वह सब ग्राम का अधिपति अपने पास रखता था। उसमें से वह नियतांश दस ग्रामाधिपति के समीप भी भेजता था तथा इसी प्रकार दस ग्रामाधिपति बीस ग्रामाधिपति के पास।[6] जो सत्कार प्राप्त व्यक्ति सौ ग्रामों का अधिपति होता था वह एक, जनसंकुल व धन-धान्य से सम्पन्न ग्रामों को उपभोग में ला सकता था। उसका प्रबन्ध राजा के अधीनस्थ अपने अधिकारियों के अधीन रहता था।[7] सहस्रग्राम का अधिपति एक शाखा नगर की आय पाने का अधिकारी होता था। उस उप नगर में जो अन्न व सुवर्ण की आय हो उसे वह राष्ट्रवासियों से मिलकर रहता हुआ, स्वेच्छानुसार भोगता था।[8] इन सबकी देख-रेख एक आलस रहित धर्मज्ञ मन्त्री किया करता था।[9]

मन्त्री—महाभारत काल में धर्मात्मा राजाओं के लिए अच्छे मन्त्री के समान अन्य कोई गति नहीं समझी जाती थी। मन्त्री वही हो सकता था जो शूर-वीर अथवा बुद्धिसम्पन्न हो, क्योंकि शौर्य और बुद्धि से ही लोक और परलोक दोनों ही का सुधार हो सकता है।[10] मन्त्री को निम्नलिखित लक्षणों से सम्पन्न होना चाहिए—जो कुलीन,

---

1. शान्ति पर्व-75।2
2. शान्ति पर्व-87।3
3. शान्ति पर्व-87।6
4. शान्ति पर्व-87।4,5
5. शान्ति पर्व-87।5
6. शान्ति पर्व 87।6
7. शान्ति पर्व-87।7,8
8. शान्ति०-87।9
9. शान्ति०-87।10
10. शान्ति०-106।12,13

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

धन के लोभ से फोड़ा न जा सकने वाला, सत्पुरुष, सम्बन्ध-ज्ञान कुशल, भविष्य का भलीभांति प्रबन्ध करने वाला समय के ज्ञान में निपुण तथा बीती हुई बात के लिए शोक न करने वाला होना चाहिए।[1] अन्यत्र कहा है कि 'राजा का कर्त्तव्य था कि बिना परीक्षा लिए किसी को अपना मन्त्री न बनावे।[2] शान्ति पर्व में एक स्थान पर मन्त्री के गुणों का इस प्रकार वर्णन मिलता है—मन्त्री कुलीन, सुशिक्षित, विद्वान, ज्ञान-विज्ञान में पारंगत, सब शास्त्रों का तथ्य जानने वाला, सहनशील, अपने देश का निवासी, कृतज्ञ, बलवान, क्षमाशील, मन का दमन करने वाला, देशकाल का ज्ञाता, स्वामी और उसके मित्र की उन्नति चाहने वाला, आवश्यक वस्तुओं के संग्रह में तत्पर, स्वामी का हितैषी, आलस्य रहित, अपने राज्य में गुप्तचर लगाए रखने वाला, सन्धि और विग्रह के अवसर को समझने में कुशल, राजा के धर्म, अर्थ व काम की उन्नति का उपाय जानने वाला, नगर ग्राम-वासी लोगों का प्रिय, खाई और सुरंग खुदवाने तथा व्यूह-रचना करने की कला में कुशल, अपनी सेना का उत्साह वढ़ाने में प्रवीण, मुखाकृति और चेष्टा देखकर ही मन के यथार्थ भाव को समझ लेने वाला, शत्रुओं पर आक्रमण करने के अवसर को समझ लेने में विशेष चतुर, हाथी की शिक्षा के यथार्थ तत्व को जानने वाला, अहंकार रहित, निर्भीक, उदार, संयमी बलवान, उचित कार्य करने वाला, शुद्ध, शुद्ध पुरुषों से युक्त, प्रसन्न मुख, प्रिय दर्शन, नेता, नीतिकुशल, श्रेष्ठ गुण एवं उत्तम चेष्टाओं से सम्पन्न उद्दण्डता रहित, विनयशील, स्नेही, मृदुभाषी, धीर, शूरवीर, महान् ऐश्वर्य से सम्पन्न तथा देशकाल के अनुसार कर्म करने वाला होना चाहिए।[3]

जो राजा ऐसे योग्य पुरुष को मन्त्री बनाता और उसका कभी निरादर नहीं करता था, उसका राज्य विस्तार होता था।[4] किसी हीन कुल के मनुष्य को उसकी योग्यता और मर्यादा से ऊंचा स्थान नहीं दिया जाता था क्योंकि वे ऐसा हो जाने पर अहंकार-वश उच्छृंखल हो जाते हैं। अतः चारों वर्ण वालों को उसकी योग्यता अनुसार कर्म सौंपना चाहिए ऐसा नियम था।[5] जो अपनी जाति (क्षत्रिय) के गुणों से सम्पन्न हो, अपने वर्णोचित कर्मों में ही संलग्न रहें, ऐसे पुरुषों को मन्त्री बनाया जाता था।[6]

महाभारत-काल में मन्त्री पद पर अथवा उच्चाधिकारी के पद पर उन्हीं पुरुषों को नियुक्त किया जाता था जो तर्क-शास्त्र, धर्मशास्त्र एव दण्ड-नीति के बहुत विद्वान् हों। राजा का धर्म था कि वह अच्छी मन्त्रणा से, सुन्दर नीति से एवं सब ओर से

1. शान्ति०-115।16-17
2. शान्ति०-118।4
3. शान्ति पर्व-87।10,11
4. शान्ति पर्व-80।28-29
5. शान्ति पर्व-118।7-14
6. शान्ति पर्व 118।15

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पुरुषार्थ पूर्वक प्रयत्न करके प्रजा की रक्षा करे।[1] एक स्थल[2] पर तीन मन्त्रियों की नियुक्ति करने का नियम है।[3] अन्यत्र वर्णन है कि पांच बुद्धिमान मन्त्री नियुक्त करे।

राजाओं का कर्त्तव्य था कि पहले अपने सेवकों की सचाई, शुद्धता, सरलता, स्वभाव, शास्त्रज्ञान, सदाचार, कुलीनता, जितेन्द्रियता, दया, बल, पराक्रम प्रभाव, विनय, क्षमा आदि का पता लगाकर जो सेवक जिस कार्य के योग्य जान पड़े, उन्हें उसी में लगावे और उनकी रक्षा का पूरा-पूरा प्रबन्ध कर दे।[4] अन्न भन्डार, शस्त्रागार जल भण्डार आदि पर विश्वास पात्र तथा लोभवश फूट न सकने वाले व्यक्तियों की ही नियुक्ति की जाती थी।[5] मूर्ख, नीच, बुद्धिहीन, अजितेन्द्रिय और निन्दित कुल में उत्पन्न पुरुषों को राज कार्य में नहीं लगाया जाता था।[6] ऐसा नियम था कि राजा साधु स्वभाव वाले, कुलीन, शूरवीर, ज्ञानवान्, अदोषदर्शी, अच्छे आचरण वाले, पवित्र और कार्यदक्ष व्यक्तियों को अपना पार्श्ववर्ती सेवक बनावे, विनीत, कार्य परायण, शांत स्वभाव, चतुर, स्वाभाविक शुभ गुणों से सम्पन्न, अपने-अपने पद के योग्य व्यक्तियों को अपना वाह्य सेवक बनावे।[7] जिस प्रकार सिंह सिंहों के साथ रहा करते हैं, कुत्तों के साथ नहीं उसी प्रकार राजा लोग शूरवीर, विद्वान्, वहुश्रुत, और कुलीन पुरुषों के साथ रहा करते थे, नीच पुरुषों के साथ नहीं। राजा को उचित था कि वह विद्याहीन कुटिल, मूर्ख व दरिद्र व्यक्तियों को अपना साथी न बनावे।[8] राजा लोग अपने समस्त कार्यों में उन्हीं पुरुषों को नियुक्त करते थे जो कुल, स्वभाव और देश के धर्म को जानते हों, मधुरभाषी हों, जिनका युवावस्था जीवन निष्कलंक रहा हो, हित साधन में तत्पर व घबराहट से रहित हों, जिनमें लोभ का अभाव हो, जो शिक्षित, जितेन्द्रिय, धर्मनिष्ठ तथा धर्म एवं अर्थ की रक्षा करने वाले हों।[9]

गुप्तचर—राजा लोग गुप्तचरों की सहायता से राष्ट्र की सभी बातें जानते रहते थे। सुयोग्य एवं विश्वासी गुप्तचरों को नियुक्त किया जाता था। राजा के द्वारा ऐसे मनुष्यों को जो बुद्धिमान होने पर भी, गूंगे, अंधे, वहरे, से जान पड़ते हों, जिनकी

---

1. शान्ति पर्व 119।2, शान्ति, 57 वां अध्याय
2. शान्ति पर्व 119।3, शान्ति, 83।47
3. शान्ति पर्व-83।47
4. शान्ति पर्व-118।2,3
5. शान्ति पर्व-115।20,21
6. शान्ति पर्व-119-8
7. शान्ति पर्व-119।9,10
8. शान्ति पर्व-119।11-14
9. शान्ति पर्व-120।27,28

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भली-भांति परीक्षा कर ली हो, गुप्तचर बनाकर आवश्यक कार्यों पर नियुक्त किया जाता था। राजा लोग मन्त्री, मित्र व पुत्र पर भी गुप्तचर नियुक्त करते थे। बाजारों में, मठ-मन्दिरों में, सभाओं, संन्यासियों के आश्रमों पर, उद्यानों में नगर व उसके चौराहों पर समस्त राष्ट्र में गुप्तचरों की नियुक्ति की जाती थी।[1] राजा के लिये गुप्तचर इतना महत्वपूर्ण माना जाता था कि महाभारत में कहा गया है कि गुप्तचर की योग्यता अमात्य आदि से कम नहीं होनी चाहिये।[2]

दूत---दूत दो प्रकार के होते थे—1. वार्तावह, 2. निस्सृष्टार्थ—वार्तावह वे जो एक राजा का संदेश दूसरे राजा तक पहुंचा देते थे, उनका इतना ही कर्त्तव्य होता था। उन्हें कोई विशेष अधिकार नहीं दिये जाते थे। गुप्तचरों की भांति दोनों ही प्रकार के दूतों को भी विशेष योग्य होना आवश्यक था। दूत के प्रति अच्छा व्यवहार किया जाता था।[3] पाण्डवों की ओर से श्रीकृष्ण ने दौत्य कर्म किया था[4] वे 'निस्सृष्टार्थ दूत' थे। उन्हें युधिष्ठिर की ओर से अधिकार प्राप्त था कि वे जैसे उचित समझें हमारी ओर से दुर्योधन से सन्धि कर लें[5] तथा संजय[6] जो धृतराष्ट्र की ओर से दूत बनकर पाण्डवों के प्रति गया था वह भी निःसृष्टार्थ था। उलूक 'वार्तावह' दूत था। उसका कर्त्तव्य केवल इतना ही था कि वह कौरवों का समाचार पाण्डवों को सुना दे एवं उनके द्वारा कही गई बातों को कौरव सभा में कह दे। किसी भी प्रकार के दूत का वध नहीं किया जाता था तथा न उसके प्रति कोई दुर्व्यवहार करना उचित माना जाता था।

दूत के अतिरिक्त राजधानी में देश-विदेशों के आश्रित जन राज्याश्रित होकर रहते थे एवं सब दिशाओं से आये हुए राजदूत भी वहां रहते थे।[7] राजा के दरबार में एक अष्टांगायुर्वेद ज्ञाता वैद्य[8] की एवं एक गणितज्ञ[9] की भी नियुक्ति की जाती थी। इन सभी प्रधान अधिकारियों एवं साधारण अधिकारियों को वेतन दिया जाता था[10] वह भी यथा समय दिया जाता था।[11]

---

1. शान्ति पर्व-49 वां अध्याय आपणेषु विहारेषु समाजेषु आदि
2. शान्ति पर्व-69।8, उद्योग पर्व-194।62
3. उद्योग पर्व-161।37, शान्ति 85।26,27
4. उद्योग पर्व-अध्याय 72-159
5. उद्योग पर्व-अध्याय
6. उद्योग पर्व-(संजयान पर्व) अध्याय 20-32
7. उद्योग पर्व-30।46
8. सभा पर्व-5।73
9. सभा पर्व-73,91
10. सभा पर्व-5।51, शान्ति पर्व 92।19
11. शान्ति पर्व-57।12।17

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

राजनीति—राजा लोग धर्म के विषय में गुरु को प्रधान मानते थे तथा अर्थ के विषय में स्वयं निरीक्षण करते थे।[1] अनेक प्रकार के लाभों में 'धर्म' को ही प्रधान लाभ माना जाता था।[2] अर्थात् कर्त्तव्य पालन की भावना प्रबल थी। बड़े-बड़े कार्यों पर जितेन्द्रिय, अत्यन्त अनुगत, पवित्र आचार विचार वाले, शक्तिशाली व अनुरक्त-व्यक्तियों को रखा जाता था।[3] ऐसी धारणा थी कि 'रक्षा के स्थान (दुर्ग), युद्ध, धर्मानुसार राज्य शासन, मन्त्र-चिन्तन, तथा यथासमय पर सबको सुख पहुंचाने से राज्य की उन्नति होती है।'[4] अतः राजा व उसके वरिष्ठ अधिकारी प्रजाजनों को यथावश्यक सुख पहुंचने का ध्यान रखते थे।[5] कार्य साधन में कुशल राजा इन वरिष्ठ अधिकारियों एवं श्रेष्ठ क्षत्रियों का अपमान तथा सेवकों के साथ शठता का व्यवहार नहीं करता था।[6] राजा का अन्न भण्डार सदा पुष्टिकारक अनाजों से भरा रहता था और उसकी रक्षा का कार्य श्रेष्ठ पुरुषों को सौंपा जाता था। राजा के सभी सेवक सदा उद्योगशील तथा युद्ध कला, अश्वारोहण आदि में चतुर होते थे।[7]

राजा मध्यस्थ भाव से रहकर तीक्ष्णता कुटिल नीति, अभयदान, सत्य, सरलता तथा श्रेष्ठ भाव का अवलम्बन करता था। जिस कार्य में जो हितकर हो उसमें वैसा ही रूप धारण कर लेता था। अपराधी को दण्ड देने के लिये उग्र रूप, दीनों पर दया करते समय शांत एवं दयालु रूप धारण करता था। वह मौन रहकर गुप्त विचारों को सुरक्षित रखता था।[8] वह प्रजा के लोगों की आय-व्यय भली-भांति से देखकर ही कर वसूल करता था। उन्हें कष्ट पहुंचाकर या नष्ट करके नहीं।[9] राजा का पांच प्रकार का बल माना जाता था 1. बाहुवल, 2. अमात्य बल, 3. धन बल, 4. अभिजात बल, एवं 5. प्रज्ञा बल। इनमें से 'प्रज्ञा बल' सर्वश्रेष्ठ तथा बाहुवल सर्वोपेक्षा निम्न माना जाता था।[10] राजा ध्यान रखे कि शत्रु के गुप्तचर उसके विश्वास पात्र कृत्रिम मित्र बनकर, मन्त्रियों द्वारा उसकी गुप्त मन्त्रणा को जानकर उसे प्रकाशित

---

1. वन पर्व-67।6- विराट 10।8
2. शान्ति पर्व-92।19
3. शान्ति पर्व-96-93।14
4. शान्ति पर्व-96।93।24
5. शाति पर्व-118 वां अध्याय (दाक्षिणात्य पाठ)
6. शान्ति पर्व-118 वां अध्याय(,,)
7. शान्ति पर्व-119।17,18
8. शान्ति पर्व-120।3-7
9. शान्ति पर्व-120।7-9
10. उद्योग पर्व-37।52-55

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

न कर दे ।[1] राजा को चाहिए कि वह विश्वसनीय वृद्ध, शुद्ध हृदय वाले, बात को अच्छी प्रकार समझने में समर्थ, उत्तम कुल में उत्पन्न और अपने प्रति अनुराग रखने वाले पुरुषों को मंत्री बनावे ।[2]

राजाओं को शत्रु के साथ केवल सरल नीति न अपनाकर कुटिल नीति का भी व्यवहार करना पड़ता था । जिसके अनुसार राजा को शत्रु पर विपत्ति काल में धावा करना चाहिये। उसे अपने छिद्रों को छिपाना चाहिये व शत्रु का छिद्रान्वेषण करना चाहिये तथा छिद्र पाते ही आक्रमण कर देना चाहिये । उसके व्यवहार या सौहार्द का विचार न करके वध कर देना चाहिये । निर्बल शत्रु की भी उपेक्षा न करे । असमर्थता के समय उसके दोषों को देखे, उस समय सब ओर से धिक्कार व निन्दा मिलने पर भी अनसुनी कर दे । शत्रु की दृष्टि में सर्वथा दीन हीन व असमर्थ बन जाय । बाघ के सामन सोवे, इस प्रकार कपट पूर्ण व्यवहार से वश में आये शत्रु को साम आदि उपायों से विश्वास उत्पन्न करके मार डाले। शरण में आये शत्रु पर दया न दिखावे । शत्रु पक्ष के त्रिवर्ग, पंच वर्ग व सप्त वर्ग का सर्वथा नाश कर दे। उसके मूल का ही उच्छेद कर दे, पश्चात् उसके सहायकों व सम्बन्धियों का संहार कर दे । जब तक समय अपने अनुकूल न हो जावे, शत्रु को कंधे पर बैठाकर ढोना पड़े तो ढोये परन्तु अनुकूल समय आ जाने पर पत्थर पर पटक कर घड़े को फोड़ने के समान नष्ट कर दे। शत्रु बहुत दीनता पूर्ण वचन बोले तो भी उस पर दया न करे। डरपोक को भय दिखाकर छोड़े, शूरवीर को हाथ जोड़कर वश में करे, लोभी को धन देकर वश में करे। विश्वास न करे, सभी से चौकन्ना रहे, शत्रु से सन्धि करके जो राजा निश्चिन्त हो जाता है वह धोखा खाता है ।

पुरोहित—महाभारत काल में राजा का एक पुरोहित भी होता था। वह सभी विषयों में मंत्री की भांति राजा को राय ही नहीं देता था अपितु राजा का सभी कार्यों में निर्देशन करता था ताकि राजधर्म नष्ट न हो जाय । तत्कालीन राजनीति धर्म से सम्बद्ध थी । धर्म शास्त्र ही समस्त कार्यों में दिग्दर्शन करते थे। अतः पुरोहित का रखना अत्यावश्यक था ।[3] उसके विषय में कहा गया है कि वह आचारवान्, कुलीन और बहुश्रुत हो, तथा राजा अपने पुरोहित का उचित आदर सत्कार करे ।[4] कोई-कोई पुरोहित वंश परम्परागत होते थे तथा किसी-किसी की नवीन नियुक्ति होती थी। पाण्डवों ने धौम्य को पुरोहित नियुक्त किया था ।[5] पुरोहित राजा को आवश्यक कर्त्तव्य,

---

1. सभा पर्व-5।34
2. सभा पर्व-5।26, 27
3. शान्ति पर्व-72।1
4. सभा पर्व-5।40
5. सभा पर्व-80।22

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

करने योग्य व न करने योग्य कर्म, आने वाला संकट, अन्तःपुर से सम्बन्ध रखने वाले वृत्तान्त सबके विषय में निर्देशन करता था। राजा उसी के निर्देशों पर चलता था। राजा स्वयं भी नीति शास्त्र, धर्मशास्त्र आदि के ज्ञान से सम्पन्न होता था। राजा व पुरोहित दोनों ही धर्म निष्ठ, श्रद्धेय व तपस्वी होते थे। प्रजा वर्ग इन दोनों का सम्मान करता था। वे ही राज्य के मूलाधार होते थे। वे दोनों सदा एक दूसरे से मिलकर चलते थे, तभी एक दूसरे की रक्षा में समर्थ होते थे। क्षत्रिय (बल) की सहायता बिना ब्राह्मण व ब्राह्मण (बुद्धि, ज्ञान) की सहायता बिना क्षत्रिय अपनी रक्षा व उन्नति नहीं कर सकते थे।[1] प्रसिद्ध महाभारत टीकाकार (नीलकंठ) ने राजा की सात प्रकृति में प्रथम 'स्वामी' नामक प्रकृति का अर्थ 'राजा, पुरोहित व ऋत्विज' किया है। राजा के समीप एक न्यायाधीश भी अवश्य रहा करता था।[2] न्याय व्यवस्था, जो मनुकाल से चली आ रही थी वही प्रायः थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ उस काल तक चलती रही थी। राज्य छोटे-छोटे होने से धर्म शास्त्र की इस आज्ञा का पालन होता रहता था कि 'राजा स्वयं न्याय करे।' राजा प्रतिदिन राज दरबार में आकर न्याय दिया करता था। उसकी सहायता के लिये एक सैंतीस व्यक्तियों की राज सभा रहती थी। उसमें चार गृहस्थाश्रमी वेदविद् और शुद्ध आचरण वाले ब्राह्मण, शस्त्र चलाने वाले आठ बलवान क्षत्रिय, इक्कीस धनवान् वैश्य, और पवित्र तथा विनयम सम्पन्न तीन शूद्र होते थे।[3] अर्थात् राजा, जो प्रमुख न्यायाधीश होता था, की सहायता को सभी वर्णों से युक्त एक 'जूरी' जैसी सभा होती थी। इसके अतिरिक्त एक पचास वर्ष का, प्रौढ़, विद्या सम्पन्न, तर्क शास्त्र का ज्ञाता, ब्रह्म ज्ञान सम्पन्न सूत को पौराणिक नियुक्त किया जाता था। इस सभा में से आठ मन्त्री नियुक्त किते जाते थे जिनके मध्य बैठकर राजा स्वयं न्याय करता था।[4] राजधर्म था कि वह न्याय करते समय किसी से द्रव्य न ले। यदि बलवान् से पीड़ित होकर निर्बल पुरुष राजा के समीप 'न्याय' के लिये पुकारता आता है और राजा से उसे न्याय नहीं मिलता तो राष्ट्र का नाश हो जाता है।[5] प्रतिवादी यदि अपराध स्वीकार नहीं करता था तो साक्षी के प्रमाण से न्याय किया जाता था। यदि साक्षी भी न हो तो राजा अपनी युक्ति से निर्णय करता था। दण्ड अपराध के मान से ही होता था।[6]

दण्ड नीति—उस काल के मनीषियों की नीति थी कि 'यदि राजा दण्डनीति

---

1. शान्ति पर्व-73 वां अध्याय
2. शान्ति पर्व-58-68
3. शान्ति पर्व-85।7-10
4. शान्ति पर्व-85।11
5. शान्ति पर्व-85।13
6. शान्ति पर्व-85।5

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का प्रयोग स्वधर्म के अनुसार करता है तो वह चारों वर्णों को नियन्त्रण में रख सकता है तथा अधर्म से निवृत्त कर सकता है। भूतल पर विचरने वाले भूखे मानव जहां दानपति शूरवीर क्षत्रिय के समीप पहुंचकर, अन्न पान से पूर्णत: संतुष्ट हो, अपने घर को जाते थे, इससे बढ़कर अन्य धर्म नहीं माना जाता था। दण्ड नीति के अनुसार राजा अपने बल का प्रयोग दुष्टों व अत्याचारियों को दण्ड देने में करे तभी वह अपने बल द्वारा निर्बल प्रजाजनों की आततायियों से रक्षा करके उन्हें सुखी कर सकता है।

यदि ब्राह्मण अपराध करे तो उसको वाणी द्वारा अपमानित करना ही दण्ड माना जाता था।[1] यदि क्षत्रिय अपराधी हो तो उसके लिए दण्ड विधान था कि उसे भोजन पात्र देकर उसके स्वधर्म में रत रखा जावे और यदि वैश्य अपराधी हो तो उसके लिये अर्थदण्ड करके धन वसूल करने के दण्ड का विधान था, किन्तु शूद्र के लिये केवल 'सेवा' ही दण्ड-विधान था, उसे अन्य किसी प्रकार का दण्ड नहीं दिया जाता था।[2] उस काल की समाज व्यवस्था में दण्ड का बड़ा महत्व माना जाता था। महाभारत के शान्ति पर्व[3] में दण्ड की महत्ता व विधान का प्रतिपादन किया गया है। 'ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यासी, सभी दण्ड के ही भय से अपने-अपने धर्मों में स्थित रहते हैं। यदि भय न हो तो कोई भी मनुष्य न तो अपने कर्त्तव्य कर्मों का सम्पादन करना चाहे, न समाज सेवा करना चाहे तथा न वचन का पालन ही करना चाहे। दण्ड का भय ही सबको अपने-अपने कर्त्तव्यों के पालन में लगाये रहता है। सम्पूर्ण जगत दण्ड के ही भय से सन्मार्ग पर चलता है। मनुष्य दण्ड के भय से ही मर्यादा का पालन करता है तथा बिना भय, उच्छृंखल हो जाता है।" महाभारत काल के इस निश्चित सिद्धान्त के कारण हम सम्पूर्ण समाज को दण्ड के भय से स्वधर्म निरत देखते हैं। राजा को तो, मनुष्य होने के नाते, धोखा भी दिया जा सकता है अत: सबसे बड़ा भय, ईश्वर प्रति दण्ड विधान का था। धर्म के नियमों को तोड़ने से नर्क में भीषण यंत्रणाएं भोगने का, तियक् आदि योनियों में जन्म लेकर कष्ट भोगने का भय धर्म शास्त्र के विधान में वर्णित था, जिसके कारण अधिकांश जनता स्वत: ही स्वधर्म निरत रहती थी और अपने-अपने धर्म का पालन करती थी।

नैतिक पाप (अपराध) एवं सामाजिक अपराध के लिए प्रायश्चित् का विधान था तथा अपराधी के लिए प्रयुक्त राजाज्ञा को दण्ड कहा जाता था और अपराध के लिए अपने को स्वयं ही दिए गए दण्ड को प्रायश्चित् कहते थे। महाभारत काल में प्रायश्चित् का भी विधान था। राजा का कर्त्तव्य था कि किसी भी प्रकार के अधर्मियों को, धर्म की मर्यादा (समाज व्यवस्था) को भंग करते थे, उन्हें प्रायश्चित के रूप में दण्ड दे। बुद्धि

1. शान्ति पर्व-15।9
2. शान्ति पर्व-15।9
3. शान्ति पर्व-15।12, 13

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मान राजा व्यभिचारी पुरुष को लोहे की तपाई हुई खाट पर सुलाकर ऊपर से लकड़ी-रख दे और आग लगा दे, जिससे वह पापी जलकर भष्म हो जाए। पति की अवहेलना करके पर-पुरुषों से व्यभिचार करने वाली स्त्रियों लिए के भी यही व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त व्यभिचारिणी को एक और विधान था, जो स्त्री अपने श्रेष्ठ पति को छोड़कर अन्य पुरुष की शैया पर जाती थी, उसे अत्यन्त विस्तृत मैदान में खड़ी करके, राजा, कुत्तों से नौंचवा डालता था।[1] नास्तिक व्यक्तियों को राजा हथकड़ी डालकर राज्य से दूर निकाल देते थे जिससे कि वे उन जंगलों में चले जाएं जो दुर्गम और भय से भरे हों। जिनका उद्देश्य धर्म पालन नहीं है वे मानव-समाज में ऐसे समझे जाते थे जैसे धान का थोथा पौधा।[2] उस काल के विचार थे कि यदि अपराधी का वध न करना भी कभी धर्म हो तो अधर्म क्या हो सकता है? यदि चोर डाकू मारे न जाएं तो प्रजा में वर्ण संकरता और धर्म संकरता फैल जाए तथा लोग दूसरों का धन हड़प लें और लोक यात्रा का निर्वाह असम्भव हो जाए।[3]

यदि दण्ड व अहिंसा का सामंजस्य करना हो तो इसके लिए निम्नलिखित व्यवस्था थी—

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन तीनों वर्णों को, ब्राह्मणों के अधीन कर दिया जाता था। जब चारों वर्ण धर्म के बन्धन में बंधकर उसका पालन करते थे तो सूत मागध आदि भी उनकी देखा-देखी धर्म का पालन करते थे। इनमें से जो भी ब्राह्मण की आज्ञा से विपरीत आचरण करता, उसके विषय में ब्राह्मण राजा के पास जाकर कहता कि 'अमुक व्यक्ति मेरी बात नहीं सुनता।' तब राजा उसी को दण्ड देता था। राजा अपराधी को वही दण्ड देता था जिससे शरीर के पांचों तत्व पृथक्-पृथक् न हो जाए। वह दण्ड भी नीति शास्त्र की आलोचना और अपराधी के कार्य पर भलीभांति विचार किए बिना नहीं दिया जाता था। राजा दण्ड देने के पूर्व पर्याप्त विचार करता था। क्योंकि यदि वह किसी को प्राण दण्ड देता है तो उसके माता-पिता व स्त्री बच्चे भी मरे ही समझो। प्राणदण्ड इसलिए भी नहीं दिया जाता था कि दुष्ट पुरुष भी यदि जीवित रहे तो कभी-कभी साधुसंग से सुधर जाता है अथवा दुष्ट पुरुषों की सन्तानें ही अच्छी निकल आती हैं। अतः दुष्टों को प्राणदण्ड देकर, जहां तक हो सकता, उनका मूलोच्छेद नहीं किया जाता था। अपराध के अनुरूप साधारण दण्ड दिया जाता था जिससे उसका प्रायश्चित् हो जाए। उसका सर्वस्व छीनने का भय दिखाया जाए अथवा कारावास दिया जाए या अंग-भंग करके उसे कुरूप बना दिया जाए। ऐसा भी दण्ड विधान था। यदि कोई अपराधी पुरोहित की शरण चला जाता तो क्षमा कर दिया जाता था। यदि वह बारम्बार

1. शान्ति पर्व-165
2. शान्ति पर्व-181
3. शान्ति पर्व-267

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अपराध करता तो प्रमुख विचारकगण उसके अपराध के लिए गुरुत्तर दण्ड प्रदान करते। फिर वह अपराधी प्रथम बार की भांति बिना दण्ड दिए छोड़ जाने के योग्य नहीं समझा जाता था।[1]

यदि राजा को प्राणदण्ड भी न देना हो और उन दस्युओं को साधु बनाकर उनकी प्राण रक्षा न कर सके तो, अपनी प्रजा की जीवन यात्रा का यथावत् रूप में निर्वाह हो, इस निमित्त से कठोर तपस्या करते थे, क्योंकि राज्य में चोर-डाकुओं के होने से वे लज्जा का अनुभव करते थे। उनकी इच्छा रहती थी कि 'प्रजा शुद्ध सदाचारी व सुखी बने।

यह माना जाता कि संसार में सब कुछ दण्ड के ही अधीन है। इसका नामान्तर व्यवहार भी था। 'व्यवहार' को धर्म का ही एक नाम माना जाता था। दण्ड को व्यवहार इसलिए कहते थे कि 'दण्ड' के कारण सतत सावधान रहने वाले पुरुष के धर्म का किसी प्रकार लोप न हो। उस काल में दण्ड के लिए अनेक सार्थक नाम प्रचलित थे यथा—विजय, शास्ता, ब्राह्मण, धर्मपाल, शिवशंकर आदि। दण्ड नीति के भी लक्ष्मी, सरस्वती, जगद्धात्री आदि नाम थे।[2] यह दण्ड नीति ही है जो लक्ष्मी की प्राप्ति का, विद्या की प्राप्ति का एवं संसार के भरण-पोषण का मूल कारण है। इसी प्रकार सभी नामों की व्याख्या से दण्ड का महत्व समझा जा सकता है। दण्ड नीति के 'सरस्वती' नाम से यह स्पष्ट है कि उस काल में विद्या प्राप्ति के लिए छात्रों को यह भय रहना आवश्यक माना जाता था कि 'यदि स्वाध्याय पूर्ण न किया तो दण्डित किया जाएगा।

राजा लोग मदिरालय खोलने वाले, वैश्याएं, कुट्टनियां, वैश्याओं के दलाल जुआरी तथा ऐसे ही बुरे धन्धे वाले अन्य सभी लोगों को दण्डित करके नियन्त्रण में रखते थे जिससे भद्र प्रजा को किसी प्रकार की बाधा न पहुंचे।[3] ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य लोगों की भिक्षावृत्ति पर, राजा की ओर से प्रतिबन्ध रहता था तथा मदिरालय, वैश्यालय एवं जुआ खेलने के स्थानों पर राजा की ओर से प्रतिबन्ध होता था क्योंकि इनसे काम शक्ति बढ़ती है तथा कामासक्त पुरुष, सभी न करने योग्य कार्य करके अपने धन तथा वैभव का नाश कर लेता है।[4] उस काल के राजाओं का सिद्धांत था, 'हमारे राज्य में दस्यु व भिखारी न हों, क्योंकि वे दोनों ही प्रजा के धन का हरण करते हैं। जो प्राणियों पर दया करके प्रजा की उन्नति में योग देते हैं। वही हमारे राष्ट्र

1. शान्ति पर्व-267 एवं 287वां अध्याय
2. शान्ति पर्व-65।16,17, शान्ति पर्व 121वां अध्याय
'वगतः अवहारः धर्मस्व येन सः व्यवहारः।'
3. शान्ति पर्व-12।वां अध्याय
4. शान्ति पर्व-88।14,15,21
5. शान्ति पर्व-88।16,17

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

में निवास करे, जो प्राणियों का विनाश करने वाले हों, वे न रहें।[1]

जो अधिकारी उचित से अधिक वसूल करते या कराते थे, उन्हें राजा दण्ड देता था एवं अन्य न्यायाधिकारी द्वारा उन्हें कर वसूल करने का प्रशिक्षण दिया जाता था। राजा का धर्म था कि वह माता-पिता, भ्राता, पत्नी तथा पुरोहित को भी (यदि वह अपने धर्म का पालन नहीं करते) दण्ड दे क्योंकि राजा के लिए कोई भी अदण्डनीय नहीं माना जाता था।[2] किसी भी शासन के लिए 'रक्षा व दण्ड' इन दानों को जोड़ माना जाता है। ब्राह्मण भी सबका कल्याण एवं बुद्धि से रक्षा करते हुए, धर्म विरुद्ध चलने वालों को दण्ड देने के लिए जागृत रहते थे, किन्तु उन्होंने दण्ड धारण का अधिकार, धर्मानुसार सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा करने वाले, क्षत्रियों को दे दिया। यह दण्ड ही सम्पूर्ण प्रजा को मर्यादा में रखता था।[3]

कोष—आजकल की भांति महाभारत काल में भी धन की बड़ी महत्ता थी। धन को राजा के लिए परम धर्म माना जाता था।[4] क्योंकि बिना धन के राजा कुछ नहीं कर सकता। दरिद्र को मृत या पतित माना जाता था।[5] किन्तु राजा लोग कोष का संचय प्रजा की रक्षा हेतु या कल्याण हेतु किया करते थे। प्रजा में धन का वितरण करने के लिए ही राजसूयद, अश्वमेध आदि यज्ञ किए जाते थे। महाभारत काल में आदर्श अर्थ संग्रह किया जाता था। केवल न्याय के मार्ग पर चलते हुए ही अर्थ संग्रह करने की धर्म शास्त्र की आज्ञा थी। अन्याय से धर्नोपार्जन करना निषिद्ध था।[6] अतः प्रजा की सामर्थ्य के अनुसार ही कर निर्धारण किया जाता था। कर रूप में सुवर्ण व अन्न तो आता ही था, साथ ही रत्न, अश्व, वस्त्र आदि भी आते थे।[7] राजा के लिए, अधिक कर लेना निन्दनीय था। उसका कर्त्तव्य था कि चारों वर्णों की वृत्ति का रक्षण करे। अति लाभी राजा का विनाश अवश्यंभावी माना जाता था।[8] दरिद्र व्यक्ति से तो कर लेना ही अनुचित माना जाता था। राजा प्रजा का पालन व उन्नति करता हुआ उससे थोड़ा-थोड़ा कर वसूल करता था।[9]

राजा लोग प्रायः धनी वैश्यों से भूमि की उपज का कर एवं व्यापार का कर

1. शान्ति पर्व-88।24।25
2. शान्ति पर्व-121।60
3. शान्ति पर्व-122।44-15
4. उद्योग पर्व-72।23-27
5. उद्योग पर्व-134।13, शान्ति पर्व-8।15
6. आश्रम०-5।26,37
7. शान्ति पर्व-88वां अध्याय
8. शान्ति पर्व-71।15-18
9. शान्ति पर्व-87।24

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लेकर अपने-अपने राष्ट्र के व्यय का निर्वाह करते थे।[1] राजा विशेषतः वैश्यों व साधारण प्रजा की रक्षा के फलस्वरूप उनसे कर वसूल करता था अर्थात् वह कर उसकी सेवाओं का पारिश्रमिक अथवा वेतन माना जाता था तथा सुरक्षा एवं सुविधाएं प्रदान करने के लिए भी तो धन की आवश्यकता होती है अतः राजा प्रजा से कर रूप धन लेकर उन्हीं के पालन व रक्षण में लगा देता था।[2] कर लेने के लिए प्रजा का उत्पीड़न करना पाप माना जाता था। राजा आपत्ति काल में ब्राह्मणेत्तर सभी धर्म व्यक्तियों से धन संग्रह करता था।[3] खान आदि की आय पर भी कर लगा दिया जाता था।[4] उस काल के धर्म शास्त्र व अर्थशास्त्र में सामंजस्य किया गया था। राजा लोग अर्थ-संग्रह के स्थान पर लोभी आदि व्यक्तियों को नहीं रखते थे। अर्थ विभाग का कार्य पांच कर्मचारियों में विभाजित कर दिया जाता था।[5] राजकोष पर राजा का पूर्ण स्वत्व नहीं होता था, वह प्रजा द्वारा अपने रक्षण व पालन के लिए राजा के पास न्यस्त उसी की (प्रजा की) सम्पत्ति मानी जाती थी।[6] वह जो 1/6 भाग लेता था वह प्रजा के रक्षण के लिए ही।[7] असदाचारी ब्राह्मण से भी कर ग्रहण किया जाता था।[8] दस्युओं को मारकर उनका धन लूटकर एवं कृपण वैश्य से अधिक धन छीनकर राजा को सत्कार्य में, प्रजा के कल्याण में लगा देना चाहिए। दुर्बल व दरिद्र के अतिरिक्त यथा स्थिति सबसे कर ग्रहण करना चाहिए,[9] ऐसा नियत था।

राजा को कोष संचय के लिए साधु व असाधु उभय भागों में सामंजस्य स्थापित करके मध्यम मार्ग को अपनाना चाहिए। क्योंकि हीन कोष राजा की सदा अवज्ञा होती है।[10] राजा को अधिकार था कि वह शत्रु द्वारा आक्रमण आदि-संकट कालीन स्थिति में प्रजा से अधिक कर भी ग्रहण कर सकता था।[11] राजा को चाहिए कि वह कोष के शुभचिन्तक का सम्मान करे एवं कोष संचय के विरोधी या बाधक का वध कर डाले।[12]

---

1. शान्ति पर्व-87।35-38
2. शान्ति पर्व-120।44
3. शान्ति पर्व-71।21-23
4. शान्ति पर्व-69।29
5. शान्ति पर्व-71।14, शान्ति पर्व-71।8,9
6. आदि पर्व-213।9, शान्ति पर्व-24।22
7. शान्ति पर्व-69।25
8. शान्ति पर्व-76।9
9. शान्ति पर्व-126।3-6, शान्ति पर्व-130।35-37
10. शान्ति पर्व-103।1-5,6-7
11. शान्ति पर्व-87।29-34
12. शान्ति पर्व-82।104. शान्ति पर्व-130।42

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

महाभारत काल में राजा लोग संकट काल में प्रजा से यह कहकर ऋण लेते थे कि 'आज आप लोगों की रक्षा करनी है, [शत्रु पर विजय प्राप्त करनी है। इस संकट में आप मुझ ऋण रूप में धन दें। संकट के निकल जाने पर मैं आप लोगों का धन वापिस कर दूंगा।[1] किन्तु इस प्रकार संकट की झूठी दुहाई देकर, धर्म का त्याग करके, धन संग्रह करना गर्हित माना जाता था।[2] जो राजा अपनी प्रजा का रक्षण न करे, उसे वध योग्य बतलाया गया है।[3] राजा अपने कोष को सदा पूर्ण रखने का प्रयत्न करता था क्योंकि राजा की जड़ सेना और कोष ही होती है। इनमें भी सेना की जड़ भी कोष ही है तथा सेना सम्पूर्ण धर्मों की रक्षा का प्रधान कारण है और धर्म प्रजा के सुख की मूल है।" इससे स्पष्ट है कि महाभारत कालीन राजा लोग प्रजा के हितार्थ ही कोष का संचय करना आवश्यक समझते थे तथा धन को ही धर्म, काम, लोभ व परलोक की सिद्धि का कारण मानते थे किन्तु वे उस धन को धर्म से ही प्राप्त करने की इच्छा करते थे, अधर्म से नहीं।[4]

दुर्ग व नगर निर्माण—शत्रु पक्ष अपने आक्रमण में सफल न हो सके इसके लिए दुर्ग की आवश्यकता है क्योंकि कोषागार सुरक्षित होना चाहिए, इसीलिए दुर्ग को राजा के सप्तांगों में से एक अंग माना है। इसकी निर्माण पद्धति के सम्वन्ध में अनेक विधि निषेधों का उल्लेख किया गया है।

दुर्ग छः प्रकार के होते थे—(1) मरू (धन्च) दुर्ग, (2) मही दुर्ग, (3) अवदुर्ग, (4) वाचर्ग, (5) नृदुर्ग, तथा (6) गिरिदुर्ग।[5] (7) जो नगरी दुर्ग युक्त हो, सुदृढ़ प्राकार या परिखा से घिरी हो, बलवान् मनुष्यों एवं हाथी घोड़ों से सुशोभित हो, जिसमें विद्वान् शिल्पियों का आवास हो, धन-धान्य सम्पत्ति से समृद्ध हो, दक्ष व धार्मिक व्यक्तियों का निवास हो, चौराहे तथा बड़ी-बड़ी दुकानें जिस नगरी की शोभा बढ़ाती हों, जिसके निवासी प्रशान्त, निर्भीक एवं सुन्दर हों, जहां शूरवीर व धर्मी व्यक्ति सानन्द निवास करते हों, जिसमें नित्य नए सामाजिक उत्सव होते हों, जिसके निवासी सदा देवद्विज की अर्चना करते हों तथा जो सदा वेदनयनी व गीतवाद्यों से मुखरित होती रहती हो ऐसी नगरी को राजा अपनी राजधानी बनाए।

राजा को इस दुर्ग में कोषागार, शास्त्रागार, धान्यागार आदि की रक्षा का ध्यान रखना चाहिए तथा युद्धोपयोगी अनेक द्रव्यों को सदा प्रचुर मात्रा में रखना

---

1. शान्ति पर्व-87।22-24
2. शान्ति पर्व-92।7-9
3. अनु० पर्व-61।32,33
4. शान्ति पर्व-130
5. मनुस्मृति-7।70, शान्ति पर्व-84।4,5

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

चाहिए।[1] दुर्ग कभी छोटा नहीं बनाना चाहिए। दुर्ग में यन्त्रों व अस्त्र-शस्त्रों के कारखानों की उन्नति की जानी चाहिए। दुर्ग का परकोटा बहुत ऊंचा बनाया जाना चाहिए तथा उसके ऊपर शूरवीर रक्षक सैनिकों के बैठ सकने की व्यवस्था हो, ऐसे स्थानों को 'प्रगण्डी कहते थे।[2] इन्हीं प्रगण्डियों की एक पाख वाली दीवालों में बाह्य वस्तुओं को देखते के लिए छोटे-छोटे छिद्र बनाए जाते थे जिन्हें आकाश जननी कहते थे। वायु संचार के लिए परकोटे में संकरे द्वारा बनाए जाते थे।[3] बड़े द्वारों की भांति उनकी सुरक्षा का पूर्ण प्रबन्ध किया जाता था। सभी द्वारों पर भारी-भारी यन्त्र और शतघ्नियां सदा रखी रहती थीं,[4] जिन पर पूर्ण दृष्टि रखी जाती थी। किले के भीतर प्रचुर मात्रा में ईंधन एकत्रित किया जाता था एवं अनेक कूप खुदवाए जाते थे। प्रत्येक राजा विशाल राजमार्ग बनवाता था[5] एवं आवश्यकतानुसार जल क्षेत्र व बाजारों की भी व्यवस्था की जाती थी।[6] अन्नागार, शस्त्रागार, योद्धाओं के निवास स्थान, अश्वशालाएं राजशालाएं, सैनिक शिविर, खाई तथा राजभवन के मार्ग व उद्यानों को गुप्त रीति से बनाया जाता था।[7] घायलों की चिकित्सा के लिए, तेल, चर्बी, मधु, घी, सब प्रकार की औषधि, लेखक, वाण आदि का प्रचुर मात्रा में संग्रह किया जाता था। सब प्रकार के आयुद्यों, कवचों आदि का भी संग्रह किया जाता था।[8] शल्य, विष, रोग व कृत्या—इन चारों प्रकार की चिकित्सा करने वाले वैद्यों को भी एकत्रित करके रखा जाता था।[9] साधारण स्थित में नट, नर्तक, मल्ल तथा ऐन्द्रजालिकों को नगर में आश्रय दिया जाता था। वे नगर की शोभा भी बढ़ाते थे एवं प्रजा का मनोरंजन भी करते थे।[10]

ग्रीष्म में अग्नि काण्ड से सुरक्षित रहने के लिए घास-फूस एकत्रित करके रखा जाता था। दिन में अग्नि होत्र के अतिरिक्त आग जलाना निषिद्ध कर दिया जाता था, भोजन बनाने की व्यवस्था रात की रखी जाती थी। दुर्ग के बाहर व भीतर, राज्य की सीमा पर, नगर में, उपवन में, अन्तःपुर के उद्यान में, चौराहों तथा पड़ावों पर पदाति

1. शान्ति पर्व-86।11-15
2. शान्ति पर्व-69।43
3. शान्ति पर्व-69।43
4. शान्ति पर्व-69।44,45
5. शान्ति पर्व-69।46,53
6. शान्ति पर्व-69।53
7. शान्ति पर्व-69।54,55
8. शान्ति पर्व-69।58
9. शान्ति पर्व-69।59
0. शान्ति पर्व-69।60

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रक्षक नियुक्त किए जाते थे ।[1] गांवों को भी नगरों की भांति बहुत से शूरवीर रक्षकों द्वारा सुरक्षित रखा जाता था। सीमावर्ती गांवों को भी अन्य ग्रामों की भांति सुविधाएं दी जाती थीं। वे सभी प्रान्त ग्राम व नगर राजा को कर रूप में धन समर्पित करते थे ।[2] राज्य में कुछ रक्षक पुरुष सेना लेकर दस्युओं का दमन करते हुए सुगम एवं दुर्गम नगरों में विचरते रहते थे ।[3]

युद्ध नीति व सेना प्रबन्ध—महाभारत काल में युद्ध प्रसंग उपस्थित होते रहते थे। इसलिए उस काल की सेना की व्यवस्था बहुत ही उन्नतावस्था को पहुंच गई थी और उसके युद्ध के प्रकार भी बहुत सुन्दर थे। परन्तु सबसे विशेष बात तो यह है कि युद्ध के तत्व धार्मिक रीति नियमों से आबद्ध थे। युद्ध पद्धति निश्चित् थी। धर्म युद्ध का उस समय बहुत आदर था ।[4] कोई भी योद्धा उन नियमों का उल्लंघन नहीं करता था। यदा कदा जो उल्लंघन देखे जाते हैं वे अपवाद हैं तथा महाभारत में ही उनकी निन्दा की गई है ।[5] कारण यह था कि दुर्योधनादि ने पाण्डवों के प्रति अनेक अन्याय व अत्याचार किए थे[6] और इस समय (युद्ध के अवसर पर) भी कौरव बलवान् थे अत: श्री-कृष्ण ने इस सिद्धान्त का पालन करते हुए कहा कि 'अधर्मी' के साथ अधर्म का व्यवहार करना भी धर्म है,[7] भीमार्जुन आदि के द्वारा बलात् धर्म युद्ध के नियमों को तुड़वाया, यथा कर्ण वध[8] व दुर्योधन वध[9] आदि में, जिससे कि पाण्डव अवसर प्राप्त होने पर भी, धर्म युद्ध के कारण, आततायियों को सुरक्षित न रहने दें तथा अधर्म की विजय न हो जाए। क्योंकि दुर्योधन आदि ने इस युद्ध में भी अभिमन्यु वध आदि में अधर्म युद्ध करके पाण्डवों के प्रति अन्याय किया था।

सेना के चार मुख्य विभाग होते थे—पदाति, अश्वारोही, गजारोही, एवं रथी। इसीलिए उस काल की सेना को 'चतुरंगिनी' कहते थे। सेना के प्रत्येक योद्धा को समय पर वेतन व भोजन दिया जाता था ।[10] भोजन में अधिकतर शाली चावल मिलता था

---

1. शान्ति पर्व-69।46,48
2. सभा पर्व-5।82
3. सभा पर्व-5।83
4. भीष्म पर्व-1।26-32, शान्ति पर्व-95।7-17
5. द्रोणपर्व-192।49, कर्ण०89।108-115
6. आदि पर्व-127वां अध्याय, आदि पर्व-140-150 अध्याय, सभा पर्व-61 वां अध्याय
7. शल्य०-31।6
8. कर्ण पर्व-90वां अध्याय
9. शल्य पर्व-58वां व 59वां अध्याय
10. सभा पर्व-5।49, उद्योग पर्व 155।2

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तथा दुग्ध पान भी कराया जाता था। प्रत्येक योद्धा को वेतन सोने या चांदी के रूप में दिया जाता था।[1] योद्धाओं के वेतन में से कुछ काटा नहीं जाता था तथा उनकी सुख-सुविधाओं व प्रसन्नता का ध्यान रखा जाता था, क्योंकि उस काल में सेना का अधिक महत्त्व था। वीर सैनिक दिन भर के युद्ध के पश्चात् जब शिविरों में जाते थे तब सब ओर से रक्षक दल को नियुक्त करके, अपने शरीर से बाणों को निकलवाकर, भांति-भांति के जल से स्नान करके, स्वस्ति वाचन कराने के अनन्तर, बन्दी जनों के मुख से अपनी स्तुति सुनते हुए, गीत और वाद्यों के शब्दों से क्रीड़ा-विनोद करते थे। दो घड़ी तक वहां सब कुछ स्वर्ग-सदृश जान पड़ता था।[2] तात्पर्य यह है कि सेना का आदर-सत्कार किया जाता था।

सेना में चुन-चुन कर वे ही व्यक्ति रखे जाते थे, जिनका पराक्रम उन्हें भर्ती करने से पूर्व देख लिया जाता था। सेना में अधिक वृद्ध, बालक, अधिक कृश, और अधिक मोटा व्यक्ति नहीं लिया जाता था। केवल क्षत्रिय ही नहीं अपितु अन्य वर्णों के शूरवीर पुरुषों को भी सेना में सम्मिलित नहीं किया जाता था। सैनिकों का शरीर हल्का, सुडौल तथा प्रायः लम्बा होता था। शरीर का एक-एक अंग सबल होता था तथा सभी सैनिक निरोग व स्वस्थ होते थे। सबके पास कवच, सभी प्रकार के शस्त्रास्त्र व आवश्यक सामग्री बहुतायत में रहती थी। सभी सैनिक शस्त्रास्त्र-प्रयोग विद्या में प्रवीण होते थे। रथियों एवं महारथियों की भी परीक्षा करके ही सेना में भर्ती किया जाता था। ऐसा नहीं था कि किसी भी सैनिक को थोड़ा वेतन दिया जाए अथवा दिया ही न जाए।

एक युद्ध कुशल व श्रेष्ठ महारथी में निम्न लक्षण हुआ करते थे—तीर्थों आदि के विशाल शरीर को भेदने की कला, शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलाना, दूर का लक्ष्य वेधना, सुन्दर रीति से युद्ध करना, दिव्यास्त्रों का प्रयोग, शारीरिक बल, शौर्य, अस्त्र, विज्ञान, पराक्रम तथा शत्रु पर विजय पाने के उपाय ढूंढ निकालना आदि।[3]

सारथि शस्त्र विद्या का निश्चित ज्ञान रखने वाले, कुलीन, तथा घोड़ों की नस्ल पहिचानने वाले, कवच धारी व शूरवीर होते थे। वे रथ हांकने की कला में इतने प्रवीण होते थे कि अपनी सामर्थ्य एवं शीघ्रकारिता के कारण रथ के नाना प्रकार के मण्डल, आगे बढ़ने और पीछे हटने आदि के पैंतरे दिखाते थे।

सेना में सामान ढोने वाली 'गाड़ी', बाजार, डेरे, तम्बू, रथ आदि सवारी, कोष, यन्त्र चालित अस्त्र और चिकित्साकुशल वैद्य भी साथ चलते थे। युद्ध के समय सारहीन, कृशकाय व दुर्बल सैनिकों को साथ नहीं ले जाते थे। पड़ाव की खाई, परकोटा व पहरेदारों के द्वारा रक्षा की जाती थी।[4] शिविर बनाने से पूर्व भूमि नापी जाती थी।

1. वन पर्व-15।21,22
2. उद्योग पर्व-155।11
3. उद्योग पर्व-152वां अध्याय
4. उद्योग पर्व-151वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

महाभारत के युद्ध में आए हुए सभी राजाओं के लिए दुर्धर्ष व बहुमूल्य शिविर तैयार किए गए थे। सभी शिविरों में लकड़ी, भक्ष्य भोज्य अन्न, एवं पानी सामग्री का संग्रह किया गया था। सैंकड़ों विद्वान् शिल्पी (इन्जीनियर) तथा शास्त्र विशारद वैद्य वेतन देकर रखे जाते थे जो समस्त आवश्यक उपकरणों के साथ वहां रहते थे। प्रत्येक शिविर में प्रत्यंचा, धनुष, कवच, अस्त्र-शस्त्र, मधु, घी तथा राल के चूरा के पहाड़ों जैसे ढेर लगे हुए थे।[1] प्रत्येक शिविर में प्रचुर जल, सुन्दर घास, भूसी, और अग्नि का संग्रह था। बड़े-बड़े यन्त्र, नाराच, तोमर, फरसे, धनुष, कवच, ऋष्टि, व तरकस भी थे। अनेक विशालकाय हाथी थे, जो कांटेदार साज-सामान लोहे का कवच तथा लोहे की झूल धारण किए थे। शिविरों में पर्याप्त अन्न, जल व काष्ठ की सुविधानुसार प्राप्ति होती थी व शत्रुओं से सुरक्षित होते थे। खाद्य सामग्री के लिए गुप्त मार्ग तैयार किए जाते थे, जिससे शत्रु लोग उसे नष्ट न कर दें। शिविरों के चारों ओर किलेबन्दी होती थी।[2] मरम्मत के लिए रथ के नीचे काष्ठ बंधा रहता था। रथ का ढक्कन बाघ आदि के चर्म से बना होता था। ऐसे बड़े तरकस भी होते थे जिन्हें हाथी-घोड़े ही ढो सकें। पैदलों द्वारा ले जाए जाने वाले छोटे तरकस भी होते थे। वाणों से भरा एक रथ भी महारथी के रथ के साथ चलता था।[3]

महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस काल में आज के परमाणु अस्त्र जैसे भयंकर अस्त्र भी थे जो समस्त विश्व का संहार कर सकते थे। अश्वत्थामा ने नारायणास्त्र का प्रयोग किया था, जिससे आकाश में हजारों-लाखों वाण प्रकट हुए। जैसे दो ही घड़ी में सूर्य की किरणें सम्पूर्ण जगत में फैल जाती हैं, उसी प्रकार उस महा समर में वे बाण सम्पूर्ण दिशाओं, आकाश व समस्त सेना पर फैल गए। ग्रह नक्षत्रों के समान प्रकाशित होने वाले अनेक ज्योतिर्मय जलते हुए लोहे के गोले भी प्रकट होकर गिरने लगे।[4] इसी प्रकार द्रोण ने अर्जुन को जो 'ब्रह्मशिर अस्त्र' दिया था, उसमें समस्त पृथ्वी को भष्म कर देने की शक्ति थी, उन्हें यह महती तपस्या के फलस्वरूप प्राप्त हुआ था। उन्हें इसे देते समय अर्जुन से कहा—'मेरे गुरु ने जो कहा था, उसी नियम का तुम पालन करना।' उन्होंने कहा था—'यह अस्त्र मनुष्यों पर न चलाना। मनुष्येत्तर प्राणियों में भी जो अल्पवीर्य हों, उन पर भी अस्त्र को मत छोड़ना।[5]

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक दिव्यास्त्रों का प्रयोग भी किया जाता था।

---

1. उद्योग पर्व-152वां अध्याय
2. उद्योग पर्व-152वां अध्याय
3. उद्योग पर्व-155वां अध्याय
4. द्रोण पर्व-199वां अध्याय
5. उद्योग पर्व-155वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

(जिनका अस्तित्व महाभारत में जनसंहार के पश्चात् नहीं रहा, जिस प्रकार कि, तृतीय विश्व युद्ध के परिणाम की कल्पना की जाने लगी है)—वे दिव्यास्त्र थे—ब्रह्मास्त्र अग्न्यस्त्र, ऐन्द्रास्त्र, वारूणास्त्र, वायव्यास्त्र, पाशुपतास्त्र, प्रमोहनास्त्र (जिससे समस्त सेना मूर्छित हो जाती थी) तथा 'प्रशास्त्र' (जो उन मूर्छित व्यक्तियों को चैतन्य करता था) आदि।

महाभारत काल में, युद्ध में इच्छानुसार चलने वाले, विमान का प्रयोग किया जाता था। शाल्व ने ऐसे ही एक सौम नामक विमान में बैठकर यादवों से युद्ध किया था।[1] जब किसी नगर पर आक्रमण किया जाता था तो उसकी सुरक्षा के लिए पर्याप्त प्रबन्ध किया जाता था। नगर में सैनिकों की रक्षा के लिए बुर्ज बनाए जाते थे, उन बुर्जों में युद्धोपयोगी यन्त्र बैठाए जाते थे तथा सुरंगों द्वारा नए-नए मार्ग तैयार किए जाते थे। सड़कों पर लोहे के विषाक्त कांटे अदृश्य रूप से बिछाए जाते थे। शत्रुओं के द्वारा चलाए गए जलते गोले तथा प्रज्ज्वलित लौहास्त्र विफल करके नीचे गिराने वाली शक्तियां होती थीं। शत्रु के द्वारा आक्रमण किए जाने पर नगर में मद्य निषेध कर दिया जाता था। पुलों को तोड़कर, नौकाओं को बन्द करके तथा नगर के चारों ओर की खाइयों में कांटे बिछाकर शत्रु का मार्ग बन्द कर दिया था। नगर के चारों ओर बड़ी दूर तक कुओं को जल शून्य तथा भूमि को लौह कण्टक युक्त कर दिया जाता था। राजमुद्रा के बिना न कोई बाहर जा सकता था और न कोई अन्दर जा सकता था। युद्ध के उपस्थित होने पर, सैनिकों को नये वस्त्र व अस्त्र शस्त्र दिए जाते थे।[2]

युद्ध कला—प्राचीन भारतीय, सेनाओं की अनेक प्रकार की व्यूह रचना करना जानते थे। महाभारत में अनेक प्रकार के व्यूहों की रचना की गई थी। यथा गरुण व्यूह, अर्ध चन्द्राकार व्यूह, व्याल व्यूह, मकर व्यूह, श्येन व्यूह, सचीमुख व्यूह, वज्र व्यूह, शृंगालक व्यूह, महा व्यूह आदि। बाणों के भी अनेक प्रकार देखने को मिलते हैं, जिनमें से कुछ नाम इस प्रकार हैं—'नाराच, क्षुरप्र, पंखयुक्त क्षुरप्र, फल, आन्जलिक आदि।

उस काल में चार प्रकार के अस्त्र होते थे। मुक्त, अमुक्त, यन्त्रमुक्त, तथा मुक्ता-मुक्त। भीष्म, द्रोण, अर्जुन आदि प्रमुख वीर इन चारों प्रकार के अस्त्रों के प्रयोग में कुशल थे। युद्ध में सफलता प्राप्त करने के लिए चार प्रकार के उपायों की मान्यता उस काल में थी (1) राग (सैनिकों की राजभक्ति) (2) योग, (साधन सम्पत्ति अस्त्र अस्त्र आदि) (3) दक्षता, व (4) शुद्ध नीति।[4] धनुर्वेद भी अपनी चरमोन्नति पर था। बाणों की

1. वन पर्व-15वां अध्याय
2. वन पर्व-15वां अध्याय
3. कर्ण पर्व-2।16
4. कर्ण पर्व-10।12

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दस प्रकार की गतियों का अभ्यास किया जाता था—वे इस प्रकार थीं (1) उन्मुखी, (2) अभिमुखी, (3) तिर्यक्, (4) मन्दा, (5) गोमुत्रिका, (6) घुरा, (7) स्खलिता, (8) यमका-क्रान्ता, (9) क्रुष्टा, (10) अतिक्रुष्टा।[1]

महाभारत काल के योद्धा मल्लयुद्ध में भी अत्यन्त कुशल होते थे। उन्हें आघात, निग्रह, प्रग्रह, पादवन्ध, उदरवन्ध, उद्भ्रमण, गत-प्रत्यागत, आक्षेम, पातन, उत्थान, संप्लुत आदि अनेक दावों का प्रशिक्षण दिया जाता था। तलवार के भी अनेक प्रकार के पैंतरों का प्रशिक्षण दिया जाता था। भ्रान्त, उद्भ्रान्त, आवद्ध, आप्लुत, प्रसृत, सृत, परिवृत, निवृत, सम्पात, समुदीर्ण, भारत, कौशिक तथा सात्वत आदि।

योद्धा लोग युद्ध की कला में अत्यन्त निपुण होते थे। उनमें स्फूर्ति भी वहुत होती थी। वे युद्ध में घूमते हुए आलातचक्र की भांति सव ओर दिखाई देते थे। भीमसेन ने खंग युद्ध के भ्रान्त, आविद्ध, उद्भ्रान्त, आप्लुत, प्रसृत, लुप्त, संपात तथा समुदीर्ण आदि वहुत से पैंतरे दिखाए थे। इससे विदित होता है कि युद्ध कला का अति उच्च प्रशिक्षण दिया जाता था।[2] सैनिक युद्ध विद्या में अत्यन्त कुशल होते थे।

धर्म युद्ध के नियम—धर्म युद्ध के अनेक नियम थे जिनका अधिकांशतः पालन किया जाता था। रथी-रथियों के साथ, महारथी महारथियों के साथ, अश्वारोही अश्वारोही के साथ एवं पदाति पदाति के साथ युद्ध करे।[3] यह भी नियम था कि दोनों योद्धाओं के शस्त्र एक से हों। दुर्योधन ने गदा युद्ध के समय कहा था कि मुझ पर रथ से आक्रमण न करो, गदा से युद्ध करो। अनेकों बाण लम्बाई में बहुत छोटे, लगभग एक बित्ता भर होते थे, शत्रु के अति निकट आ जाने पर इनका उपयोग किया जाता था।[4] यह नियम था कि धर्म युद्ध में अत्यन्त छोटे, जो शरीर में ही समा जाएं, निकाले न जा सकें तथा विषदग्ध वाणों का प्रयोग न किया जाए। कर्णी बाण जिनमें दो उलटे सिरे रहते थे, व खिचते समय शरीर के घाव और बढ़ाते थे, अतः धर्म युद्ध में इनका प्रयोग प्रशस्त नहीं माना जाता था।[5] यदि शत्रु का शस्त्र भंग हो जाए, प्रत्यन्चा टूट जाए, कवच निकल जाए, या वाहन मर जाए तो उस पर प्रहार नहीं करना चाहिए।[6] यदि प्रतिपक्षी दुःखाकुल, भयभीत या भागता हुआ हो तो उस पर भी प्रहार नहीं करना चाहिए।[7] घायल शत्रु को अपने राष्ट्र में रखकर औषध देना चाहिए। राजा के लिए

1. कर्ण पर्व-20।12
2. भीष्म पर्व-54वां अध्याय
3. शान्ति पर्व-95।10
4. शल्य पर्व-32।27-29
5. भीष्म पर्व-95।11
6. शान्ति पर्व-65।13, भीष्म पर्व-1।31
7. शान्ति पर्व-100।27,28

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

धर्मादेश था कि वह इन नियमों का कभी त्याग न करे।[1] धर्म युद्ध का यह भी नियम था कि जो सोया हो, तृषित हो, थका हो, पानी पी रहा हो, खा रहा हो, उस पर प्रहार न करे।[2] जो केवल वाग्युद्ध करे उससे केवल वाग्युद्ध ही करे। प्रहार करते समय शत्रु को सावधान करके प्रहार करे। जो दूसरे के साथ युद्ध कर रहा हो अथवा शरणागत हो, उसके साथ युद्ध न करे। एक के साथ अनेक वीरों का युद्ध धर्मविरुद्ध है। सूत, वाहन शस्त्र-वाहक अथवा रण वादक पर प्रहार नहीं करना चाहिए।[3] 'यह छोड़ा मैंने बाण, अब तुम छोड़ो' इस प्रकार अवधान वचन कहकर युद्ध करना चाहिए।[4] धर्मयुद्ध करने वाले के साथ धर्मयुद्ध एवं कूट युद्ध करने का धर्मानुसाशन था।[5] दुर्बल पर बलवान प्रहार नहीं करे।[6] ब्रह्मास्त्र को न जानने वाले व्यक्ति पर ब्रह्मास्त्र नहीं छोड़ना चाहिए। धर्म शास्त्र का वचन है कि पाप युद्ध में हुई विजय की अपेक्षा धर्मयुद्ध में हुई पराजय या मृत्यु भी श्रेष्ठ है। जो इन नियमों का उल्लंघन करके युद्ध करता है वह आत्महनन करता है।[7] धर्म युद्ध के अनुसार स्त्री, बालक व वृद्ध का युद्ध में कभी वध नहीं करना चाहिए।[8] जो सबके सामने यह कहे कि 'मैं तुम्हारा दास हूं' उसका वध नहीं किया जाना चाहिए। जो एक मात्र सन्तान का पिता या अपुत्रक हो उसे नहीं मारना चाहिए। पीठ पीछे से आक्रमण करके वध करना उचित नहीं है। जो दांतों में तिनका दबाकर विनीत भाव से क्षमा मांगे उसका वध नहीं किया जाना चाहिए।[9] इसके साथ-साथ यह भी नियम था कि 'यदि दोनों ओर की सेनाओं के भिड़ जाने पर बीच में सन्धि कराने की इच्छा से कोई ब्राह्मण आ जाए तो दोनों पक्ष वाले तत्काल युद्ध बन्द कर देते थे। युद्ध समान या प्रतिष्ठा वाले के साथ अथवा समान बलशाली के साथ ही करने का नियम था। जब दुर्योधन भीम पुत्र घटोत्कच से पराजित होकर, घबड़ाकर पितामह के समीप पहुंचा तब उन्होंने कहा—'राजधर्म के अनुसार' राजा राजा से युद्ध करते थे; इस नियम के अनुसार तुम सदैव अपनी रक्षा करो। तुम्हें सदा धर्मराज युधिष्ठिर से ही संग्राम करना चाहिए। भीमसेन, अर्जुन, नकुल व सहदेव से भी तुम युद्ध कर सकते हो।

---

1. शान्ति पर्व-95।13
2. भीष्म पर्व-1।30
3. भीष्म पर्व-1।26-32
4. भीष्म पर्व-1।30
5. शान्ति पर्व-95।9
6. शान्ति पर्व-95।12
7. भीष्म पर्व-95।15,16
8. वन पर्व-19।13,14, कर्ण पर्व-65।65।25,26
9. वन पर्व-271।11, भीष्म०-107।77-79

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

षष्ठ अध्याय

व्यापार एवं उद्योग धन्धे

भूमिका—महाभारत कालीन आर्थिक विकास जानने के लिये ऋग्वैदिक काल से प्रारम्भ करके महाभारत काल पर्यन्त भारत में आर्थिक विकास की क्या स्थिति रही, यह जानना भी आवश्यक है। महाभारत से पूर्व काल की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिये वेद, वेदांग, आरण्यक, ब्राह्मण, उपनिषद् मनुस्मृति तथा रामायण आदि आधार हैं। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से विदित होता है कि उस समय समाज पर्याप्त रूप से विकसित हो चुका था। उसका आर्थिक जीवन उत्तम प्रकार से व्यवस्थित व संचालित किया गया था जैसा कि किसी भी सभ्य व प्रगतिशील समाज में पाया जाता है। मानव जीवन का ध्येय वर्ग चतुष्ट्य था। आर्थिक विकास मात्र ही सब कुछ नहीं था उसमें धर्म का सर्वप्रथम स्थान था।

आध्यात्मिकता के मार्ग में प्रवृत्त होने की तैयारी करना व उसी को जीवन का आधार बनाना, धर्म था। इसी के आधार पर आर्थिक विकास किया जाता था। कृषि, वाणिज्य, व्यापार आदि द्वारा द्रव्योपार्जन कर ऐहिक उन्नति करना ही अर्थ का तात्पर्य था। वैश्य वर्ग आर्थिक विकास से सम्बन्धित था, क्योंकि वेदाध्ययन के अतिरिक्त उसका मुख्य कर्त्तव्य कृषि, वाणिज्य आदि द्वारा आर्थिक विकास में अग्रसर होना था। आर्थिक विकास का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व वैश्यों पर था। आश्रम व्यवस्था में गृहस्थाश्रम को आर्थिक विकास से सम्वन्धित कर सकते हैं। केवल गृहस्थाश्रम पर दो प्रकार की जिम्मेदारियां रहती थी—1. आर्थिक, 2. आध्यात्मिक।

मानव जीवन के सच्चे उद्देश्य को ध्यान में रखकर आर्थिक उन्नति करनी पड़ती थी। आर्थिक विकास का उद्देश्य समाज को उन्नत बनाना था। समाज का आर्थिक जीवन अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर स्थित था। उपभोग, उत्पादन, आदान, प्रदान आदि के बहुत से साधन वर्तमान थे। श्रम विभाग के सिद्धान्त पर समाज के चार भाग किये गये थे।[1]

1. ऋग्वेद-10।90।11,12

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वेद कालीन समाज ने यह भली-भांति समझ लिया था कि संसार की अनेक सम्पत्तियों की निधि पृथ्वी है। इसी तात्पर्य से पृथ्वी का नाम 'वसुधा' या 'वसुन्धरा, रखा गया था, जिसका अर्थ है 'धन को धारण करने वाली।' वैज्ञानिक दृष्टि से भी पृथ्वी माता की कृपा से अन्न, वस्त्र, जल आदि प्राप्त होते हैं। उसी के गर्भ से सोना, चांदी, तांबा, लोहा, कोयला आदि प्राप्त होते हैं। पृथ्वी की स्तुति में कितने ही मन्त्र ऋग्वेद[1] में प्राप्त होते हैं।

वेदकाल—वैदिक काल में ग्राम-सभ्यता एवं नगर सभ्यता दोनों विकसित हो चुकी थीं। ऋग्वेद में ही उनका विस्तृत वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में व अथर्ववेद में स्थान-स्थान पर ग्रामों का उल्लेख है।[2] अनेक गोत्रों को मिलाकर ग्राम व अनेक कुलों को मिलाकर गौत्र वनते थे। आर्य लोग पशुपालन करते थे। अनेक कुटुम्बों की गायें एक स्थान पर एकत्रित की जाती थीं। इनको गोत्र या गोष्ठ कहते थे।[3] गायों के बछड़े घर में रहते थे क्योंकि घर में वालकों व बछड़ों के खेल-कूद का उल्लेख मिलता है[4] भूमि का बटवारा किया हुआ था। भिन्न-भिन्न प्रकार के क्षेत्र उनके वैयक्तिक अधिकार में रहते थे।[5]

वैदिक काल में क्षेत्रों को ध्यानपूर्वक नापा भी जाता था।[6] व्यक्तिगत क्षेत्र का एक देवता होता था, जिसे क्षेत्रपति कहा जाता था। क्षेत्र जोतने से पूर्व क्षेत्र पति का पूजन किया जाता था। गोप प्रातःकाल पशुओं को चराने के लिए चरागाह ले जाता था।[7] गायों का साधारणतः तीन बार दोहन किया जाता था प्रातः मध्यान्ह व सायम्।[8] आर्थिक जीवन स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर आधारित था। भेड़ के ऊन को कातकर कपड़ा तैयार किया जाता था।[9] कृषि, वाणिज्य आदि वैश्य का स्वाभाविक कर्म माना जाता था।[10] भारत के व्यापारिक व व्यावसायिक इतिहास का प्रारम्भ वैदिक काल से ही होता है। वैदिक साहित्य में केवल ग्राम ही ग्राम नहीं अपितु पुरों का उल्लेख भी

---

1. ऋग्वेद-5।32।10, 5।42।13, 10।4।3
2. ऋग्वेद-1।44, 10, 1।141।1, 1।149।4, अथर्ववेद-12।1।56
3. ऋग्वेद-1।101।4
4. ऋग्वेद-7।56।16
5. ऋग्वेद-3।11।15, 10।33।6
6. ऋग्वेद-1।110।5
7. ऋग्वेद-1।25।16, 2।23।6, 10।97।8
8. तैत्तरीय संहिता-7।5।3।1 तैत्र० ब्राह्मण 1।4।9।2
9. ऋग्वेद-10।26।6,
10. मनुस्मृति-1।90

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मिलता है।[1] पुर का दो अर्थों में प्रयोग किया गया है। (1) नगर, व(2) नगर-कोट। वैदिक साहित्य में अयोध्या नगर का भी उल्लेख है।[2] अयोध्या नगरी के वर्णन से वहां के आध्यात्मिक विकास, आर्थिक समृद्धि, नगर रक्षा की सुन्दर व्यवस्था आदि का बोध होता है। इस उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल में, बड़े-बड़े समृद्धशाली नगर वर्तमान थे। नगर राजनैतिक केन्द्र होते थे, वहां सभा व समिति रहती थी। वे नगर धर्माभिषिक्त राजाओं द्वारा शासित होते थे। प्रथा का योग क्षेम वहन करना ही उन धार्मिक राजाओं का एकमात्र उद्देश्य रहता था। वैदिक काल के नगरों में धर्म, अध्यातम-वाद, साहित्य व कला का विकास होता था। नगर वाणिज्य, व्यवसाय, उद्योग धन्धे आदि के केन्द्र होते थे। वैदिक साहित्य में विभिन्न उद्योग धन्धों का उल्लेख मिलता है। कपड़ा बुनने वाले को 'वाय'[3] कहते थे। पूषा कपड़ा बुनने वाले का रूपक दिया है।[4] यजुर्वेद[5] ने तो इन सब उद्योग धन्धों को करने वालों के नाम भी दिये हैं। यथा--रथकार तक्षा, कौलाल, कर्मार, मणिकार, हिरण्यकार, इषुकार, धनुष्कार, रज्जु सर्ज हस्तिप, अश्वप: सुराकार, वणिक् आदि। उस काल में ग्राम आपस में सड़कों द्वारा सम्बद्ध थे।[6] ये सड़कें बड़ी-वड़ी थी। बड़े-बड़े शकटों व अश्वों से युक्त बड़े-बड़े रथों का उपयोग किया जाता था। सड़क को उस काल में 'रथ्या' कहते थे। ग्राम रथ्या द्वारा नगरों से सम्बन्धित रहते थे। वैदिक काल के नगर वैदेशिक व्यापार के भी केन्द्र थे।[7]

आर्थिक विकास के मुख्य अंग कृषि, गौपालन, वाणिज्य, व्यवसाय, उद्योग धन्धे आदि थे। खेत जोतने का, हल चलाने का, व फसलों से हरे-भरे खेतों को उल्लेख है।[8] यत्र-तत्र वर्षा से सम्बन्धित देवता इन्द्र की स्तुति की गई है।[9]

ऋग्वेद में 'इन्द्र वृत्त युत्त' में समझाया गया है कि कृषि प्रधान भारत में वृष्टि की कितनी आवश्यकता रहती थी तथा अनावृष्टि से कितनी हानि होती थी।[10] कहीं-कहीं कृषि सम्बन्धी यन्त्रों (औजारों) का भी निर्देश किया गया है। स्तेग, फल, लांगल,

---

1. ऋग्वेद-1।53।7, 1।54।8, 1।131।4
2. अथर्ववेद-10।2।21-32 'दवानांपूरवो:ध्या'।
3. ऋग्वेद-2।3।6
4. ऋग्वेद-10।26।6
5. यजुर्वेद-30।6, 7, 11, 17, 20
6. मैक्डोनल व कीथ-"वैदिक इन्डेक्स", भाग 1, पृ० 221
7. वही
8. वसु-'इन्डो आर्यन् पालिटी' पृ 77-81
9. ऋग्वेद-13 ', 2, 12
10. मैक्डोनैल 'हीन्स फ्राम दी ऋग्वेद', पृ० 43-47

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सीता, सीर, अग्र आदि।[1] अथर्व वेद में पृथी (पृथु) वैन्य ने सर्वप्रथम कृषि कर्म द्वारा फसल पैदा की।[2] इस प्रकार मानव जाति के लिये कृषि का मार्ग प्रशस्त किया। हल में साधारणतया दो बैल प्रयुक्त किये जाते थे। कभी-कभी अधिक बैल भी प्रयुक्त किये जाते थे। कहीं-कहीं चौबीस बैलों को जोते जाने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[3] अश्विनी कुमार ने मनु को बीज बोने की कला, आर्यों को हल की सहायता से खेती करना सिखाया।[4] हल को सीर व लांगल कहा जाता था। हल चलाने वाले को 'कीनाश' व कूड़ को 'सीता' कहते थे। ऋग्वेद में एक और स्थल पर कृषि कार्य का उल्लेख है। 'हलों से बैल जोतो, अब हल से भूमि तैयार की गई है, उसमें बीजारोपण करो। हमारी स्तुति के कारण पर्याप्त अन्न होवे। अनाज की फसल अच्छी प्रकार पके।'[5] वैदिक काल में क्षेत्रों की सिचाई की जाती थी, फसल को चुगने वाले पक्षी उड़ाये जाते थे।[6] वैदिक युग में कृत्रिम नहरों द्वारा सिंचाई की जाती थी।[7] वर्ण व्यवस्था के क्रमानुसार पशु इस प्रकार पाले जाते थे। ब्राह्मण—अजा, क्षत्रिय, भेड़, वैश्य-गाय, एवं शूद्र-घोड़ा। आर्य लोग प्रार्थना करते थे कि "हमारे द्विपद (मनुष्य) व चतुष्पद (पशु) सब रोग रहित रहे।'[8]

वैदिक काल में भी वाणिज्य व्यापार आदि होते थे। यजुर्वेद में वणिक् को तुला से सम्बन्धित किया गया है।[9] इसमें सन्देह नहीं कि भारत के व्यापारिक व व्यावसायिक इतिहास का प्रारम्भ वैदिक युग से ही होता है। ऋग्वेद[10] में सिन्धु नदी की आर्थिक समृद्धि का सुन्दर चित्रण किया गया है। 'सिन्धु नदी अश्व, रथ, वस्त्र, स्वर्ण के आभूषण, अन्न, ऊन आदि से परिपूर्ण रहती है तथा मधुयुक्त पुष्पों को धारण करती है।' इस वर्णन से सिद्ध होता है कि सिन्धु नदी के प्रदेश में, उत्तम घोड़े. पशु रथ आदि थे। वैदिक काल में व्यापार के दो प्रकार थे—(1) आन्तरिक व्यापार,[11] (2) वाह्य व्यापार।[12] वैदिक काल में दोनों प्रकार का व्यापार विकसित अवस्था में था। माल

1. वसु-'इन्डो आर्यन् पालिटी' पृ० 86
2. अथर्व वेद-8।10 (4) 11, 12
3. काठक संहिता-25।2, ऋग्वेद 1।112।16
4. ऋग्वेद-1।117।21
5. ऋग्वेद-10।101।3
6. ऋग्वेद-10।68।1
7. मैक्डोनल व कीथ—'वैदिक इन्डेक्स', भाग 1, पृ० 214
8. ऋग्वेद-10।97।20
9. यजुर्वेद-30।17 'तुलाये वाणिजम्'।
10. ऋग्वेद-10।75।8
11. ऋग्वेद-8।46।28
12. ऋग्वेद-8।56।3

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ढोने के लिये बैल[1], कुत्ता[2], गधा[3], महिष[4], घोड़ा-ऊंट आदि का प्रयोग किया जाता था। वैदिक काल में बाजार व दुकानें भी थीं। अथर्ववेद में इसकी चर्चा मिलती है। क्रय विक्रय किये जाने का भी अनेक स्थलों पर उल्लेख किया गया है।[5] इन सब बातों से हमें प्राचीन भारत के आन्तरिक व्यापार की उन्नत अवस्था का पता चलता है।

आन्तरिक व्यापार की भांति बाह्य व्यापार भी उन्नत अवस्था में था। ऋग्वेद में, समुद्र में चलने वाली नावों का उल्लेख कितने ही स्थलों पर आता है।[6] एक स्थान पर सौ मस्तूल वाले जहाज का उल्लेख आता है।[7] धन प्राप्त करने के इच्छुक अपने जहाजों को समुद्र में भेजते थे।[8] बहुत से व्यापारी जहाजों में एक साथ समुद्र यात्रा करते थे।[9] ऋग्वेद कालीन आर्य समुद्र से पूर्णतया परिचित थे व उनके व्यापारी विदेशों से व्यापार करने के लिए समुद्र यात्रा करते थे। ऋग्वेद में चार समुद्रों का उल्लेख है।[10]

ऋग्वेद काल में विनिमय का साधन गाय थी। साथ ही सोने व चांदी के सिक्के[11] भी चलते थे। निष्क[12] भी प्रयोग में लाये जाते थे। ऋग्वेद में कितने ही स्थानों पर चरखा द्वारा सूत कातना व कपड़ा बुनने का उल्लेख किया गया है।[13] उस काल में रथ आभूषण व हथियारों का निर्माण विपुल मात्रा में किया जाता था। तक्ष का उद्योग-धन्धा बहुत विकसित था। उस काल का तक्ष कला पूर्ण कार्य के सम्पादन में भी सिद्ध-हस्त होता था।[14] अयस् को मिट्टी में गलाकर घरेलू आवश्यकता के बर्तन आदि बनाये जाते थे। 'अयस्' को सम्भवतः लोहा, कांसा या तांबे से सम्बन्धित किया जा सकता

---

1. ऋग्वेद-8।46।3
2. ऋग्वेद-8।46।30
3. ऋग्वेद-8।46।28
4. ऋग्वेद-8।12।8, 9।33।1
5. अथर्व वेद-3।15।5 'येन धनेन प्रपणं करामि।'
6. ऋग्वेद-1।25।7 'वेद नावः समुद्रियः' 1।48।3, 1।56।2
7. ऋग्वेद-1।116।5
8. ऋग्वेद-1।48।3
9. ऋग्वेद-1।56।2
10. ऋग्वेद-9।33।6, 10।47।2
11. एस. सी. दास,'ऋग्वेदिक कल्चर', पृष्ठ-140
12. ऋग्वेद-1।126।2, अथर्व वेद-22।127।3, शतपथ ब्राह्मण 11।4।1।1, 8 गौपथ ब्राह्मण-1।3।6, 'वैदिक इन्डेक्स' ख, 1, 454-455
13. 'वैदिक एज' (भारतीय विद्या भवन) पृ० 461
14. ऋग्वेद-1।161।9, 3।60।2, 10।86।5

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है।[1] चमड़े को कमाने व उससे विभिन्न वस्तुओं का उद्योग भी विकसित हुआ था[2] इस प्रकार महाभारत से पूर्व की आर्थिक स्थिति भी अत्यधिक समुन्नत व सुसंगठित थी। अर्थ व धर्म एवं प्रवृत्ति व निवृत्ति में सामंजस्य स्थापित किया गया था। जीवन के चार महान् उद्देश्यों में 'अर्थ भी एक था। यहां स्मरण रखना चाहिए कि उस काल में अर्थ ही सब कुछ नहीं था। अर्थ का विकास धर्म की भूमिका पर किया जाता था। आर्यों को जीवन के प्रति धार्मिक एवं दार्शनिक वृत्ति रहने के कारण उन्होंने अपने आर्थिक विकास पर धर्म का नियन्त्रण रखा था, जिसके कारण स्वार्थ, अहंकार, ईर्ष्या द्वेष आदि पनपने नहीं पाते थे। परिणामतः आर्थिक विषमताओं के कारण आपत्ति व संकट का सामना नहीं करना पड़ता था। आर्थिक विकास भी मानव को जीवन के अन्तिम ध्येय मोक्ष की ओर ले जाता था।

महाभारत काल—महाभारत काल में आर्थिक व्यवस्था थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ वही चल रही थी जो वैदिक काल में एवं मनु व रामायण काल में थी। उस काल की जीविका व्यवस्था, व्यापार, एवं उद्योग-धन्धों का ज्ञान महाभारत ग्रन्थ के आधार पर ही किया जा सकता है। महाभारत काल तक व्यापार व उद्योग-धन्धे कुछ और अधिक विकसित हो गये किन्तु वे वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर ही चल रहे थे। यह वैदिक काल के उद्योग धन्धों पर प्रकाश डालते समय ही कहा जा चुका है कि जीविका व्यवस्था आदि आर्थिक विकास धर्म की मूल पर आधारित थे।' और महाभारत काल तक कोई धार्मिक क्रान्ति हुई नहीं थी जो इन सिद्धान्तों को पलट देती। अतः महाभारत काल में भी जीविका व्यवस्था ऋग्वेद के श्रम विभाजन के सिद्धान्त पर ही चल रही थी। जिसका आधार पुरुष-सूक्त का वर्ण-विभाजन था। सम्भवतः इसी कारण महाभारत कार ने भी जीविका व्यवस्था को वेदों की भांति 'अपौरुषेय' ही माना है, मनुष्य कृत नहीं।[3] इसका यह तात्पर्य है कि मनुष्यकृत सिद्धान्त व नियम व सिद्धान्त तो परिवर्तित हुआ करते हैं किन्तु प्रजापति या उसकी प्रकृति के सिद्धान्त सदैव स्थिर रहते हैं। अतः यह जीविका व्यवस्था भी 'अपौरुषेय' होने के कारण अपरिवर्तनशील या स्थायी है। वर्ण भेद में पृथक्-पृथक् कर्म की व्यवस्था होने से समाज में जीविका की कोई समस्या नहीं दिखाई देती। 'एक वर्ण के सामाजिक अधिकारों में दूसरे का प्रवेश बिल्कुल निषिद्ध था। बहुत ही आवश्यक हो जाने पर, आपत्ति काल में प्राण बचाने के निमित्त यद्यपि थोड़े बहुत व्यतिक्रम का अनुमोदन किया गया, पर वह भी बहुत ही सावधानी पूर्वक।[4] चारों वर्णों को 'पुरुष' (ब्रह्म) के शरीर के चार अंग मानकर

1. 'वैदिक एज' (भारतीय विद्या भवन) पृ० 397
2. ऋग्वेद-8।5।38
3. अनु० पर्व-73।11
4. सुखमय भट्टाचार्य, 'महाभारतकालीन समाज, पृ० 147

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

परस्पर एक दूसरे का अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित किया गया है। किसी की भी उपेक्षा करने से समाज नहीं चल सकता। प्रत्येक का लक्ष्य समाज रूपी शरीर की परिपुष्टि करना है। निष्ठा सहित अपने-अपने कार्य द्वारा समाज का कल्याण करना ही वृत्ति-व्यवस्था का उद्देश्य था। इससे समाज के गठन में सामंजस्य बना रहता है। वृत्ति का नियम न हो तो काम को लेकर आपस में संघर्ष होने से विद्रोह की आशंका रहती है। किसी का कोई अनिष्ट किये बिना अपने परिवार का पालन करने वाली व्यवस्था को महाभारत में श्रेष्ठ धर्म माना है।[1] किसी का अहित किये बिना शान्त भाव से कार्य किये जाना ही वृत्ति नियन्त्रण का श्रेष्ठ आदर्श।

मनुष्य का धर्म था कि वह अपने पूर्वजों से, जो कर्म उसे उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ हो उसका परित्याग न करे।[2] अपने परम्परागत कर्मों के करने से यदि मृत्यु हो जाय तो श्रेयस्कर है किन्तु अन्य के परम्परागत कार्य को करना भयावह है।[3] अतः मनुष्य को अपने कुलोचित कर्म का पालन करना उसका धर्म था।[4] गीता में अनेक वार वही कहा गया है कि अपना धर्म सदोष हो तो भी त्याग योग्य नहीं है तथा अन्य का धर्म भली भांति पालन किया जाय तो भी ठीक नहीं।[5] वन पर्व के द्विज-व्याज-सम्वाद व शान्ति पर्व के तुलाधार जाजलि सम्वाद से पता लगता है कि परम्परागत सामाजिक अधिकारों का व्यतिक्रम करना उस युग में युक्तिसंगत नहीं माना जाता था।

जीविका व्यवस्था के लिये तो वर्ण या जाति को जन्मगत मानना ही पड़ेगा क्योंकि वर्ण व्यवस्था का जन्म ही अर्थशास्त्र के 'कार्य विभाजन' सिद्धान्त के आधार पर हुआ है। यदि ऐसा न माना जाय तो कार्य विभाजन की व्यवस्था ही समाप्त हो जावेगी। ब्राह्मण की जीविका के तीन प्रमुख साधन थे—याजन, अध्यापन, एवं स्वधर्म निरत व्यक्ति से दान ग्रहण करना।[6] भिक्षावृत्ति भी ब्राह्मण के लिये धर्मानुकूल व श्रेष्ठ जीविका-साधन था।[7] विशेषतः ब्राह्मण को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अपनी जीविका के कारण किसी को कष्ट नहीं पहुंचे।[8] किसी अन्य की वृत्ति के साथ अपनी वृत्ति का किसी प्रकार का संघर्ष न हो। स्वल्प संतुष्टि भी ब्राह्मण की जीविका की सहायक

---

1. शान्ति पर्व-261।6
2. भीष्म पर्व-42।48 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न व्यजेत।'
3. भीष्म पर्व-37।35
4. वन पर्व-206।20
5. भीष्म पर्व 42।44, 42।47
6. वन पर्व-151।35, वन पर्व 206।25 उद्योग पर्व 29।23, अश्व०-45।21
7. उद्योग पर्व-73।47, उद्योग 132।3, शान्ति० 234 वां अध्याय अनु० 141।67-69
8. शान्ति पर्व-234।4

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

होती है।[1] ब्राह्मण को धन संचय करने का विधान नहीं था। यदि यजमान शिष्यादि से ब्राह्मण को दान में कुछ मिलता था तो उसके द्वारा दान व यज्ञ करने का विधान था। वह केवल उदरान्न के निमित्त उसका प्रयोग नहीं कर सकता था। यँज्ञ व दान के अतिरिक्त अपने आश्रितों के भरण-पोषण के अतिरिक्त कोई सामाजिक दायित्व ब्राह्मण पर नहीं था।[2] यद्यपि 'प्रतिग्रह' को ब्राह्मण की वृत्ति में स्थान मिला था तथापि वह अन्य वृत्तियों की अपेक्षा निन्दनीय माना जाता था। दान लेने से ब्राह्मण का तेज नष्ट हो जाता है अतः वह परित्याज्य समझा जाता था।[3] आयज्य याजन एवं पतित से दान लेना—दोनों ही ब्राह्मण के लिये बिल्कुल निषिद्ध थे।[4]

ब्राह्मण यदि शास्त्र-विहित जीविका द्वारा अपना व अपने आश्रितों का भरण-पोषण नहीं कर सकता था तो उसके लिये अन्य व्यवस्था भी थी। आपद्धर्मानुसार ब्राह्मण को संकट या विपत्ति की अवस्था में क्षत्रिय या वैश्य की जीविका ग्रहण करने का अधिकार था। ब्राह्मण वैश्य वृत्ति तभी अपना सकता था जब क्षत्रिय धर्म से भी उसका भरण-पोषण न हो सके।[5] जिस ब्राह्मण के परिवार में पोष्य संख्या अधिक हो, वह निरूपाय होकर, कृषि, वाणिज्य, कुसीद (ब्याज) आदि वृत्ति का आलम्बन ले सकता था। वैसे मनु के मतानुसार ब्राह्मण के लिये उच्छ या शिल वृत्ति पवित्र (पापहीन) मानी गई है। इनसे किसी का भी अनिष्ट नहीं होता। बिना मांगे जो कुछ आ जाय उसे अमृत कहते हैं। ब्राह्मण के लिये यह वृत्ति भी अत्युत्तम है। ब्राह्मण के लिये समाज में ये ही वृत्तियां गौरवान्वित समझी जाती थी। भिक्षावृति धर्मानुकूल होने पर भी ग्लानिजनक मानी जाती थी। इसलिये उसे 'मृतवृत्ति' कहते थे। आपत्काल में ग्रहण की जाने वाली कृषि वृत्ति को भी 'प्रमृत' की संज्ञा दी गई थी।[6]

महाभारत काल में भी इन वृत्तियों के प्रति समाज में यही भावना देखने में आती है। आपत्ति काल में वैश्य वृत्ति काल अवलम्बन लेने पर भी ब्राह्मण सुरा, लवण, तिल, पशु, मधु, मांस एवं अन्न का विक्रय नहीं कर सकता था।[7] ब्राह्मण चाहे कितने ही संकट में क्यों न पड़ा हो किन्तु शूद्र वृत्ति ग्रहण करने का निषेद्ध था,[8] क्योंकि इससे उसका पतन होता है। निम्न कार्य अतिशय निन्दनीय होने के कारण ब्राह्मण को प्रत्येक

---

1. वन पर्व-208।44
2. शान्ति पर्व-233।12, शान्ति पर्व-60।11
3. अनु० पर्व-35।23 प्रतिग्रहेण तेजो हि विप्राणांशामते नघ।
4. अनु० पर्व-111।46; 93।135, अनु० 94।133
5. शान्ति पर्व-78।2
6. मनु०-4।5
7. शान्ति पर्व-78।4-6
8. शान्ति पर्व-294।3

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अवस्था में वर्जित थे—चिकित्सा, पुराध्यक्षता, सामुद्रिक विद्या, पुरोहिती, (राजा की) वृषलीनारी का पतित्व स्वीकार करना एवं धनी व्यक्ति की सेवा सुश्रूषा व प्रसन्नता प्राप्ति के प्रयत्नों में लगे रहना।[1] ब्राह्मण के लिये अपनी जीविका के सम्बन्ध में संतुष्टि का होना आवश्यक माना जाता था। कष्ट साध्य वृत्ति ही ब्राह्मण का भूषण माना जाता था। राज-पुरोहित वृत्ति को इसलिये निन्दनीय माना जाता था कि एक तो वह राज सेवा में गण थी, दूसरे इस प्रकार की पराधीन वृत्ति से स्वतंत्रता या तेजस्विता की रक्षा सम्भव नहीं थीं।[2] जो ब्राह्मण किसी का दान स्वीकार नहीं करते थे, उनकी रक्षा करना राजा का धर्म था।[3]

ब्राह्मण यदि अपनी श्रेष्ठ वृत्ति से अपना भरण-पोषण नहीं कर सकता था तो राजा उसे ब्राह्मण के लिये कृपण वैश्य से धन लेकर उसकी जीविका के लिये देता था।[4]

क्षत्रिय लोग अधिकतर छोटे या बड़े राजा होते थे। महाभारत में अनेक स्थलों पर क्षत्रियों के लिये 'राज पुत्र'[5] शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः क्षत्रिय लोग यदि राजा न भी होते थे तो 'ग्राम' जनपद आदि के अधिकारी अवश्य होते थे। कुछ क्षत्रिय सेना में रहते थे। समाज सेवा क्षत्रियों का परम धर्म था। उस सेवा के फलस्वरूप तथा उसी सेवा के लिये समय लगाने के कारण क्षत्रिय प्रजाजनों से कर वसूल करते थे।[6] मृगया भी क्षत्रिय की जीविका का एक साधन था। युद्ध क्षत्रिय की वृत्ति नहीं मानी जाती थी। अवसर आने पर दीनों, निर्बलों, ब्राह्मण वैश्य व शूद्रों की दस्युओं आदि से रक्षा करने के लिये क्षत्रिय को युद्ध करना पड़ता था।[7] अनेक प्रकार से वीरता का प्रदर्शन करना भी क्षत्रिय की जीविका वृत्ति होती थी।[8] क्षत्रिय आपत्ति काल में यदि स्ववृत्ति को त्याग कर अन्य वृत्तियों का आश्रय ले ले तो आपद्धर्मानुसार धर्म ही है। प्राचीन काल में द्रविड़, आभीर पुण्ड्र व शवर क्षत्रियों ने परशुराम के भय से शूद्र वृत्ति का वरण कर लिया था।[9] वैश्य की जीविका वृत्ति कृषि, वाणिज्य व पशुपालन थी[10] किन्तु उसे तिल, गन्धद्रव्य, नमक, पका हुआ अन्न, दही, दूध, तेल घी, मांस, फल मूल,

---

1. अनु० पर्व-135।11, वन पर्व 124।9, उद्योग 38।4, अनु० 94।22
2. शांति पर्व-74।9
3. अनुशासन पर्व-35।33, अनु० 8।28
4. अनु० पर्व-70।31
5. द्रोण पर्व-98।55
6. आदि पर्व-212।6-10
7. भीष्म पर्व-122।37
8. शान्ति पर्व-130।24-26
9. अश्व० पर्व-39।16
10. भीष्म पर्व-42।44, अनु० पर्व-11।19

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शाक, लाल रंग का कपड़ा, गुड़ आदि बेचना वर्जित था।[1]

महाभारत काल में राजा का लक्ष्य रहता था कि कृषि के अर्थ जलाशय आदि खुदवाना धर्म है क्योंकि उस काल में भारत की कृषि दैव (भाग्य) के भरोसे नहीं होती थी,[2] सिंचाई का प्रबन्ध किया जाता था। राजा दरिद्र कृषकों को बीज आदि का दान देता था। सभापर्व[3] में नारद जी ने युधिष्ठिर से कुशल प्रश्न के समय अनेक प्रश्न किये थ। कर वसूल करने में साधु पुरुषों की नियुक्ति की जाती थी जो उचित कर वसूल करते थे अन्यथा दण्डित होते थे।[4] राजा को यह ध्यान रखना भी आवश्यक था कि कोई कृषक पीड़ित होकर मेरे राज्य को त्याग कर अन्य राज्य में तो नहीं जा रहा है।[5] इस प्रकार प्रजा की सेवा करने के फलस्वरूप राजा उनसे उपज का 1।6 भाग लेता था, राजा कृषकों को एक रु० प्रतिशत की दर से ऋण देता था।[6] अत्यन्त गरीब कृषकों को धन ऋण रूप में न दिया जाकर वह रुपया सदा के लिये दान रूप में ही दे दिया जाता था। कृषि कर्म बैलों द्वारा किया जाता था। गौ महिमा में इसका वर्णन है।[7] कृषि कर्म में हल का प्रयोग किया जाता था।[8] वैश्य के लिये कृषि की स्वयं देखभाल का विधान था क्योंकि बिना स्वयं की देखभाल किये खेती नष्ट हो जाती है।[9] महाभारत काल में पशुओं की चिकित्सा की जाती थी। राजाओं को हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र आदि का ज्ञान आवश्यक था। गौ विद्या का भी अध्ययन कराया जाता था।[10]

उस काल के उद्योग धन्धे में गौ का प्रमुख स्थान था। अतएव उसकी बड़ी भारी प्रशंसा की गई है। घी, दूध, दही उसी से प्राप्त होते थे। उसके पुत्र कृषि में सहायक होते थे जिससे अन्न प्राप्त होता था। उसके गोबर व मूत्र की क्षेत्रों में खाद दी जाती थी। अतः उसकी बड़ी महिमा थी।[11] गौ-वध व गौ मांस भक्षण बिल्कुल निषिद्ध था।[12] उस काल के धन में गौ-धन का भी महत्त्व था। सहदेव गौ विशेषज्ञ थे। दुर्योधन की

1. शान्ति पर्व
2. सभा पर्व 5।77 न कृषिदैवमात्रका।
3. सभा पर्व-5।78
4. शान्ति पर्व-88।26
5. शान्ति पर्व-89।24-26
6. सभा पर्व-5।78
7. अनु० पर्व-83।18 एतासां तनयाश्चापि कृषि योगमुपासते
8. वन पर्व-254।57
9. उद्योग पर्व--33।90; 38।12
10. विराट पर्व-10।11-15
11. अनु० पर्व-69।16, अनु० पर्व-146।48, अनु० 79।3, अनु० पर्व 81।35
12. अनु० पर्व-78।17, अनु०-74।4

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अहीरों की बस्तियां थी। राजा विराट का गौ-धन भी विपुल था। सहदेव का यह ज्ञान कि 'जिन बैलों के मूत्र को सूंघकर वन्ध्या गाय भी गर्भिणी हो जाय उन्हें पहचान लेना, कम न था।[1]

वाणिज्य पर वैश्य का वर्णगत अधिकार था। वाणिज्य के विषय में राजा का कर्त्तव्य था कि वह व्यापारियों की दस्युओं से रक्षा करे। राजा ऐसा विधान बनाता था कि जिससे व्यापारी को क्षति की आशंका न हो।[2] भारतीय विदेशों में व्यापार करने जाते थे एवं विदेशी लोग भारत में व्यापार करने आते थे। राजा का कर्त्तव्य था कि वह विदेशी व्यापारियों का विशेष ध्यान रखे, उनको जितनी भी सुविधाएं सुलभ हो सकें, दे। युधिष्ठिर को दिये गये नारद के उपदेश, इस विषय में स्पष्ट प्रमाण हैं। समृद्ध नगरों में व्यापार हेतु विदेशी व्यापारी आया करते थे तथा राज्यसभा में उनका आदर होता था।[1] विदेशी व्यापारियों से उनकी आय के अनुसार राज-कर भी लिया जाता था।[5] राजा क्रय-विक्रय की अवस्था को देखकर कर निर्धारण करता था।[6] राजा उस कर को उनका प्रबन्ध करने के वेतन स्वरूप लेता था।[7] महाभारत काल में भारत में सर्वत्र पण्य द्रव्य का आयात-निर्यात होता था। भीम अर्जुन आदि वीरों के दिग्विजय प्रकरण में देखने से ज्ञात होता है कि उस काल में भारत में सर्वत्र अबाध रूप से यातायात की व्यवस्था थी।

भारत के बाहर भी अन्य देशों से व्यापार आदि का सम्बन्ध था। राजसूय में चीन एवं सिंहलद्वीप से भी उपहार आये थे।[8] यदि घनिष्ठ सम्बन्ध न होता तो उपहार भेजने का प्रश्न ही न था। यातायात, वाणिज्य एवं देश विजय ही परिचय के कारण हो सकते हैं। महाभारत काल में समुद्रपोतों से व्यापार होता था। समुद्र पोतों का अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है।[9] अर्जुन दक्षिण एवं पश्चिम में कई-कई सामुद्रिक तीर्थों को गये। सामुद्रिक पोत के अतिरिक्त और किसी प्रकार समुद्र की यात्रा सम्भव नहीं हो सकती थी।[10] गौतम नामक एक दुराचारी ब्राह्मण ने सामुद्रिक व्यापारियों के साथ

1. विराट पर्व-10।14
2. सभा पर्व-5।22, सभा पर्व-5।21, शान्ति पर्व 88।28
3. सभा पर्व-5।115
4. आदि पर्व-207।40, आदि पर्व 221।75
5. सभा पर्व-5।114, शान्ति पर्व 89।23
6. शान्ति पर्व-87।13-18
7. शान्ति पर्व-71।10
8. सभा पर्व-5'।23, 26, 37, 36
9. आदि पर्व-2।396, शल्य पर्व 4।29, शल्य पर्व 19।2
10. आदि पर्व-216।1; 218।2

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यात्रा की थी। सभापर्व के दिग्विजय प्रसंग में पाया जाता है कि अर्जुन ने शाकल आदि सप्तद्वीपों के अधिपतियों को परास्त किया था।[1]

पाण्डवों की सम्पत्ति से ईर्ष्यान्वित दुर्योधन की उक्ति से पता लगता है कि पाण्डवों ने सामुद्रिक राजाओं को युद्ध में पराजित करके विशाल सम्पत्ति प्राप्त की थी।[2] दक्षिण समुद्र स्थित गौकर्ण नामक तीर्थ के यातायात की बात तीर्थयात्रा प्रसंग में उल्लेखित है।[3] अनेक स्थलों पर तो वाणिज्य का स्पष्ट उल्लेख है। 'वणिक् जिस प्रकार मूल धन के अनुसार सामुद्रिक व्यापार में धन लाभ करते हैं, उसी प्रकार मर्त्यरूपी समुन्द्र में प्राणी अपने कर्मानुसार विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं।'[4] विपत्ति में पड़े हुए जहाजी व्यापारियों के सागर में डूबने पर जिस प्रकार अन्य नाविक उनका उद्धार करते हैं उसी प्रकार द्रौपदी के पुत्रों ने कर्ण रूपी सागर में डूबते अपने माता का रथ द्वारा उद्धार किया।'[5] अर्जुन जब समुद्र की खाड़ी में स्थित निवात कवचों के साथ युद्ध करने के लिये समुद्र में गये थे तब उन्होंने पर्वत सदृश ऊर्मी मालाओं के बीच असंख्य रत्न पूर्ण नौकाएं देखी थी।[6] वे नौकाएं अवश्य ही व्यापारियों की होनी चाहिये। इन सब वणर्नों से स्पष्ट है कि उस काल के भारत के साथ अन्य देशों के व्यापारिक सम्बन्ध घनिष्ठ थे।

वास्तु एवं शिल्प कला—महाभारत काल में वास्तु एवं शिल्प कला भी पर्याप्त समुन्नत थी। युधिष्ठिर की इन्द्रप्रस्थ की सभा और हस्तिनापुर व द्वारिका के सभाभवन तथा राजभवन इसके सजीव प्रमाण हैं। इनके सम्बन्ध में महाभारत में जो वर्णन मिलते हैं उससे हमें तत्कालीन वास्तु कला की परिज्ञान होता है। उस काल में कोई भवन बनाने से पूर्व शास्त्र विधान के अनुसार भूमियां नापने का नियम था तथा किसी नये नगर की नींव डालते समय भी भलीभांति नाप की जाती थी, कार्यारम्भ करते समय शान्ति पाठ किये जाने का नियम था।[7] आदि पर्व[8] में, हस्तिनापुर में परीक्षा प्रदर्शन के उद्देश्य से बने प्रेक्षागार का वर्णन मिलता है। मणि, मुक्ता आदि रत्नों से जड़ित, सवर्णमय विशाल गृह बनाया गया था। उसी पर्व में जतुग्रह का भी वर्णन मिलता है।[9] वह घर अनेक आग्नेय द्रव्यों के संयोग से बनाया गया था। घी, तेल, चर्बी आदि

1. शान्ति पर्व-169।2
2. सभा पर्व-26।6
3. सभा पर्व-53।16, 17
4. वन पर्व-85।24
5. शान्ति पर्व-218।28
6. कर्ण पर्व-82।23
7. आदि पर्व-207।29, आपद 12।8
8. आदि पर्व-134वां अध्याय
9. आदि पर्व-144वां अध्याय

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के साथ मिट्टी मिलाकर दीवालों पर लेप किया जाता था।[1] इस भवन में चार कक्ष थे। यह जतुग्रह अत्यन्त सुन्दर था।[2] इसी प्रकार द्रौपदी के स्वयंवर का सभा भव्य[3] वड़ा विस्तृत व सुन्दर था। समभूमि पर चारों ओर प्रासादों से घिरा सभाग्रह बनाया गया था। खाई एवं परकोटे से घिरा, तोरण माल्य आदि से सज्जित, अनेक प्रकार के रत्नों से जड़ित, सुवर्ण जाल से अंकित, शतद्वार वाला सभागृह, हिमालय शृंग की भांति शोभित हो रहा था। इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर की राजधानी इन्द्रप्रस्थ[4] की शोभा भी मुग्धकारिणी थी।

महर्षि व्यास आदि ने शान्ति पाठ पूर्वक नगर का माप आदि का कार्य सम्पन्न किया था। नगर के चारों ओर सागर जैसी परिखा एवं गगन चुम्बी परकोटा बनाया गया था।[5] वह नगर निर्मल चांदनी अथवा श्वेत वृहदाकार मेघ खण्डों की भांति शोभित होता था। उस नगर में ऊंचे-ऊंचे फाटक लगे थे तथा अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित ग्रह-श्रेणियां थीं।[6] नगर के चारों ओर सुरम्य उद्यान थे। लतागृह, चित्रगृह आदि से सुशोभित मनोमुग्धकारी उद्यान कमलों की सुगन्ध से सुरभित, जलपूर्ण जलाशयहृद व वापियों से युक्त था।[7] उद्यानों के अन्तस्थल में लताओं से वेष्टित सुन्दर पुष्करिणी थी। इन्द्रप्रस्थ में मय द्वारा निर्मित एक सभा मण्डप था। वह सभागृह तत्कालीन वास्तुकला का उत्कृष्ट नमूना था। इच्छानुसार उसे एक स्थल से अन्य स्थल पर ले जाया जा सकता था। इसे स्थान से हटाने के लिये 8,000 बलवान् व्यक्तियों की आवश्यकता होती थी।[8] चतुष्कोण दस सहस्त्र हाथ भूमि को घेर कर वह सुन्दर व बृहत् मण्डप बनाया गया था।[9] मय ने विन्दु सरोवर जाकर वहां से स्फटिक आदि मणि लाकर, दिव्य मणिमय स्तम्भों युक्त, आकाश चुम्बी सभा भवन तैयार किया था।[10] दीवालें, तोरण आदि रत्न जटित थे। मय ने सभागृह के अन्दर ही मणिरत्नों से एक कृत्रिम जलाशय बनाया था। उस जलाशय में जो खिले हुए कमल थे उनकी पंखुड़ियां वैदूर्य की तथा डंडियां मणि की थीं। उन्हें सुगन्धित भी किया गया था। विभिन्न प्रकार के जलचर एवं पक्षी भी मणि-

1. आदि पर्व-143।9,10
2. आदि पर्व-143।8
3. आदि पर्व-184।10, 16-23
4. आदि पर्व-206।29
5. आदि पर्व-206।30,31
6. आदि पर्व-206।32,33,34
7. आदि पर्व-206।40-47
8. सभा पर्व-1।13, सभा० 3।28
9. सभा०-1।18-20, 3।23
10. सभा पर्व-3।23

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मुक्ता तथा सुवर्ण द्वारा निर्मित थे। उसकी सीढ़ियां स्फटिक मणि की थीं। चारों ओर के घाटों पर बड़े-बड़े चौकोर शिलाखण्डों से निर्मित मणि-जटित वेदियां थीं। मणियों से तथा रत्नों से जटित होने के कारण किसी व्यक्ति को उसकी यर्थाथता पर विश्वास नहीं होता था, तथा प्रत्येक व्यक्ति उसे स्थल समझता था। कुछ राजा लोग भ्रम से उसे स्थल समझ कर उसमें गिर पड़ते थे।[1] उस सभा भवन के निर्माण में चौदह मास से भी अधिक समय लगा था।[2]

स्तम्भों के बिना भी प्रासाद निर्माण के कौशल से उस काल के शिल्पी अवगत थे।[3] युधिष्ठिर की इस सभा से ईर्ष्या करके दुर्योधन ने भी हस्तिनापुर में एक सभा गृह का निर्माण करवाया था। धृतराष्ट्र ने नाना देशों के सुप्रसिद्ध शिल्पियों को बुलाकर शतद्वार, सहस्र स्तम्भों वाला सभा मण्डल बनाने का आदेश दिया था।[4] वहां एक कोस लम्बे व एक कोस चौड़े स्थान पर सभागृह व उद्यानादि का निर्माण किया था।[5] द्वारिकापुरी भी हिमालय शिखर जैसे श्वेत प्रासादों से सुशोभित थी। वहां, सदा, अनेक वर्णों की पताकाएं उड़ा करती थीं'[6] पाताल पुरी का वर्णन भी बड़ा विचित्र है। उससे उसकी वस्तु कला की विशेषता एवं महान ऐश्वर्य के दर्शन होते हैं।[7]

महाराज विराट् की सभा भी अत्यन्त सुन्दर व विचित्र थी। मणिरत्न जड़ित सभागृह में सुवर्ण खचित सिंहासन सुशोभित थे।[8] महामना पाण्डु का अनेक प्रासाद श्रेणियों से घिरा सुन्दर प्रासाद अनेक कक्षों में विभक्त था। महाराज धृतराष्ट्र चतुर्थ कक्ष में रहते थे।[9] दुर्योधनादि राजाओं के प्रासादों में भी सुवर्ण मणिमुक्ता आदि का प्रयोग ही अधिक देखने में आता है।[10] युद्ध के प्रारम्भ में दुर्योधन ने शत-शत दुर्ग युक्त उत्तम शिविर का निर्माण कराया था। वह हस्तिनापुर जैसा ही था। अधिक ध्यान पूर्वक देखे जाने पर भी अन्तर निकालना कठिन था।[11] पाण्डवों के शिविर का भी

1. सभा पर्व-3।30-33
2. सभा पर्व-3।37
3· सभा पर्व-11।14
4. सभा पर्व-56।18
5. सभा पर्व-
6. वन पर्व-15।5-11
7. आदि पर्व-3।133
8. उद्योग पर्व-1।2
9. उद्याग पर्व-89।11,12
10. शान्ति पर्व-44वां अध्याय
11. उद्योग पर्व-197।13,14

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निर्माण कराया गया था। सैकड़ों सवैतनिक शिल्पियों ने विमानी की भांति शोभित शिविर बनाये थे।

अभ्यागत के आगमन के उपलक्ष्य में भी सभागृह का निर्माण किया जाता था। वे सभागृह अत्यन्त सुन्दर व विशाल होते थे। धृतराष्ट्र के आदेश से श्रीकृष्ण के मार्ग में अनेक सभामण्डपों का निर्माण किया गया था। वृकस्थल में एक विशेष सभा मण्डप की रचना की गई थी।[1] इसी प्रकार दुर्योधन ने मद्रराज शल्य (नकुल सहदेव के मामा) को अपने पक्ष में करने के लिए रास्ते में सुखदायक सभा मण्डप बनवाये थे।[2] जल क्रीड़ा हेतु उस काल में पट गृह बनाये जाते थे। उस पट गृह में एक ही तम्बू के भीतर बहुत से प्रकोष्ठों का निर्माण किया जाता था। कौरव पाण्डवों की जलक्रीड़ा के समय ऐसा पटगृह बनाया गया था।[3]

महाभारत काल में वास्तुकला के अतिरिक्त अन्य शिल्पों या कलाओं में भी देश ने पर्याप्त उन्नति की थी। उस काल में खान-उत्खनन का कार्य भी समुन्नत था। सुवर्ण, हीरा, पन्ना आदि रत्न की भी बहुलता थी। मणिमुक्ता प्रवाल, सुवर्ण व चांदी का प्रयोग बहुलता से होता था।[4] सर्वत्र सुवर्ण और रत्नों का प्रयोग महाभारत में दिखाई देता है। आभूषण अधिकतर सुवर्ण के ही बनाये जाते थे।[5] राजा लोगों व प्रधान क्षत्रियों के बैठने की आसनें सुवर्ण की ही होती थी।[6] यज्ञ मण्डप के तोरण, कलश, घट, व पात्र वृक्षलता आदि सुवर्ण के ही बनाये जाते थे।[7] सम्पूर्ण धनिक वर्ग सुवर्ण की थालियों में भोजन करता था। सोने के जल पात्र व कमण्डलों के भी प्रसंग यत्र-तत्र मिलते हैं।[8] महाभारत काल में सुवर्ण के सिक्कों का भी प्रचलन था जिन्हें उस काल में निष्क कहा जाता था।[9] निष्कों का प्रचलन प्राचीन काल से ही चला आ रहा था। अनेक स्थलों पर निष्क का वर्णन मिलता है, उनकी चर्चा की गई है। कहीं-कहीं केवल निष्क के स्थान पर 'कांचनं किष्कं' या 'हरिण्य निष्कान' शब्दों का प्रयोग किया गया है।[10] इससे शंका होती है कि विशेषत: 'स्वर्ण निष्क' क्यों कहा गया है, क्या स्वर्ण के अतिरिक्त

---

1. उद्योग पर्व-81।12-18
2. उद्योग पर्व-85।13-17, उद्योग पर्व-8।9-11
3. आदि पर्व-128।31,32
4. आदि पर्व-113।34,
5. आदि पर्व-185।30, आदि पर्व-73।2।3, अनु० 84।51
6. उद्योग पर्व-1।6, सभा 56।20, उद्योग पर्व-89।8
7. सभा पर्व-3।21, उद्योग 1।2, अश्व०-85।29-30
8. आश्रम पर्व-27।12 सभा 49।18
9. आदि पर्व-221।69,वन पर्व 37।19, वन पर्व 23।2, वि० पर्व-38।43
10. द्रोण पर्व-80।17 वन पर्व 23।2

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अन्य धातु के भी निष्क होते थे ? एक स्थान[1] पर प्रयोग मिलता है, 'शुद्ध सुवर्ण के सौ निष्क।' इन प्रसंगों को देखकर ज्ञात होता है कि निष्क शुद्ध सुवर्ण के, अन्य धातु मिश्रित सुवर्ण के एवं चांदी आदि अन्य धातु के भी होते थे। महाभारत काल में स्वर्ण व चांदी की थालियों का अधिक प्रचलन था।[2] साधारण वर्ग में सम्भवतः तांबे के बर्तनों का प्रयोग किया जाता था।[3] गौदोहन में कांसे के बर्तनों का प्रयोग किया जाता था।[4]

महाभारत काल में लोहे का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलता है। युद्ध के लगभग सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र लोहे के ही बनाए जाते थे। इसके अतिरिक्त फावड़ा, कुदाल, मछली पकड़ने का कांटा व कटारी आदि अनेक औजार लोहे के बनाये जाते थे।[5] मणिमुक्तादि का प्रयोग साधारण कार्यों में भी किया जाता था। चौपड़ की गोटे वैदूर्य मणि की बनाई जाती थो। कोई-कोई वीर अपनी तलवार की मूठ मणियों की बनवाते थे। उस काल में हाथी दांत से भी अनेक वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। तलवार की मूठ, योद्धाओं के कवच, चौपड़ की गोटियां, सोने के पलंग, बैठने के आसन एवं एक प्रकार की गुड़िया आदि अन्य भी वस्तुएं हाथी दांत की बनाई जाती थीं। हाथी दांत के बड़े-बड़े पलंग बनाये जाते थे।[6] श्वेतच्छत्र भी हाथी दांत के बने होते थे। सिर पर भी क्षत्र होता था, रथ के ऊपर हाथी दांत की छत्र होती थी, हाथी के ऊपर भी हाथी दांत के छत्र होते थे। रथों एवं गृहों पर ध्वज होते थे जो विभिन्न रंगों के होते थे। उनमें से प्रत्येक पर पृथक्-पृथक् चिन्ह होते थे। वे चिन्ह किसी पशु-पक्षी या वृक्ष लता के चित्र रूप में होते थे। कुशा आदि की सुन्दर आसनें बनाई जाती थीं। जूते, पंखे आदि का भी प्रचलन था।[7] उच्चकुल की महिलाओं को इधर-उधर ले जाने के लिए शिविकाओं का भी निर्माण किया जाता था।[8]

महाभारत काल में बड़े-बड़े दीर्घाकार रथों का निर्माण किया जाता था। रथों के वर्णनों को देखकर विदित होता है कि रथों में शिल्प कला का उत्कृष्ट प्रयोग किया जाता था।[9] रथ खींचने के लिए अधिक घोड़े प्रयुक्त किये जाते थे किन्तु ऊंट-खच्चर

---

1. विराट पर्व-38।43 'शातकुम्भस्य शुद्धस्य शतं निष्कान्'।
2. आदि पर्व-194।13
3. अनु० पर्व-125।82, वन पर्व-3।72, अनु० पर्व-126।20, आश्रम०-27।13
4. सभा पर्व-25-3, शान्ति पर्व-228-60, अनु०-57।30, अनु०-7133
5. उद्योग पर्व-34।13, वन पर्व-157।45
6. आदि पर्व-182।72
7. शान्ति पर्व-60।32
8. आदि पर्व-80।21, आदि पर्व-127।7, आदि पर्व-134।12, वन पर्व-69।32
9. उद्योग पर्व-83।15-21

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

व गधों का प्रयोग भी किया जाता था।[1] ढोंगी का प्रयोग महाभारत काल में होता ही था क्योंकि इसका प्रयोग प्राचीन काल से ही होता चला आ रहा था।[2] सामान रखने के लिए काष्ठ, लौह आदि की मंजूषा बनाई जाती थी।[3] नौका का तो महाभारत में यत्र-तत्र अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। यमुना नदी पर सत्यवती नौका चलाती थी। महर्षि व्यास का जन्म ही नौका पर हुआ था।[4] जब युधिष्ठिर आदि को लाक्षागृह में जलाने का प्रयत्न किया गया तब वे सुरंग से निकलकर वन में पहुंच गये। वहां उन्हें गंगा किनारे विदुर की भेजी हुई नौका प्राप्त हुई जो यन्त्रों व पाताकाओं से युक्त थी तथा अत्यन्त सुदृढ़ और वायुवेग चलने वाली थी।[5]

पानी के फव्वारे (जलयन्त्र) भी होते थे।[6] इसके अतिरिक्त वस्त्र निर्माण आदि कलाओं की पर्याप्त उन्नति हुई थी। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में काम्बोज के राजा के उपहार वस्त्र सर्वोत्कृष्ट थे। उसके उपहार में और्ण,—भैंस के रोओं से वने वस्त्र, बैल-चूहों आदि के रोओं से बने वस्त्र, विडाल के रोओं से वने वस्त्र भेंट में आये थे। वस्त्रों के बीच-बीच में सुवर्ण के जाल थे।[7] वालीक देश में व भारत के वाहर चीन में पशमी व रेशमी व पट्ट वस्त्र तैयार होते थे। वस्त्रों पर रंगबिरंगे चित्र होते थे। ये तथा अन्य पाट एवं कीटज-रेशम के सहस्रों वस्त्र महाराज युधिष्ठिर को उपहार मिले थे।[8] महाभारत काल में कम्बोज के कम्बल भी प्रसिद्ध थे।[9] सिंहल (लंका) द्वीप के निवासियों ने महाराज युधिष्ठिर को 'कुथा' सैकड़ों की संख्या में भेंट किये थे जिनमें मणि आदि जड़े हुए थे।[10] कपास से वस्त्र निर्माण का उद्योग भी उन्नति पर था। भीम की पूर्व विजय एवं अर्जुन की उत्तर कुरु विजय में दिव्यवस्त्र व आवरण कर रूप में प्राप्त हुए थे जिनमें रेशमी वस्त्र एवं मृग चर्म के वस्त्र थे।[11] मलयव दर्दुर देश के निवासियों ने सूखे वस्त्र भेंट किये थे।

---

1. अनु० पर्व-118।14, आदि पर्व-144।7
2. आदि पर्व-104।39
3. वन पर्व-308।6,7
4. आदि पर्व-63।69,84
5. सभा पर्व-65।21
6. आदि पर्व-128।40
7. सभा पर्व-51।3
8. सभा पर्व-51।26, 27
9. सभा पर्व-49।19
10. सभा पर्व-51।27, सभा पर्व-52।36
11. सभा पर्व-30वां अध्याय,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

महाभारत काल में शिल्प की पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी, जैसे कि उपर्युक्त वर्णनों से प्रतीत होता है। उस काल में शिल्प कला को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। एक स्थान पर कहा गया है कि 'हे राजन्। यह कर्म भूमि है अतः यहां कृषि, वाणिज्य, पशुपालन (गौरक्षा) एवं अनेक प्रकार की शिल्प कलाएं प्रशंसनीय हैं।[1] राजा का कर्त्तव्य था कि वह शिल्पकला की रक्षा करे अर्थात् ऐसे प्रयत्न करे जिससे उसके राज्य में शिल्प कला उन्नति करती रहे।[2] राजा राज्य के श्रमजीवियों से उदासीन नहीं रहते थे, क्योंकि महान् अभ्युदय में उनका स्नेहपूर्ण सहयोग ही कारण माना जाता था।[3] उस काल के दुर्गों को यन्त्र, अस्त्र-शस्त्र व शिल्पियों से भरपूर रखा जाता था।[4] सभी शिल्पियों को राजा द्वारा, सदा, नियम से व्यवस्था पूर्वक, एक साथ इतनी वस्तु निर्माण की सामग्री दी जाती थी कि वह वर्षा के चार मास भर चल सके। रत्न सुवर्ण व चांदी की भी प्रचुरता थी। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में दस अरब सुवर्ण मुद्रा का दान किया गया था। रत्नों के ढेर के ढेर लुटाये गये थे। अतः अनुमान लगाया जा सकता था कि देश में अतुल समृद्धि थी। उस काल के समाज में व्यापार व उद्योग की कमी न थी तभी तो प्रजा के पूर्ण सुखी होने पर राजा के पास दान करने के लिए इतनी सम्पत्ति थी। राजसूय यज्ञ में वही नालियों द्वारा वहाया जा रहा था जिससे जन-साधारण उसका मुक्त रूप से प्रयोग कर सके। घी कुण्डों में भर दिया गया था जिससे गौपालन की सुव्यवस्था स्पष्ट है। इस प्रकार वैश्यों का उद्योग (कृषि, व्यापार व गौरक्षा) उच्च स्तर पर थे। इसी प्रकार ब्राह्मणों के उद्योग भी भलीभांति चल रहे थे। ब्राह्मणों को दान में अपार धन राशि प्राप्ति होती थी। क्षत्रिय लोग यज्ञ में उन्हें प्रचुर धन दान में देते थे। उद्योग धन्धों का विभाजन होने से सभी अपने-अपने धन्धों में लगे रहते थे।

सभा पर्व[5] में युधिष्ठिर ने शकुनि से कहा था 'मेरे रथों पर जो रथी रहते थे, उन्हें एक सहस्र स्वर्ण मुद्राएं तक प्रत्येक को वेतन मिलता है। वे युद्ध कर रहे हों अथवा न कर रहे हों, प्रत्येक मास में उन्हें यह वेतन मिलता रहता है।' इससे ज्ञात होता है कि महाभारत काल में भारतीयों का स्तर कितना उच्च था।

---

1. शान्ति पर्व-167।11-12
2. सभा पर्व-5।36,71
3. सभा पर्व-5।31,32
4. सभा पर्व-5।36
5. सभा पर्व-61-20

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सप्तम अध्याय

महाभारत कालीन समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों के मतों पर विचार

भूमिका—गत अध्यायों में 'महाभारत कालीन समाज व्यवस्था' का वर्णन, 'महाभारत' ग्रन्थ का आलोचनात्मक अध्ययन करके, किया गया। इसके पश्चात् यह भी आवश्यक प्रतीत होता है कि 'महाभारत कालीन समाज व्यवस्था' के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों का क्या मत है। 'महाभारत' एक महान् ग्रन्थ है तथा इसमें संसार के सभी विषयों के सम्बन्ध में कुछ न कुछ अवश्य प्राप्त हो जाता है। सभी विद्वान् अपने-अपने दृष्टिकोण से इसका अध्ययन करते हैं एवं अपने कथन के समर्थन में दो एक श्लोक पा ही जाते हैं, फिर भले ही उनके कथन के विरुद्ध उसमें अध्याय के अध्याय हों। अतः सभी आलोचकों के मत, तथ्य पूर्ण या सत्य हों ऐसा नहीं है, उनमें से अनेकों ही, निष्पक्ष भाव से विचार करने पर तथ्यहीन सिद्ध होते हैं। अतः यह प्रथम कर्त्तव्य है कि उन महानुभावों के मतों पर, जिन्होंने महाभारत का, परिश्रम पूर्वक अध्ययन करके, उसमें वर्णित समाज व्यवस्था के विषय में कुछ लिखा है, निष्पक्ष भाव के विचार किया जावे।

महाभारत विशाल समुद्र की भांति है जिसकी गहराई तक पहुंचना अत्यन्त कठिन है। इस ग्रन्थ को लेकर अनेक ग्रन्थों की रचना की जा सकती है। अब तक इसकी आलोचना में न जाने कितने ग्रन्थ प्रत्येक भाषा में लिखे जा चुके हैं और आगे भी लिखे जाते रहेंगे, विवाद न तो समाप्त हुआ और न होगा। सन् 1850 ई० के पश्चात् आधुनिक विश्व के कुछ पाश्चात्य एवं पौर्वात्य विद्वानों ने 'प्राचीन संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन किया है। 'संस्कृत साहित्य के इतिहासों में महाभारत कालीन समाज व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ ऐसे वर्णन पाये जाते हैं जो विवादास्पद हैं। उनके सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों में मतभेद हैं। इस अध्याय में विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रतिपादित उन विभिन्न मतों पर यथाशक्ति निष्पक्ष भाव से, आलोचनात्मक पद्धति से, विचार करने का एक लघु प्रयास किया जा रहा है। जिससे कि महाभारत कालीन समाज व्यवस्था सम्बन्धी ज्ञान अंशतः आगे बढ़ सके।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अपने विचार व्यक्त करने से पूर्व, इस अध्याय में, पाश्चात्य एवं पौर्वात्य आधुनिक विद्वानों के 'महाभारत कालीन समाज व्यवस्था के सम्बन्ध में प्राप्त विभिन्न मत, उनके ग्रन्थों से उद्धृत करके प्रस्तुत किये जावेंगे, तत्पश्चात् उन सब मतों पर पृथक-पृथक अपने विचार व्यक्त करने का प्रयत्न करूंगा। कुछ पाश्चात्यों ने भारतीय सभ्यता व संस्कृति के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्ति पूर्ण धारणाएं प्रचलित कर दी हैं। भ्रान्ति पूर्ण धारणाओं में उनके द्वेष भाव की अपेक्षा उनका भारतीय संस्कृति का सीमित ज्ञान अपेक्षाकृत एक बड़ा कारण था। सीमित मात्रा में भारतीय संस्कृति को अत्यन्त गौरवान्वित तथा अति प्राचीन सिद्ध न होने देने का हृदगत गूढ़ भाव भी था। वैसे पाश्चात्य विद्वानों ने अपने शोध कार्यों में बड़ा परिश्रम किया था। अपने कथन को सिद्ध करने के लिये उन्होंने ठोस प्रमाण भी दिये थे जिनके आधार—भाषा विज्ञान, पुरातत्व विज्ञान, नृवंश विज्ञान, भाषा विकास आदि सभी अनुमान पर आधारित थे, ठोस नहीं। किन्तु भारतीयों ने, जो उनकी अपेक्षा अर्थहीन व ज्ञानहीन थे तथा आधुनिक, शिक्षा में वस्तुतः उनके शिष्य थे, उनके कार्यों व विचारों से प्रभावित होकर उनका अनुकरण करना प्रारम्भ कर दिया, जो स्वाभाविक ही था। प्राचीन संस्कृत साहित्य के इतिहास या आलोचना के सम्बन्ध में इसी स्थिति का दर्शन होता है। वैसे ही महाभारत कालीन समाज के अनेक विषय इतने उलझे हैं कि उनके विषय में विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों के भी विभिन्न मत हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतीयों ने भी संस्कृत साहित्य पर महत्वपूर्ण कार्य किये हैं किन्तु उनमें से भी अधिकांश के कार्यों का आधार केवल यूरोपीय विद्वानों के शोध कार्य ही थे। इसी शताब्दी के उत्तरार्ध में कुछ भारतीय विद्वानों ने अत्यधिक परिश्रम करके, उनके भ्रान्तिपूर्ण मतों का खण्डन करके, सबके समक्ष वास्तविक तथ्य प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

महाभारत के कुछ विवादास्पद विषय निम्नलिखित हैं—

1. (अ) क्या आर्यों के 'चातु वर्ण्य' का 'शूद्र वर्ण' आर्य जाति ही था या आर्येतर कोई अन्य जाति ?

   (ब) वैदिक काल से, शूद्रों को जो सेवा कार्य समाज द्वारा सौंपा गया था, क्या उसका मूलाधार केवल अर्थशास्त्र का 'कार्य विभाजन' ही था अथवा शूद्रों के प्रति अन्य वर्णों की भावना ? क्या महाभारत काल में शूद्र वर्ण हेय माना जाता था ? क्या शूद्र अपने इस सेवा कार्य से दु:खी थे ? क्या वे विवश की भांति उदासीन मन से इसका पालन करते थे अथवा धर्म समझकर प्रसन्न मन से ?

2. क्या ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों का पालन, चारों वर्णों द्वारा समान रूप से किया जाता था अथवा विशिष्ट वर्ण चारों आश्रमों में से विशिष्ट आश्रम या आश्रमों का पालन करता था ?

3. महाभारत कालीन समाज में नारियों की स्थिति क्या थी ? क्या तत्कालीन समाज

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

में बाल विवाह, विधवा-विवाह, बहु-पति प्रथा, सती प्रथा, पर्दा-प्रथा आदि प्रचलित थे अथवा नहीं;

4. क्या तत्कालीन भारतीय समाज अधिकांश में मांसाहारी था अथवा शाकाहारी ? क्या उस काल के ब्राह्मण भी अधिकतर मांस भक्षी थे ? क्या महाभारत काल में गौ-मांस भक्षण व गौ-वध प्रचलित था ?
5. क्या महाभारत काल में यन्त्रादि व दिव्यास्त्र थे ? यदि थे तो उनका प्रयोग भौतिक शक्ति साधनों से किया जाता था अथवा आध्यात्मिक शक्ति-साधनों द्वारा ;

इन विवादास्पद विषयों पर प्राप्य विषय-वस्तु को प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. (अ) शूद्र वर्ण आर्य ही था या आर्येतर कोई अन्य जाति ?

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य :—वैद्य जी का मत है कि "आर्य जन भारत में आये उन्हें यहां के मूल निवासियों से युद्ध करना पड़े। इन युद्धों में आर्यों की विजय हुई, उन्होंने विजित दस्युओं को अपना दास बना लिया। पश्चात् वर्ण विभाजन में आर्यों के तीन वर्ण हो गये। उन्होंने मूल निवासियों को अपने में मिलाकर चौथे वर्ण की सृष्टि की, जिसका नाम 'शूद्र' रखा गया। रामायण में यह वर्णन है कि 'पहले केवल दो जातियां' थी, पीछे से त्रेता युग में तीन हो गईं। यह वर्णन यहां युक्ति संगत जान पड़ता है। दास या मूल निवासियों का समावेश चौथी शूद्र जाति में होने पर ऊपर की तीनों आर्य वंशी जातियों का नाम 'त्रैवर्णिक' हो गया ! विजयी आर्यों का रंग गौर था तथा विजित मूल निवासियों का रंग काला था, अतः मिश्रण न हो सका। अन्य देशों में इससे विपरीत था। यूरोप में जब आर्य पहुंचे तब वहां के जो मूल निवासी मिले वे रंग रूप व बुद्धि में बहुत कुछ आर्य वंश के ही थे। किन्तु भारतीयों से आर्यों का महान् अन्तर था। यही कारण वर्ण व्यवस्था का आधार बना। भारत की इस विचित्र परिस्थिति की जोड़ की परिस्थिति, इतिहास में केवल दक्षिण अफ्रीका में ही उत्पन्न हुई दिखाई देती है। वहां गोरे रंग वाले आर्यों का काले नीग्रो लोगों (हबशियों) से सम्बन्ध पड़ने के कारण भारत की सी कुछ परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। उससे हम थोड़ा अनुमान लगा सकते हैं।[1]

शान्ति पर्व के 188 वें अध्याय में वर्णन दिया है कि ब्रह्मा ने प्रथम ब्राह्मण ही उत्पन्न किये फिर सत्वादि गुणों से युक्त, ब्राह्मणादि चार वर्ण कर दिये। ब्राह्मणादि का वर्ण क्रमशः शुभ, लाल, पीत व काला होता है। इसमें यह शंका होती है कि चार वर्णों के परस्पर भेद के कारण यदि वर्ण (रंग) हों तो सभी वर्णों में भिन्न-भिन्न रंग

---

1. श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य, अनु० माधवराव सप्रे, महाभारत मीमांसा'-पृष्ठ-173-174

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मिलते हैं तथा सबके काम क्रोधादि व्यवहार और पस्ना मल मूत्र आदि सब एक समान ही क्रियायें हैं फिर भेद क्यों; भृगु ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है—"सारा संसार पहले ब्राह्मण ही था किन्तु कर्म के अनुरोध से उस वर्ण का स्वरूप प्राप्त हुआ। उनमें जो रजोगुणी थे वे क्षत्रिय, जो रज व तमोयुक्त थे, वे वैश्य, तथा तम प्रधान ब्राह्मण ही शूद्र हुए। तात्पर्य यह कि कर्म के योग से एक ही जाति के भिन्न-भिन्न वर्ण हो गये।' इस विवेचन में वर्ण की सत्व, रज व तम से लगाई गई है। इसका भी तात्पर्य, ऊपर वाली ऐतिहासिक उप्र-पत्ति, जो स्वभाव प्रधान है, से मिलता जुलता है। सत्वादि के साथ स्वभाव भेद की बात भी शामिल हो गई, छूट न सकी और सत्वादि के काल्पनिक वर्ण भी सम्मिलित हो गये। इस प्रकार वर्णों के स्वभाव भेद का अस्तित्व मान्य किया गया है। इसमें यह बात मान्य की गई देख पड़ती है कि वास्तव में एक ही जाति थी, आगे चलकर भिन्न-भिन्न स्वभावों के अनुसार वर्ण का भेद पड़ गया। यह सिद्धान्त विशेषतः ब्राह्मण और शूद्र वर्णों के लिये ही लागू होगा। एक सत्व प्रधान तो दूसरा तमः प्रधान।[1]

श्री सुखमय भट्टाचार्य:—भट्टाचार्य जी ने अपनी पुस्तक 'महाभारत कालीन समाज' में, 'चातुवर्ण्य' नामक अध्याय में, शूद्रों के आर्येतर अन्य जाति होने की कहीं लेशमात्र भी चर्चा नहीं थी। उन्होंने भी अप्रत्यक्ष रूप में यही स्वीकार किया है कि चारों वर्ण एक ही समाज के थे, अन्य के नहीं।

श्री वैद्य जी महोदय के कथन के प्रथम अंश—'आर्य जब भारत में आये, उन्हें यहां के मूल निवासियों से युद्ध करना पड़े···उससे हम थोड़ा अनुमान लगा सकते हैं—'से तो वे आर्यों का बाहर से आना तथा शूद्रों का भारत का मूल निवासी, कोई अन्य जाति का होना, मान रहे हैं। यह मत भारतीय साहित्य पर आधारित नहीं है क्योंकि प्रथम तो 'आर्य बाहर से आये' ऐसा वर्णन आर्यों ने अपने साहित्य में कहीं भी नहीं किया। द्वितीय, शूद्रों का 'द्रविड़' या अन्य जाति का होना प्राचीन भारतीय साहित्य में कहीं भी नहीं कहा गया। यदि शूद्र द्रविड़ ही होते तो कभी न कभी व कहीं-कहीं तो उनकी जाति की चर्चा अवश्य की जाती तथा इस प्रकार के भ्रांति पूर्ण अनुमान लगाना ही नहीं पड़ते।' यहां वैद्य जी मुझे पाश्चात्यों के मत से प्रभावित ज्ञात होते हैं किन्तु कथन के द्वितीयांश में उन्होंने मूल ग्रन्थ के आधार पर यह स्वीकृत किया है कि 'कर्म के योग से एक ही जाति के भिन्न-भिन्न वर्ण हो गये।' तथा वे आगे और स्पष्ट लिखते हैं कि 'इसमें यह बात मान्य देख पड़ती है कि वास्तव में एक ही जाति थी, आगे चलकर भिन्न-भिन्न स्वभावों के अनुसार वर्ण का भेद पड़ गया।' जब हमारे शास्त्रों में ही स्पष्ट है तो उसके लिए विभिन्न अनुमानों की क्या आवश्यकता ? यही

1. श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य, अनु० माध्यवराव सप्रे, 'महाभारत मीमांसा', पृ० 184-185

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मेरे मत में उचित प्रतीत होता है कि चारों वर्ण आर्य ही जाति के थे।

1 (ब) वैदिक काल से जो सेवा कार्य, समाज द्वारा, शूद्रों को सौंपा गया था क्या उसका मूल आधार केवल अर्थशास्त्र का कार्य विभाजन ही था अथवा शूद्रों के प्रति अन्य वर्णों की ही भावना ? क्या महाभारत काल में शूद्र वर्ण हेय माना जाता था ? क्या शूद्र अपने इस सेवा कार्य से दुःखी रहकर, विवश होकर उसका पालन कर रहे थे। अथवा वे इसे अपना धर्म मानकर प्रसन्न चित्त से सुख पूर्वक करते थे।

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य—"अब शूद्रों के काम का विचार करना है। प्राचीन काल में शूद्र की स्थिति वही थी जो दासों की होती है। यह तय हो चुका था कि ये तीनों वर्णों की सेवा किया करें और इसी अनुसार वे सेवा ही किया करते थे। उन्हें अध्ययन अथवा यजन का अधिकार न था। इतना ही नहीं, उन्हें द्रव्य संचय करने की भी मना थी। उन्हें भरपेट भोजन देना व फटे-पुराने कपड़े देना मात्र ही स्वामी का कर्त्तव्य था। जैसे-जैसे आर्यों की वस्ती दक्षिण की ओर वढ़ती गई, शूद्रों की संख्या वढ़ती गई होगी। ये लोग खेती अधिकता से करने लगे होंगे। दक्षिण की ओर के राष्ट्र में वैश्य आर्य वहुत कम थे, अतः कृषि कार्य शूद्रों को अधिकता से करना पड़ा। इसी से शूद्रों को धन प्राप्त करने का अधिकार मिल गया। शान्ति पर्व के 60 वें अध्याय में कहा गया है कि 'राजा की अनुमति से शूद्र धन संचय कर सकता है। किन्तु धीरे-धीरे यह अनुमति बिना आज्ञा के ही मिल गई। धीरे-धीरे उन्हें अमंत्रक यज्ञ करने का अधिकार भी मिल गया (शा० 60 वें) अध्याय के देखने से पता चलता है कि महाभारत काल से पूर्व धार्मिक विधानों का अधिकांशतः पालन करने का अधिकार शूद्रों को मिल गया था। किन्तु 'त्रैवर्णिक' आर्यों ने अपने वैदिक कर्म का अधिकार शूद्रों को नहीं दिया फिर भी वैदिक काल से लेकर महाभारत के समय तक शूद्रों को पेशा और कर्म का अधिकार बहुत कुछ उच्च कोटि का हो गया।"[1]

डा० विमल चन्द्र पाण्डेय—शूद्र के लिये वेदाध्ययन तथा यजन निषिद्ध था। कोई भी शूद्र विद्याध्ययन के हेतु कुलपति के आश्रम में प्रवेश नहीं पा सकता था। एक स्थान पर स्वयं विदुर का कथन है कि 'शूद्र होने के कारण मैं शिक्षा नहीं दे सकता। शूद्र पाक यज्ञ के तो सामान्यतः अधिकारी हो गये थे। अनेक शूद्रों के यम नियम आर्यों के समान थे। विदुर, कायव्य, मतंग आदि शूद्र अनार्य अपनी सदाचारिता अथवा धर्म निष्ठा के कारण समाज में आर्यों की भांति प्रतिष्ठित थे। अब द्विजातियों की परिचर्या ही शूद्रों का एक मात्र कर्म न था। आवश्यकतानुसार वे वाणिज्य, पशुपालन तथा अन्य उद्योग धंधों का भी अनुसरण कर सकते थे। सभा पर्व में पश्चिमी भारत के शासन

---

1. 'महाभारत मीमांसा' पृ० 193

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कर्ता शूद्र राजाओं का उल्लेख किया गया है। शान्तिपर्व से विदित होता है कि शूद्रों का शासन संचालन में भी महत्त्वपूर्ण योग रहता था। उसके अनुसार राज्य के तीन प्रमुख पद शूद्रों को मिलते थे। राजसूय यज्ञ के अवसर पर युधिष्ठिर ने समस्त वर्णों के प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया था, इनमें शूद्र भी सम्मिलित थे।

श्री सुखमय भट्टाचार्य—यद्यपि भट्टाचार्य जी ने शूद्रों की स्थिति पर अपना विशेष मत नहीं दिया तथापि उनके उदाहरणों व प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि महाभारत काल में शूद्रों की स्थिति ठीक थी। धर्मव्याध, विदुर आदि शूद्र महान् सम्माननीय थे। धर्म-व्याध को अपनी जन्मगत वृत्ति द्वारा जीवन बिताने वाला होने पर भी ब्राह्मण-सन्तान के उपदेशक गुरु होने का सम्मान मिला था। विदुर, जिनका जन्म एक शूद्रा के गर्भ से हुआ था तथा जो स्वयं अपने को शूद्र कहते थे, सर्वत्र सम्मान के अधिकारी रहे थे। भगवान कृष्ण की भी विदुर पर यथेष्ठ श्रद्धा थी। महाभारत में उनके लिये 'महात्मा' विशेषण का प्रयोग किया गया है। युधिष्ठिर, दुर्योधन आदि श्रेष्ठ क्षत्रिय भी उन्हें चरण छूकर प्रणाम करते थे। अर्थात् विदुर जी के प्रति लोगों की अगाध श्रद्धा थी।[1] जिस प्रकार महाभारत में अपने वर्ण-धर्म को त्याग करने वाले ब्राह्मण को 'असाधु' एवं अपने धर्म का पालन करने वाले को 'साधु' कहा जाता था, उसी प्रकार अपने धर्म का त्याग तथा पालन करने वाले शूद्र को भी 'असाधु' या 'साधु' कहा गया है।[2] इसके अतिरिक्त 'चातुवर्ण्य' नामक सम्पूर्ण अध्याय में भट्टाचार्य जी ने कहीं भी एक वाक्य भी ऐसा नहीं लिखा जिससे उस काल में 'शूद्रवर्ण' की हेय अवस्था का आभास भी हो।

डा० रमाशंकर त्रिपाठी, एम.ए. पी एच. डी., लन्दन—"समाज में वर्ण व्यवस्था पूर्ण प्रतिष्ठित हो चुकी थी। उसमें अभिजात कुलीन राजन्य और ब्राह्मण विशिष्ट माने जाते थे। उन्होंने समाज की सारी सुविधाएं स्वायत्त कर ली थीं। अनार्य शूद्रों की अवस्था दासों की थी। इनके अपने कोई अधिकार न थे और इनका कर्त्तव्य केवल द्विजों की सेवा करना था।"

प्राचीन काल में वैद्य जी शूद्रों की स्थिति दासों जैसी बतलाते हैं फिर यह मानते हैं कि 'वैदिक काल से लेकर महाभारत काल तक शूद्रों का पेशा और कर्म का अधिकार बहुत कुछ उच्च कोटि का हो गया। उन्हें धन प्राप्त करने का अधिकार मिल गया, धीरे-धीरे उन्हें 'अयन्त्रक यत्र करने का भी अधिकार मिल गया।' इस प्रकार 'प्राचीन काल' से वैद्य जी का अभिमत, निश्चित रूप से, वैदिक काल से है तथा उस काल की अपेक्षा महाभारत काल में शूद्रों की स्थिति वे अधिक उन्नत मान रहे हैं। हमारा सम्बन्ध महाभारत काल की स्थिति का विचार करने से ही है, वैदिक काल की स्थिति से नहीं, तथा

1. महाभारत कालीन समाज, पृष्ठ 98
2. 'महाभारत कालीन समाज', पृष्ठ 98

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

महाभारत काल में स्थिति सुधर गई थी। श्रद्धेय डा० पाण्डेय जी के मत से 'शूद्रों को वेदाध्ययन व यजन का अधिकार नहीं था', यह उचित है। उन्हें वास्तव में वेदाध्ययन व वैदिक कर्मों के सम्पादन का अधिकार नहीं था। किन्तु उन्हें अमन्त्रक यज्ञ करने का अधिकार तो था ही। साथ ही उन्होंने पाक यज्ञ का अधिकार स्वयं स्वीकार किया है। उन्होंने विदुर, कायव्य व मतंग को 'अनार्य' कहा है, वह महाभारत के आधार पर नहीं अपितु स्वेच्छा से ही कहा है जिससे मैं सहमत नहीं हूं। विदुरादि को अनार्य कहीं भी नहीं कहा गया है। एक और बात यह है कि विदुर ने जो शूद्र होने के कारण शिक्षा देने को मना किया है वह केवल अध्यात्म विद्या के उपदेश के लिये कहा है।[1] साधारण नीति आदि की लौकिक शिक्षा के लिये नहीं। लौकिक शिक्षा तो वे धृतराष्ट्र युधिष्ठिर जैसे राजर्षियों को भी नित्य दिया करते थे। विदुर जी की नीति महाभारत में भरी पड़ी है। वैसे उन्होंने वैश्य कर्म का अधिकार स्वीकृत किया ही है तथा पश्चिमी भारत में शूद्र राजाओं की चर्चा की है इसके अतिरिक्त उन्होंने महाराज युधिष्ठिर की राजसूय यज्ञ में आमन्त्रित होना व शासन व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण योगदान होने की चर्चा करके स्पष्ट रूप से शूद्रों की, महाभारत काल में सम्माननीय स्थिति प्रदर्शित की है। श्री भट्टाचार्य जी ने भी शूद्रों की स्थिति हेय न मानकर श्रेष्ठ मानी है, जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है। डा० त्रिपाठी के मत में शूद्र अनार्य थे तथा उनकी स्थिति दासों जैसी थी। इस मत में महाभारत का सम्पूर्ण मत सम्मिलित नहीं है केवल अभिमत अंश ले लिया गया है। मेरे विचार से महाभारत काल में शूद्रों की स्थिति हेय नहीं थी अपितु अधिकांश में श्रेष्ठ थी। 'महाभारत' में इसके अनेक प्रमाण हैं जिनका वर्णन उपर्युक्त तीन विद्वानों के मत में किया जा चुका है।

महाभारत काल में वर्ण या जाति जन्मगत मानी जाती थी या कर्मगत ?

डा० रामजी उपाध्याय—'भारत की प्राचीन संस्कृति।'—महाभारत में जाति विभाग का मूल आधार कर्म ही माना गया है और विभिन्न जातियों को उनके-उनके वर्ण को प्रधानतः उनके कर्म और स्वभाव से उत्पन्न विकार कहा गया है। महाभारत के अनुसार कुल, स्वाध्याय और शास्त्रश्रवण में से कोई भी ब्राह्मणत्व का कारण नहीं माना गया है। जिसका आचार नष्ट हो जाता है, वह कहीं का नहीं रहता। पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले तथा शास्त्रज्ञ, ये सब व्यसनी और मूर्ख है। पण्डित तो वही है जो अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। चारों वेद पढ़ा होने पर भी यदि कोई दूषित आचरण वाला है तो वह किसी भी प्रकार शूद्र से बढ़कर नहीं है। वस्तुतः जो अग्निहोत्र में तत्पर है और जितेन्द्रिय है, वही ब्राह्मण है।

---

1. आदि पर्व।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सुखमय भट्टाचार्य—भट्टाचार्य जी के मतानुसार सबका जन्म से ही अपना-अपना कर्म निश्चित होता है। जन्मगत जाति धर्म किसी भी अवस्था में परित्याज्य नहीं है। ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से ही ब्राह्मण पूज्य होता है। सब प्राणियों को मित्र स्वरूप देखना, दान-ग्रहण, अध्ययन, तपस्या आदि करना ब्राह्मण का ही कर्म है, अन्य का नहीं। इससे प्रमाणित होता है कि जिस जाति में जन्म होता है, उससे भिन्न जाति के कर्त्तव्य कर्म करने का अधिकार मनुष्य को नहीं है। अतएव जन्म द्वारा ही जाति निश्चित होती है। सभी लोग जन्म से ही ब्राह्मण व क्षत्रीय कहलाते हैं, कर्म से नहीं। अश्वत्थामा जन्म से ब्राह्मण व कर्म से क्षत्रिय थे किन्तु सभी उन्हें ब्राह्मण कहते व मानते थे, क्षत्रिय कोई नहीं। इतना ही था कि ब्राह्मण यदि धर्म भ्रष्ट व पतित हो जाय तो भी उसे ब्राह्मण ही कहते थे, पतित, भ्रष्ट निन्दनीय, शूद्र तुल्य आदि भले ही कहा जाय। इस प्रकार भट्टाचार्य जी के मत से जाति तो जन्म-गत ही रहती थी किन्तु कर्मों के कारण यश, अपयश, मान-अपमान आदि की प्राप्ति होती थी तथा साधु-असाधु कहा जाता था। इसके अतिरिक्त भट्टाचार्य जी ने कुछ तर्क उपस्थित करके यह भी सिद्ध किया है कि कर्मगत वर्ण व जाति मानना असंगत है।

श्री विमल चन्द्र पाण्डेय—डा० विमलचन्द्र के मतानुसार महाभारत काल में दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का सतत संघर्ष चल रहा था। एक ओर तो परम्परा समर्थक समाज का कट्टरपंथी वर्ग जन्माश्रित वर्णव्यवस्था के आधार पर ब्राह्मणों की श्रेष्ठता तथा शूद्रों की हेयता को अक्षय रखने के लिये सचेष्ट था परन्तु इसके विरुद्ध समाज में एक नवीन विचारधारा का उदय हो रहा था जो वर्णव्यवस्था को जन्म पर नहीं अपितु कर्म पर आधारित करना चाहती थी। यह साधुकर्मा शूद्रों को वे समस्त अधिकार देना चाहती थी जो एक आर्य को प्राप्त थे। यद्यपि यह नवीन आन्दोलन अधिक सफल न हो सका तथापि इसने समाज की कट्टरपंथवादिता को हल्का-सा धक्का अवश्य दिया।

श्री भट्टाचार्य जी ने वर्णव्यवस्था को जन्मगत और कर्मगत उभय प्रकार की माना है तथा दोनों प्रकार की व्यवस्था के लिये पर्याप्त समुचित व निष्पक्ष प्रमाण भी मूल ग्रंथ में से दिये हैं। उनको देखने से दोनों प्रकार की व्यवस्था प्रतीत होती है। परन्तु उन्होंने निष्कर्ष में यही सिद्ध किया है कि वर्णव्यवस्था जन्म पर ही आधारित थी तथा उस काल की वास्तविक स्थिति भी यही थी, समाज में ब्राह्मणादि वर्ण जन्म के आधार पर ही माने जाते थे कर्म के आधार पर कदापि नहीं। मानापमान तो सदासद् कर्मों के अनुसार सभी को सभी कालों में प्राप्त होता रहता है तथा होता रहेगा। इससे वर्ण परिवर्तन नहीं हो जाता। श्री पाण्डेय जी को भी दो प्रकार के प्रमाणों को पाकर दो प्रकार की विचारधाराओं का संघर्ष होने का आभास होता है तो भी वे अन्त में कर्मगत वर्ण व्यवस्था मानी जाने के लिये प्रयत्नशील वर्ग के प्रयासों को असफल बतलाते हैं जिससे स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था जन्मगत मानी जाती थी और वह भी दृढ़ मूला थी क्योंकि विरोधी विचारधारा उसे नष्ट करने में असफल रही।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इस प्रकार सभी दृष्टियों से निष्पक्ष विचार करने पर महाभारत काल में वर्ण व्यवस्था जन्मगत मानी जाती थी कर्मगत नहीं, यही सिद्ध होता है, यही मेरा मत है।

(2) क्या ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों का पालन चारों वर्णों द्वारा किया जाता था या विशिष्ट वर्ण, विशिष्ट आश्रमों का पालन करता था ?

श्री सुखमय भट्टाचार्य—इसके सम्बन्ध में श्री भट्टाचार्य जी का मत है कि ब्राह्मणादि चारों वर्ण, आश्रम धर्म के अधिकारी है। शूद्रों में केवल अच्छे शूद्र को ही यह अधिकार दिया है किन्तु वेदाध्ययन प्रत्येक शूद्र के लिये निषिद्ध, होते हुए भी विदुर के वेदाध्ययन की बात मिलती है। शूद्र के गुरू-गृह वास का चित्र महाभारत में नहीं मिलता।

श्री चिन्तामणि विनायक वद्य—वैद्यजी[1] के मत से ब्रह्मचर्याश्रम में तीनों वर्णों—द्विजातियों को अधिकार था। शूद्र के गुरूकुल में रहकर—विद्या पढ़ने का कोई प्रमाण नहीं है। राजाज्ञा से तो शूद्र को भी चारों आश्रमों के पालन की आज्ञा मिल जाती है। ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर विद्याध्ययन करने का महाभारत में वैश्य का एक भी उदाहरण नहीं है क्षत्रियों में केवल श्रीकृष्ण ने उज्जैन रहकर व कौरव पाण्डवों ने घर पर ही कृपाचार्य व द्रोणाचार्य को रखकर अध्ययन किया या।

डा० राजबली पाण्डेय—'महाभारत में वानप्रस्थ और संन्यासवृत्ति का महत्त्व स्वीकार किया गया है, परन्तु कहा गया है कि घर में रहकर भी इसका पालन हो सकता है। क्षत्रिय के लिये वानप्रस्थ आश्रम शोभन नहीं वतलाया गया है। शूद्र का प्रायः एक ही आश्रम था, वह था गार्हस्थ्य। वैश्य तीन आश्रमों का निर्वाह करता था —ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, व वानप्रस्थ। इस प्रकार आश्रम की जटिलता कम हो गई थी। कहीं-कहीं इसकी शिथिलता भी पाई गई है।[2]

श्री भट्टाचार्य जी के मत से 'चारों वर्ण, चारों आश्रमों के अधिकारी हैं' यह उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि उन्होंने निश्चय ही एक-दो विशेष उदाहरणों को देखकर यह कहा है, वे अपवाद स्वरूप ही हैं। सामान्यतया महाभारत में वैश्य व शूद्र दोनों को वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने की राजा से आज्ञा प्राप्त करना पड़ती थी। यदि राजा उनका स्वभाव, आचरण व विचारों की परीक्षा करके पात्र समझता होगा तो आज्ञा दे देता था। इसके अतिरिक्त संन्यास आश्रम को 'भक्ष्याश्रम' भी कहा गया है तथा भैक्ष्य-चर्या का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही था, क्षत्रियों को भी संन्यास आश्रम के लिए राजाज्ञा प्राप्त करना पड़ती थी। शूद्रों के गुरुगृह वास का चित्र महाभारत में कहीं भी

1. 'महाभारत मीमांसा'-पृष्ठ 201
2. आदि पर्व-108।17-22

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भट्टाचार्य जी को ही प्राप्त नहीं हो रहा तथा अपने यहां आचार्य को रखकर बालकों को अध्ययन कराने के दो-एक उदाहरण राजाओं के ही हैं। यह भी सम्भव नहीं है कि आचार्य व उपाध्याय शूद्रों के घर रहकर उन्हें अध्ययन कराते थे। अतः सिद्ध है कि शूद्र विशेष परिस्थितियों में अध्ययन करते थे, सामान्यतः नहीं। विदुर जी तो इसके अपवाद हैं, उनका जन्म राजपरिवार में हुआ था तथा भीष्म जी ने उन्हें धृतराष्ट्र व पाण्डु के साथ पुत्रवत् पाला था तथा दोनों राजकुमारों के साथ-साथ, उनके ही समान, उनके संस्कार व शिक्षा-दीक्षा का प्रवन्ध किया था। सामान्यतया शूद्र के लिए एक आश्रम (गार्हस्थ्य) वैश्य के लिए दो आश्रम (ब्रह्मचर्य व गार्हस्थ्य), क्षत्रिय के लिए तीन आश्रम (संन्यास को छोड़कर) तथा ब्राह्मण को चारों आश्रमों का पालन करने का अधिकार था, अधिकार ही नहीं, उन्हें चारों आश्रमों का पालन करना अनिवार्य था। डा० राजवली पाण्डेय के मत से मेरे मत में केवल इतना अन्तर है कि वे क्षत्रिय को दो तथा वैश्य को तीन आश्रमों का अधिकारी मानते हैं जब कि वास्तव में वैश्य को दो व क्षत्रिय को तीन आश्रमों के पालन का अधिकार था। अन्तर का कारण यह है कि क्षत्रिय के लिए तो वानप्रस्थ की तभी आवश्यकता बतलाई गई जब कि वानप्रस्थ की अवधि तक वह युद्ध में वीरगति प्राप्त नहीं कर लेता। इस बात से उसका वानप्रस्थ का अधिकार तो नहीं छिन गया। यह तो केवल क्षत्रिय के लिए वानप्रस्थ की अपेक्षा युद्ध की श्रेष्ठता बतलाने के लिए है। यदि क्षत्रिय धर्मयुद्ध में देह त्याग देता है तो परमगति को प्राप्त होता है। वैश्य को जब कि वानप्रस्थ आश्रम के लिए राजा की आज्ञा लेने की आवश्यकता होती है तब उसे उसका स्वभावतः अधिकारी कैसे माना जाता है।

(3) महाभारत कालीन समाज में नारियों की स्थिति क्या थी ? क्या तत्कालीन समाज में बाल विवाह, विधवा विवाह बहुपति प्रथा, सती प्रथा, पर्दा प्रथा आदि प्रचलित थे अथवा नहीं ?

नारी शिक्षा

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य—वैद्य जी के मतानुसार महाभारत के समय उच्च वर्ण की स्त्रियों को शिक्षा देने की नीति तो निःसन्देह थी। ये स्त्रियां पढ़-लिख सकती होंगी। किन्हीं-किन्हीं को यह शिक्षा उच्चकोटि की भी दी जाती होगी। स्त्रियों को अपने घर पर ही शिक्षा दी जाती थी। वैद्य जी का अनुमान है कि स्त्रियों को वेदों की शिक्षा न दी जाती होगी क्योंकि वेद पढ़ाने के लिए उनके उपनयनादि संस्कार होने का कहीं वर्णन नहीं पाया जाता। उन्हें ललित कलाओं की शिक्षा भी दी जाती थी। केवल क्षत्रियों की कन्याओं की शिक्षा का उनके घर पर प्रबन्ध रहता था। ब्राह्मणों की

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कन्याएं सहज शिक्षा के कारण सुशिक्षित रहती थीं।[1]

श्री सुखमय भट्टाचार्य जी—भट्टाचार्य जी के मतानुसार महाभारत में अनेकों विदुषी महिलाएं पाई जाती हैं। कन्या के अभिभावक घर में शिक्षक रख कर ही कन्या की शिक्षा की व्यवस्था करते थे। जितनी भी विदुषी गुणवती स्त्रियों के उदाहरण मिलते हैं उनमें प्रायः सभी धनी एवं सम्भ्रात परिवारों की कन्याओं के हैं। साधारण समाज में कन्याओं की शिक्षा किस तरह होती थी, इसका कोई संकेत महाभारत में नहीं भिलता। स्त्रियों के शास्त्र चर्चा करने के विरोध में केवल एक उक्ति मिलती है। लेकिन पक्ष में उदाहरण स्वरूप अनेकों पंडिताओं तथा दीर्घदर्शनियों को लिया गया है। भट्टाचार्य जी का अनुमान है कि वेद पर स्त्रियों का अधिकार उसी काल में समाप्त होना प्रारम्भ हो गया था। इसीलिए किसी-किसी ने स्त्रियों का शास्त्रों पर अनधिकार बताया है।

डा० रमाशंकर त्रिपाठी—त्रिपाठी जी के मतानुसार महाभारत काल में नारी स्थान वैदिक काल की अपेक्षा नीचे उतर गया था और वह निरन्तर अद्योद्य गिरता जा रहा था।

नारी शिक्षा के सम्बन्ध में वैद्यजी के इस मत से, मैं सहमत हूं कि 'स्त्रियों को वेदों की शिक्षा नहीं दी जाती थी परन्तु उन्हें मामूली लिखना-पढ़ना सिखाया जाता था।' किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह शिक्षा सर्वसाधरण की बालिकाओं को दी जाती थी? महाभारत में नारी शिक्षा की किसी भी प्रकार की किसी व्यवस्था का वर्णन नहीं मिलता है तथा जितनी भी विदुषी व पंडिता महिलाओं का महाभारत में वर्णन है वे सब राजवंश या किसी उच्च कुल हैं, जैसा कि भट्टाचार्य जी का भी मत है। अतः यही सिद्ध होता है कि विद्वान ब्राह्मणों की या राजवंश की बालिकाओं की ही शिक्षा व्यवस्था हो सकती थी सर्वसाधारण की नहीं। राजकन्याएं घर पर भी पढ़ती थीं इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं क्योंकि गुरुकुल में किसी भी बालिका का अध्ययन हेतु जाना महाभारत में नहीं बतलाया गया है।

बाल विवाह

वैद्यजी के मतानुसार स्त्रियों का विवाह प्रौढ़ावस्था में ही होता था, ऐसा उनका अनुमान है। कारण यह है कि स्त्रियां विवाह के समय अधिकतर तरुण व उपभोग के योग्य होती थीं क्योंकि विवाह के दिन या तीसरे दिन पति-पत्नी के समागम होने की रीति उस काल में प्रचलित थी। यह भी नियम था कि ऋतुकाल प्राप्त होने पर लड़की तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करे कि पिता उसे प्रदान करता है या नहीं और तब तक वह

1. 'महाभारत मीमांसा' पृ०-215

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रदान न करे तो कन्या को स्वयं अपना विवाह कर लेने का अधिकार है।

श्री भट्टाचार्य जी के मतानुसार विवाह का विधान तो अल्प वयस्क का ही था। आयु प्रमाण बालिकाओं के लिए 7 से 10 वर्ष व बालकों के लिए, 16 से 25 वर्ष तक की आयु का प्राप्त होता है। अजात रजस्का, अनागत यौवना कुमारी का विवाह करना ही शास्त्रीय विधान था। घर पर अविवाहिता वयस्का कन्या का रहना उचित नहीं माना जाता था। ऋतुमती होने से तीन वर्ष के भीतर तो विवाह हो ही जाना चाहिए नहीं तो कन्या को अधिकार था कि वह स्वयं अपने लिए पति ढूंढ़ कर उससे विवाह कर ले। साथ ही उनका कहना है कि समाज में इस सिद्धांत का प्रचलन नहीं पाया जाता। विवाह के सब चित्र युवक-युवती विवाह के मिलते हैं। बालिका विवाह का एक भी उदाहरण दृष्टि में नहीं आता।

मेरे मत से बाल विवाह की प्रथा उस काल के सामान्य वर्ग में थी। जैसा कि महाभारत में भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा था कि 10 वर्ष की कन्या के लिये 30 वर्ष का पुरुष और 7 वर्ष की कन्या के लिए 21 वर्ष का पुरुष विवाह के लिए उत्तम है। वैद्य जी ने भीष्म जी के कथन के इस श्लोक में कुछ परिवर्तन करके 'नग्निकां दस वार्षिकी' पाठ के स्थान पर 'हृद्यां षैडष वार्षिकां' पाठ स्वीकार किया है। उन्होंने यह भी कहा कि कन्याएं स्वयंवर करती थीं जो कि अल्प आयु में सम्भव नहीं है। भट्टाचार्य जी ने सिद्धांत रूप में अजातरजस्का कन्या का ही विवाह मान्य किया है। किन्तु उनका कहना है कि महाभारत के विवाहों के उदाहरण सब युवक-युवतियों के हैं। विचार करने पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों प्रकार की विवाह प्रथा उस काल में प्रचलित थीं। राजाओं में अधिकतर बड़ी आयु में विवाह किया जाता था। वे अपनी कन्याओं का शिक्षा का भी प्रबन्ध करते थे। किन्तु सामान्य वर्ग अल्प आयु में ही कन्याओं का विवाह कर देते थे। महाभारत में कम से कम आयु 7 वर्ष तथा अधिक से अधिक आयु 'रजोदर्शन से तीन वर्ष के भीतर' अर्थात् 16 या 17 वर्ष की आयु की सीमा विवाह के लिए मिलती है। जिसमें ऐसा कोई विधान नहीं मिलता कि 'इतनी आयु के नीचे विवाह करने पर अमुक दण्ड प्राप्त होगा। परन्तु अधिक आयु के लिए बन्धन है कि कन्या को चाहिए कि रजोदर्शन के पश्चात् तीन वर्ष तक अपने अभिभावक की बाट देखे कि क्या वे उसे किसी को समर्पित करते हैं। यदि वे तीन वर्ष के भीतर उसका विवाह न करें तो उसका अधिकार ही नहीं अपितु कर्त्तव्य है कि वह अपना पति स्वयं चुनकर उससे विवाह कर ले। ऐसा करने में उसे, उसके पति को या उसकी सन्तान को कोई दोष लगेगा। इसके विपरीत यदि वह ऐसा नहीं करती तो प्रजापति के यहां दोषी मानी जाएगी। 16 वर्ष तक विवाह न करने पर इतना कठोर दण्ड था तो कन्या के माता-पिता अवश्य उसका विवाह अल्प आयु में कर देते होंगे। भारत में रजोदर्शन का समय 12, 13 वर्ष की आयु है। रजोदर्शन होते ही माता-पिता अधिक चिन्तित हो जाते होंगे। यदि इस स्थिति पर विचार किया जाए तो उदाहरण तो युवावस्था के विवाहों के मिलते

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हैं तथा कुछ महिलाएं विवाह के समय विदुषी मिलती हैं। तो इसका यही उत्तर हो सकता है कि ये विवाह अधिकतर राज्यवंश की या उच्च वर्ग की कन्याओं के हैं जिनका कि अध्ययन मस्तिष्क के उचित विकास एवं अध्यापन की उचित व्यवस्था के कारण 15-16 वर्ष आयु तक पर्याप्त अध्ययन हो सकता है। युवावस्था के विवाह के लिए वैद्य जी ने एक और तर्क दिया है कि उस काल में विवाह के ही दिन या तीसरे दिन पति-पत्नी का समागम होने की प्रथा प्रचलित थी। किन्तु 15-16 वर्ष की आयु सीमा रखने में इस प्रथा से कोई बाधा नहीं पड़ती क्योंकि इस प्रथा का पालन तो रजोदर्शन के पश्चात् हो सकता है।

विधवा विवाह एवं बहुपति प्रथा

वैद्यजी के मतानुसार महाभारत से भी अति प्राचीन काल से भारतीय आर्यों में, पतिव्रत धर्म की उच्च कल्पना के कारण, पुनर्विवाह की रीति बन्द हो गई। शूद्रों में इसका प्रचलन अवश्य था। किन्तु द्विजातियों में इसका प्रचलन बिल्कुल नहीं था। महाभारत से पूर्व भी पुनर्विवाह को पाप और स्वच्छन्द व्यवहार माना जाता था। आर्य लोग विवाह सदा अभुक्त पर्वा कन्या से करते थे। महाभारत में एक स्थान पर स्पष्ट कहा है कि 'भूक्त पूर्वा से विवाह करना पातक है। अभुक्त स्त्रियों का पुनर्विवाह उस समय निन्द्य समझा जाता था। इसी धारणा के कारण हमारे धर्मशास्त्र ने एक प्रकार से निश्चय कर दिया कि विवाह के योग्य कन्या ही है। गतभतृका स्त्री के पुनर्विवाह होने का प्रत्यक्ष वर्णन नहीं पाया जाता। अर्थात् महाभारत के समय आर्यों में पुनर्विवाह की रीति प्रशस्त न थी और विवाह में वधू के अनुपभुक्त होने का नियम था।

भट्टाचार्य जी[1] विधवा स्त्रियों का ब्रह्मचर्य पालन करना ही उत्तम धर्म बतलाते हैं। महाभारत में विधवा के द्वितीय बार पति ग्रहण का विधान मिलता है। पति के अभाव में देवर को पति रूप वरण करने के समर्थन में दो-चार वाक्य ही कहे गये हैं। किन्तु देवर को पति रूप में वरण करने के कई उदाहरण मिलते हैं। इन्होंने यह भी लिखा है कि अयोध्यापति ऋतुपर्ण दमयन्ती के विवाह का संवाद मिलते ही तत्क्षण पाणि-ग्रहण के उद्देश्य से चल दिए। यदि नारी का अन्य पतिग्रहण समाज में बिल्कुल ही अप्रचलित होता तो इस सम्वाद एवं ऋतुपर्ण के यात्रा पर चल पड़ने में कोई सामंजस्य न होता। उस समय दमयन्ती दो सन्तानों की जननी थी। इससे पता लगता है कि उस काल के समाज में किसी-किसी अवस्था में विवाहिता पुत्रवती नारी भी इच्छा होने पर अपर पुरुषों को पति रूप में ग्रहण कर सकती थी।

वैद्य जी के मतानुसार एक नारी का बहुपति ग्रहण अतिशय गर्हित है। उन्होंने

---

1. 'महाभारत कालीन समाज', पृ० 44

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कहा है कि द्रौपदी का विवाह सामाजिक नियम का व्यतिक्रम मात्र था, उसका समर्थन करने लिए, प्राचीन व्यवहार, पूर्व जन्म के कर्म फल और सबसे अधिक मां के आदेश पर अधिक बल देना पड़ा है। नियम का व्यतिक्रम न होकर यदि सामाजिक व्यवहार के अनुरूप होता तो आशंका व उसके समाधान के लिए नाना प्रकार की कल्पनाओं की आवश्यकता नहीं थी। पांचाली के प्रति सबकी अच्छी धारणा भी नहीं थी।

एम०विन्टरनिटज[1] के मतानुसार इतिहास काव्य में पांच पतियों के साथ विवाह की प्रथा का उल्लेख निःसन्देह पुराण कथा का प्राचीन अंग है क्योंकि बहुपतित्व अथवा समूह विवाह, जिसका एक उदाहरण, पाण्डवों का विवाह है, आज भी भारत के कुछ स्थलों में प्रचलित है। पर प्राचीन भारत में इस प्रथा को कदापि वैधानिक नहीं माना गया है। ब्राह्मणों की दृष्टि से तो यह एकदम विपरीत है। जब द्रुपद कहते हैं 'एक पुरुष की अनेक पत्नियां होती हैं पर यह कभी नहीं सुना गया है कि एक स्त्री के अनेक पति होते हैं' तो वे भारत की सामान्य धारणा को अभिव्यक्त करते हैं। इसके बावजूद जब इतिहास काव्य के पांच प्रमुख नायकों की एक ही पत्नी होती है तो इसमें यह सिद्ध होता है कि प्राचीन इतिहास काव्य तथा सारी पुराण कथा के साथ यह बात इतने अविभाज्य रूप में मिल गई है कि बाद में भी जब महाभारत अधिकाधिक ब्राह्मण धर्म की विशेषताओं से युक्त होने लगा और धर्मग्रन्थ बन गया तब भी इस बहुपतित्व की बात को महाभारत से निकालने की कल्पना नहीं की जा सकी। पांच पतियों के साथ विवाह को उचित बनाने के लिए अनेक उलझनों भरी कहानियां भर दी गई हैं। एक अवसर पर व्यास किसी कन्या की बेवकूफी से भरी एक कथा सुनाते हैं जिसमें पति न मिलने पर वह कन्या शिव से पति देने की प्रार्थना करती हैं। चूंकि उसने पांच बार, मुझे एक पति दो' कहा था, इसलिये शिव ने अगले जन्म में पांच पतियों का उसे वरदान दिया। यही कन्या कृष्णा के रूप में पैदा हुई और इसलिए पांचों पाण्डव उसके पति हुए। एक दूसरी कथा इससे अधिक अविश्वसनीय नहीं है—कुम्हार के घर में भिक्षुक ब्राह्मणों के भेष में रहने वाले पांचों पाण्डव जब द्रौपदी को लेकर लौटे तब मां को पुकार कर कहा कि वे भिक्षा मांगकर ले आये हैं, तो कुन्ती ने अपनी आदत के अनुसार बिना देखे ही कहा कि सब मिलकर उसका उपभोग करो।' इसके बाद उन्होंने देखा कि यह भिक्षा वास्तव में एक स्त्री है तो बड़ी परेशान हुई। पर मां के वचन को कैसे झूठा किया जा सकता था। इसलिये पांचों भाइयों को मिलकर द्रौपदी का उपभोग करना पड़ा। व्यास ने द्रुपद को एक तीसरी कथा सुनाई। वह कथा 'पचेन्द्राख्यान' है जो शैव कथा लगती है। यही बड़ी अविश्वसनीय व घपले की कथा है जिसके अनुसार शिव का अपमान करने के दण्ड स्वरूप इन्द्र धरनी पर पांच भागों में उत्पन्न हुए और लक्ष्मी या श्री का अवतार

1. एम० विन्टरनित्ज, अनु० डा० रामचन्द्र पाण्डेय : 'प्राचीन भारतीय इतिहास', पृ० 25

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उनकी पत्नी होने वाली थी। पांचों पाण्डव एक ही इन्द्र के अवतार हैं। इस लिए द्रौपदी का एक ही पति है। औचित्य सिद्ध करने के लिये दी गई इन तीनों कथाओं को परस्पर अथवा मुख्य कथा से संगत बनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। दूसरी ओर बार-बार और स्पष्ट रूप में इस बात पर जोर दिया गया है कि परिवार की प्राचीन प्रथा है—जो सामान्य भारतीय प्रथा नहीं अपितु पाण्डवों के परिवार की अपनी प्रथा है। बौद्ध और जैन कथाओं में द्रौपदी को केवल अर्जुन को नहीं अपितु पांचों पांडवों को एक साथ वरण करती हुई बताया गया है। आश्चर्य है कि कुछ यूरोपीय विद्वानों ने भी, पांच पतियों के विवाह का, पुराण कल्पना, श्लेष कथा, या प्रतीक के रूप में व्याख्यान और औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, इसको जातीय तथ्य के रूप में वे स्वीकार नहीं करते।

विधवा विवाह के सम्बन्ध में वैद्य जी ने अपना मत यही पुष्ट किया है कि 'महाभारत के समय आर्यों में पुनर्विवाह की रीति प्रशस्त न थी और विवाह में वधू के अनुपभुक्त होने का नियम था।' भट्टाचार्य जी ने नल-दमयन्ती के उदाहरण को प्रस्तुत करके यह सिद्ध किया है कि 'इस काल के समाज में किसी-किसी अवस्था में विवाहिता पुत्रवती नारी भी इच्छा होने पर अपर पुरुष को पति रूप में ग्रहण कर सकती थी।' राजा नल की कथा के अतिरिक्त उन्होंने 'महाभारत' में पति की मृत्यु के पश्चात् देवर को पति रूप में वरण करने का विधान था तथा ऐसा करने के 'महाभारत में अनेक उदाहरण भी हैं 'कहा है।' इसके अतिरिक्त 'पौनर्भव' संतान, जिसकी मां एक बार से अधिक विभिन्न पति ग्रहण करती है, की भी चर्चा की है। कहा है कि जब पुत्रों के प्रसंग में पौनर्भव का नाम आया है तो वह उस काल में स्त्रियां एक से अधिक विवाह अवश्य करती थीं। अब यह देखना है कि वास्तविकता क्या थी।

महाभारत में यह कहा गया है कि महाभारत काल से भी अति प्राचीन काल वैदिक काल, से दीर्घतमा ऋषि द्वारा पुनर्विवाह न करने की प्रथा चलाई गई थी जो महाभारत काल तक पूर्ण रूपेण प्रचलित हो गई होगी। फिर भी जो महाभारत काल में पुनर्विवाह होने न होने के दोनों रूप मिलते हैं उनमें मुझे यही कारण विदित होता है कि शूद्रों में यह प्रथा चलती होगी। दाय विभाग में उनके लिए भी नियम बनाना आवश्यक था। अतः पुनर्भव का नाम भी सम्मिलित करना पड़ा क्योंकि समाज के एक वर्ग—वर्ण-संकर जातियां—में यह प्रथा प्रचलित थी, उनके पौनर्भव संतान होती थी। समाज में नियमों का उल्लंघन होता ही रहता है। इसी सिद्धान्त से स्वैरिणी व पास से भयभीत न होने वाली नारियां पुनर्विवाह करती ही थीं नियम भले ही कुछ बना रहे।

भट्टाचार्य जी ने नल का उदाहरण दिया है। वह उदाहरण ही महाभारत काल के लिये उचित नहीं है। पौराणिक परम्परा में राजा नल को सत्य युग का बतलाया गया है। यदि उस समय यह प्रथा किसी अंश में प्रचलित थी तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु दमयन्ती का आशय भले ही पुनर्विवाह न करना था, पति की खोज करना था और

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

राजदूत भी उसकी घोषणा के साथ ही उसके लिये 'स्वैरिणी' का विशेषण लगा रहे थे किन्तु यह भी सत्य है कि अयोध्या नरेश ऋतुपर्ण इस समाचार को सुनकर विवाहिता व पुत्रवती दमयन्ती से विवाह करने चल दिये। परन्तु यह कथा एक तो महाभारत काल की नहीं है दूसरे राजा ऋतुपर्ण भी स्वैर व्यवहार करने वाले हो सकते हैं न कि यह प्रथा ही सिद्ध होती है।

बहुपतित्व की प्रथा का होना वैद्य जी एवं भट्टाचार्य जी दोनों को ही मान्य नहीं है जैसे कि महाभारत के अन्तर साक्ष्य से भी सिद्ध है किन्तु एम० विन्टरनिटज महोदय, ने अपने मत में अनेक अनुमान व थोथे तर्क देके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'यह एक आकस्मिक घटना नहीं अपितु भारतीय आर्यों की प्रथा थी।' वे कहते हैं कि 'यह बहुपतित्व या समूह विवाह, जिसका महाभारत में एक उदाहरण, पांडवों का विवाह है निसन्देह पुराण कथा का एक अंग है तथा आज भी भारत के कुछ स्थलों में प्रचलित है। भले ही यह ब्राह्मणों के बिल्कुल विपरीत था तथा वैधानिक नहीं माना गया था। किन्तु एक महाकाव्य के पांच नायकों का सामूहिक विवाह इस प्रथा की पुष्टि करती है।' इसके प्रमाण में वे कहते हैं कि 'यह कथा महाभारत से तब भी अलग न की जा सकी—पुराण कथा का अविभाज्य अंग होने जाने से--जब महाभारत बढ़ते-बढ़ते ब्राह्मण धर्म की विशेषताओं से युक्त एक धर्म ग्रन्थ हो गया।' इस बात में आप एक तो महाभारत को कल्पित महाकाव्य मान रहे हैं जिसके कल्पित नायक पांच पाण्डव हैं। दूसरे, महाभारत में समय-समय पर मनमानी बातें हटा देने व बढ़ा देने की भी कल्पना कर रहे हैं। फिर आगे उन्हीं प्रमाणों को जो बहुपतित्व प्रथा का खण्डन करने वाले हैं आप 'उसे उचित बताने के लिये उलझनों भरी कहानियां भर जोड़ देना' बतलाते हैं। द्रौपदी की पूर्वजन्म की तपस्या की कथा को जो महामुनि व्यास ने सुनाई, आप 'उस व्यास द्वारा किसी कन्या की बेवकूफी से भरी एक कथा' कहते हैं। फिर इस बात की खिल्ली उड़ाते हैं कि कुन्ती को यह कहने के पश्चात् कि भिक्षा का पांचों मिलकर उपभोग करो, 'यह ज्ञात हुआ कि यह तो एक स्त्री है, परेशान हुई, पर अब क्या था मां के वचन को झूठा किया जा सकता था। इस लिये पांचों भाइयों को मिलकर द्रौपदी का उपभोग करना पड़ा। इसी प्रकार पंचेन्द्राख्यातम' को आप बड़ी अविश्वासनीय तथा घपले की कथा कहते हैं और इस प्रकार महाभारत में ही प्राप्त बहुपतित्व प्रथा के विरोधी तीनों प्रमाणों को हंसी-हंसी में चुटकी में उड़ा देते हैं। मेरे मत में महाभारत काल में बहुपतित्व प्रथा कदापि नहीं थी। जिसके लिये महाभारत ग्रन्थ में ही साक्ष्य प्राप्त है उसके लिये अनुमान से काम लेने की आवश्यकता ही क्या है

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सती प्रथा

वैद्य जी के मतानुसार सती की प्रथा भारतीय आर्यों को छोड़ और किसी जाति में प्रचलित नहीं देख पड़ती। सती के धैर्य के लिये पातिव्रत्य की अत्यन्त उदात कल्पना ही आधार है। भारत में सती की प्रथा प्राचीन काल से लेकर ई० पूर्व तक प्रचलित देख पड़ती है। यूनानी इतिहासकारों ने भी इस सम्बन्ध का प्रमाण लिख छोड़ा है। महाभारत काल में अनेक अभिजात महिलाओं कुन्ती, सत्यवती, उत्तरा, कृपा आदि का पति मृत्यु के पश्चात जीवित रहना वर्णित है। अतः महाभारत काल में सती प्रथा की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो पाई थी।

डा० रमाशंकर त्रिपाठी के मत से भी महाभारत काल में सती प्रथा का होना पाया जाता है।

भट्टाचार्य जी लिखते हैं कि पति की मृत्यु पर कोई-कोई महिला अपने पति की सहगामिनी बनने के लिये पति की चिता में ही अपने शरीर की आहुति दे देती थीं। यह सहमरण प्रथा सर्वत्र व्यापक रूप से प्रचलित नहीं थी। यद्यपि सहभरण की प्रसंशा पर्याप्त की गई है—लेकिन समाज में यह प्रथा अपनी जड़ न जमा सकी थी। सत्यवती, कुन्ती, सत्भामा आदि विधवाओं के ब्रह्मचर्य पालन दृष्टान्तों से यह अच्छी तरह समर्थित हो जाता है। उस काल में भी सहभरण के दोनों पक्षों का समाज में समर्थन किया जाता था।

महाभारत में दोनों प्रकार के उदाहरण प्राप्त हैं, पति की मृत्यु के पश्चात उसके शव के साथ सती हो जाना तथा सती न होकर ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन यापन करना। उदाहरण अनेक हैं, परन्तु पाण्डु की दो रानियां थीं—एक कुन्ती तथा दूसरी माद्री—इनमें से माद्री ने सती हो जाने की उत्कट इच्छा की, तब कुन्ती अपने तीन पुत्रों व माद्री के दो पुत्रों की देखभाल के लिये जीवित रह गई तथा ब्रह्मचर्य पूर्वक धर्माचरण करती हुई जीवन व्यतीत किया। महाभारत काल में वास्तव में पातिव्रत के कारण, सती प्रथा तो थी पर यह स्त्री की इच्छा के ऊपर था कि वह पति का वियोग न सह सकने के कारण उसके साथ सती होना चाहती है या वियोग में जलती हुई ईश्वराराधन, तप य ब्रह्मचर्य का अनुसरण करती हुई जीवन व्यतीत करना चाहती है। अतः दोनों ही प्रथा थीं। श्री वैद्य जी का भी यही अभिमत है और भट्टाचार्य जी भी इसी मत के पक्ष में हैं। इसके अतिरिक्त डा० रमाशंकर त्रिपाठी ने भी सती प्रथा को अनिवार्य या आवश्यक प्रथा नहीं बतलाया है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पर्दा प्रथा

वैद्य जी के मतानुसार महाभारत के कई एक वर्णनों से यह अनुमान होता है कि क्षत्रिय राजाओं में महाभारत के समय पर्दा रहा होगा इसके लिये उन्होंने दो-एक उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। महाभारत के वर्णनों से अनुमान होता है कि जिन स्त्रियों के पति जीवित होते थे वे ही पर्दे में रहा करती थीं। किन्तु अनाथ अथवा विधवा स्त्रियां बाहर जनसाधारण में निकलती थीं। इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत के समय पर्दे की प्रथा प्रत्यक्ष वर्तमान थी। पश्चात भी मेगस्थनीज द्वारा उल्लिखित किया गया है। इसके विरुद्ध सुभद्रा, द्रौपदी आदि का सार्वजनिक स्थानों में घूमना पर्दा प्रथा के न होने को सिद्ध करता है। रामायण काल में सीता की शुद्धि के समय राम ने कहा, 'विवाह यज्ञ अथवा संकट के समय यदि स्त्रियां लोगों के समक्ष आएं तो कोई हानि नहीं' अर्थात ऐसे अवसरों पर तो स्त्रियों के लिये कोई पर्दा था ही नहीं।

डा० विमल चन्द्र पाण्डेय के मतानुसार पूर्व काल में विवाहिता स्त्रियां सार्वजनिक सभाओं में नहीं लाई जाती थीं। वे आगे लिखते हैं कि इसके विपरीत कौशल्यादि राम माताओं का बन जाते समय मुखावरण की चर्चा नहीं है। निष्कर्ष यह है कि महाभारत काल तक साधारणतया पर्दा प्रथा का प्रचलन न था। हां, राजवंश में अपनी अभिजातता एवं प्रतिष्ठा के सम्वर्धनार्थ कदाचित महिलाओं को अधिकाधिक लोक पृथक् रखने की प्रणाली का प्रारम्भ हो गया था। समाज का एक अभिजात वर्ग इसे राज सत्कार की दृष्टि से देखने लगा था। परन्तु यह भावना अभी तक लोकप्रिय या सर्वसम्मत न हुई थी। रामायण में स्वयं राम का कथन हैं कि, 'गृह, वस्त्र, प्राकार आदि व्यर्थ हैं। स्त्री का चरित्र ही इसका आवरण है।' यह सब नवोन्मेष पर्दा प्रथा की निरर्थकता को प्रकट करते हुए, इसके प्रचार को हतोत्साहित करना है।

डा० रमाशंकर त्रिपाठी के मतानुसार महाभारत में पर्दे की प्रथा का भी उल्लेख जहां-तहां मिलता है। यद्यपि सम्भवतः यह प्रथा दरबारों में ही बरती जाती थी।

भट्टाचार्य जी ने लिखा है कि विवाहिता स्त्रियां साधारणतया अन्तःपुर में ही वास करती थीं। लेकिन भद्र समाज में अन्तःपुर प्रथा सब जगह प्रचलित नहीं थी। विशेष उत्सवों में नारियां भी सहयोग दिया करती थीं।

वैद्य जी के मत से उस काल में विवाहिता स्त्रियां पर्दे में रहा करती थीं तथा अनाथ व विधवा स्त्रियां जन साधारण में बाहर निकलती थीं। जीवित पति वाली स्त्रियों के लिये एक नियम था कि 'विवाह, यज्ञ व संकट के समय स्त्रियों को पर्दे की आवश्यकता नहीं थी यही मत मुझे उचित प्रतीत होता है, इसी नियम के अनुसार द्रौपदी पतियों के साथ वन में रही, वहां वह किसी प्रकार का पर्दा नहीं करती थी। इसके विपरीत डा० विमल चन्द्र पाण्डेय कौशल्यादि राम माताओं का उदाहरण देकर यह सिद्ध

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

करते हैं कि महाभारत काल तक साधारणतया पर्दा प्रथा का प्रचलन न था। यद्यपि इससे पूर्व वे स्वयं महाभारत में से पर्दा प्रथा की पुष्टि के लिये दो प्रमाण देते हैं किन्तु निष्कर्ष रामायण के आधार पर निकालते हैं। भट्टाचार्य जी केवल राज घराने की स्त्रियों में ही अन्तःपुर निवास की प्रथा बतलाते हैं किन्तु य; भद्र समाज में प्रत्येक स्थान पर प्रचलित नहीं थी। निष्कर्ष यही निकलता है कि न तो सर्वत्र पर्दे का प्रचलन ही था तथा न पर्दे की प्रथा का अभाव था। केवल अन्तःपुर निवास की प्रथा कुछ-कुछ प्रचलित थी।

(4) क्या तत्कालीन भारतीय समाज अधिकांश में मांसाहारी था अथवा शाकाहारी ? क्या उस काल के ब्राह्मण भी बहुलांश में मांस भक्षी थे ? क्या महाभारत काल में गौ मांस भक्षण व गौ वध प्रचलित था ?

भट्टाचार्य जी के मतानुसार मांस भक्षण की निन्दा भी है और उसका विधान भी लेकिन ऐसा देखा जाता है कि प्रायः सभी मांस खाते थे। यद्यपि मांस खाकर शरीर की वृद्धि करने वाले को क्षुद्र व नृशंस कहा गया है फिर भी मांस भक्षण के उदाहरण महाभारत में कम नहीं है। युधिष्ठिर ने अपने राजसूय यज्ञ में ब्राह्मणों को बराह एवं हिरण का मांस दिया था। यज्ञों में वध किये गये पशुओं का, पितरों की तृप्ति के उद्देश्य से, वेदमंत्रों द्वारा बल किये गये, ब्राह्मण के उद्देश्य से मारे गये तथा शिकार में मारे गये पशुओं का मांस वैध माना जाता था और केवल आत्मतृप्ति के लिए पशु वध करके मांस खाना निषिद्ध था। सब खाद्यों में मांस का व्यवहार ही सबसे अधिक था। भोजादि के प्रसंग में मांस का वर्णन ही विस्तृत रूप से हुआ हैं। धनी परिवारों में खाद्य वस्तुओं में मांस का व्यवहार ही सर्वाधिक होता था। लिखा है कि श्राद्ध में अगर मछली का दान दिया जाये तो पितर दो मास तक परितृप्त होते हैं। ब्राह्मण केवल शल्क वाली मछली खाते थे।

डा० रामजी उपाध्याय[1] के मतानुसार—मांस खाने का प्रचार उस काल में प्रायः धनी वर्ग में था। इसी समय से मांस भोजन का निषेध प्रारम्भ हुआ। अनुशासन पर्व में युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म ने कहा कि 'जो सुन्दरता, दीर्घ आयु, असीम शक्ति, तीव्रबुद्धि और स्मरण शक्ति चाहता है, उसे हिंसा से बचना चाहिए।' इस प्रकार मांस भोजन कम तो हुआ किन्तु यज्ञ करते समय देवताओं और पितरों को समर्पित करके मांस भोजन करना भारत से जा न सका।

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य[2] के मतानुसार—प्राचीन वैदिक महर्षि लोग यज्ञ

---

1. 'प्राचीन भारत की संस्कृति', पृ०-72
2. 'महाभारत मीमांसा', पृ०-249

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के पक्के पुरस्कर्ता थे। ये सभी वैदिक यज्ञ हिंसायुक्त होते थे। भांति-भांति के पशु मारे जाते थे और उनका हवन होता था। भारतीय आर्य मांस भक्षण करते थे। उस काल में तरह-तरह से इस प्रश्न का निर्णय किया जाता था कि हिंसायुक्त यज्ञ करना चाहिए या अहिंसा युक्त। इस प्रश्न के सम्वन्ध में महाभारत काल में बहुत कुछ विचार या विवाद हुए।

महाभारत के समय गौवध या गौमांस अत्यन्त निन्द्य समझा जाता था। महाभारत के समय 'गवालम्भ', जो वैदिक काल में प्रचलित था, विल्कुल बन्द हो गया था। गाय अथवा बैल का वध पहाड़ी लोगों में भी निषिद्ध था। यह नहीं माना जा सकता कि यह सब जैन व बौद्ध उपदेशों के प्रभाव से हुआ। यह पहले से ही दिखाई पड़ता है। गाय बैलों के सम्बन्ध में पहले से ही पूज्य भाव था तथा श्रीकृष्ण की गौ भक्ति से उन्हें और भी महत्त्व प्राप्त हो गया। गायों की पवित्रता के सम्बन्ध में महाभारत में अनेक स्थलों पर वर्णन है। यह निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि महाभारत काल के पूर्व से ही गाय बैलों की हिंसा वन्द हो गई थी।

यद्यपि क्षत्रिय लोग महाभारत काल में मांसाहार पूर्ववत् करते थे तथापि मांस के सम्बन्ध में समस्त लोगों की प्रवृत्ति—विशेषतः ब्राह्मणों की, मांसाहार को वर्जित करने की थी। भिन्न-भिन्न रीतियों से यह बात सिद्ध होती है। साधारण तौर पर यह तत्त्व निश्चित था कि आध्यात्मिक विचार करने वाले मनुष्य के लिये मांसाहार से हानि होती है। अपने कामों में उन्हें सिद्धि प्राप्त नहीं होती, भारतीयों ने यह सिद्धान्त स्थिर कर दिया था। साधारण रीति से मनु ने जो तत्त्व बतलाया था वह सबको अच्छा लगा था।[1] यह नियम था कि गृहस्थ ब्राह्मणों तक को व्यर्थ मांस भक्षण नहीं करना चाहिये। तपस्या करने वाले लोग मांस भक्षण से अलग रहते थे। फिर भी उस काल में प्राचीन परम्पराओं तथा वेदोक्त आज्ञाओं में और महाभारत काल की मान्यता (मांस न खाने की) में संघर्ष चल रहा या। ब्राह्मणों का वहुमत मांस भक्षण न करने की ओर था तो भी कुछ ब्राह्मणों की स्वतन्त्रता के लिए तथा वेद की उन मंत्रों की रक्षा के लिये, जिनके द्वारा यज्ञ में मांस भक्षण का दोष नहीं था, मांस भक्षण वेदों के मन्त्रों से आहुति देककर शुद्ध करने के पश्चात नहीं माना गया।

डा० रमाशंकर त्रिपाठी[2] के मतानुसार—महाभारत काल में जनता मांसभक्षण और सुरापान भी करती थी। यद्यपि अहिंसा के सिद्धान्त के प्रभाव से समाज में शाकाहारियों की संख्या नित्यप्रति वढ़ती जा रही थी। प्राचीन काल के समुन्नत मेघावियों ने अहिंसा के सिद्धांत की विशिष्टता प्रस्तुत कर दी थी।

---

1. न मांस भक्षणे दोषो न मदे न च मैथुने।
   प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ ॥मनुः॥
2. "प्राचीन भारत का इतिहास", पृ० 57

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

श्री भट्टाचार्य जी महाभारत काल में मांस खाने की निंदा व न खाने का विधान भी बतलाते हैं किन्तु उदाहरणों के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि सभी मांस खाते थे। ब्राह्मण भी मांस खाते थे। बड़े-बड़े भोजों में मांस की परोस होती थी। इसके विपरीत डा० रामजी उपाध्याय केवल धनी समाज में मांस खाने का प्रचार बतलाते हैं। वैसे उस काल में मांस भोजन के निषेध का आरम्भ हो गया था। केवल यज्ञ करते समय देवता व पितरों को समर्पित करके मांस खाया जाता था। श्री वैद्य जी के मत का सारांश है कि वह काल मांस भक्षण की विधि व निषेध दोनों के संघर्ष का काल था। ब्राह्मण मांस भक्षण के विरुद्ध थे। सिद्धान्त स्थिर हो चुका था कि मांस भक्षण हानिप्रद व पाप है अत: निषिद्ध है। इससे यह कम तो हो गया किन्तु प्रचलित भी था। डा० रमाशंकर जी के मत से भी समाज में शाकाहारियों की नित्यप्रति वृद्धि हो गई थी। मेरा भी यही मत है कि महाभारत काल में मांस भक्षण वर्जित तो हो गया था और निन्द्य व पाप माना जाता था किन्तु प्राचीन परम्परा पूर्णत: समाप्त न होने के कारण प्रचलन बन्द नहीं हुआ था। अपवाद रूप में कुछ ब्राह्मणों को छोड़कर सभी तपस्वी व संयमी ब्राह्मण उस काल में मांस भक्षण नहीं करते थे। गौ मांस भक्षण की व गौवध की प्रथा महाभारत काल में कदापि नहीं थी। गऊ का उत काल में अत्यधिक आदर था। उसकी महिमा का गान महाभारत में ही अनेक स्थलों पर किया गया है।

(5) क्या महाभारत काल में यन्त्रादि एवं विशेष प्रभावशाली दिव्यास्त्र तथा विमान थे ? यदि थे तो उनका प्रयोग भौतिक शक्ति साधनों से किया जाता था अथवा आध्यात्मिक शक्ति साधनों द्वारा ?

वैद्य जी के मतानुसार—महाभारत में विमानों से आक्रमण करने का वर्णन आता है। जब राजा शाल्व ने द्वारिका पर चढ़ाई की थी तब उसने द्वारिका के ऊपर जाकर विमानों से पत्थरों व वाणों की वर्षा की थी। यह प्रसंग उसी प्रकार है जैसा प्रथम विश्व युद्ध में जर्मन विमानों के द्वारा लंदन नगर पर हो रहा था। प्रद्युम्न ने उन विमानों पर वाणों की वर्षा की। फिर यथेष्ट संचार करने वाले सौम नगर से नीचे उतर कर शाल्व, प्रद्युम्न से युद्ध करने लगा। शाल्व राजा का रथ माया से बनाया गया था और सोने से मढ़ा था। इस प्रसंग में जो 'सौम' नाम आया है वह विमान ही होगा जिसे दैत्यों ने बनाया था, इससे प्रतीत होता है कि वह काल्पनिक होगा। परन्तु यह देख कर आश्चर्य होता है कि पक्की दीवालों से घिरे हुए नगरों पर विमानों द्वारा चढ़ाई करने की कल्पना, आज नई नहीं उत्पन्न हुई है—सहस्रों वर्षों पुरानी है।

डा० रमाशंकर त्रिपाठी[1] के मतानुसार—महाभारत कालीन योद्धा धुनर्धर,

---

1. "प्राचीन भारत का इतिहास", पृ०-56

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उपल वर्षक, अश्वारोही, गजारोही, रथारोही होते थे। कुछ लोगों का मत है कि तब बारूद से चलने वाले हथियार तोपें भी प्रस्तुत थी परन्तु यह कल्पना सर्वथा निराधार है। हां, इतना माना जा सकता है कि चक्र और वाणों की तरह के अज्ञात प्रतिक्रिया से जल उठने वाले अस्त्रों का प्रयोग होता था।

भट्टाचार्य जी[1] के मत से 'शतघ्नी की परिभाषा इस प्रकार है—"आग्नेय औषधियों के बल से फेंके गये प्रस्तर खण्डों द्वारा जो शस्त्र एक साथ सैकड़ों मनुष्यों को मार सके, उसे शतघ्नी कहते हैं।" शब्द कल्पद्रुम में इसका अर्थ—'लोहे के कांटों से आच्छादित वृहद्शिला खण्ड' किया गया है। शतघ्नी को चक्र पर रखकर युद्ध क्षेत्र में भी लाया जाता था। टीकाकार नीलकण्ठ ने यद्यपि तोप व बन्दूक शब्दों का प्रयोग किया है किन्तु ये इनके कल्पित शब्द हैं, यह विवेचनीय है (बहुत से अस्त्रों को दिव्यास्त्र कहा जाता था। उन अस्त्रों की असमान्य क्षमता देखकर ही उन्हें शायद दिव्य की आख्या दी गई थी। इन अस्त्रों की निर्माण प्रणाली बहुत ही गोपनीय थी। गुरु परम्परागत शस्त्र विद्या के विशारद से उन शस्त्रों का प्रयोग व संहरण विधि सीखी जाती थी। इनके प्रयोग से पूर्व मन ही मन देवों व गुरुओं के स्मरण का विधान था। प्रत्येक दिव्यास्त्र का नाम प्रायः किसी न किसी देवता के नाम पर होता था।) वायवास्त्र द्वारा वायु-मण्डल में वायु की क्षमता वढ़ा दी जाती थी। पर्जन्यास्त्र द्वारा मेघों की सृष्टि कराकर वर्षा की जाती थी। इसी प्रकार वारूणास्त्र, सम्मोहनास्त्र से भी अद्भुत कार्य किये जाते थे। दिव्यास्त्र के प्रयोग में मन्त्रपाठ का विधान था। अशुचिता या मन्त्र-भ्रंश के फलस्वरूप दिव्यास्त्र की विस्मृति अनेक स्थानों पर उल्लिखित है। दिव्यास्त्र का प्रयोग बहुत ही कम लोग जानते थे। भीष्म, द्रोण, अर्जुन अश्वत्थामा आदि चार-पांच व्यक्ति ही दिव्यास्त्रवेता थे। कर्ण अन्तिम काल में गुरू के शापवश दिव्यास्त्र भूल गये। अश्वत्थामा प्रयोग तो जानते थे किन्तु संहरण नहीं जानते थे। अकाट्य श्रद्धा के विना दिव्यास्त्र की प्राप्ति नहीं होती थी। एक दिव्यास्त्र का प्रयोग किये जाने पर उससे विपरीत अस्त्र का प्रयोग किया था। यदि एक पक्ष आग्नेयास्त्र का प्रयोग करता था तो दूसरा पक्ष वारुणास्त्र का प्रयोग, उसके समनार्थ करता था। इसी प्रकार वायव्य के विपरीत गुह्यकास्त्र, सम्मोहना के विपरीत प्रज्ञास्त्र। अर्जुन ने 'त्वाष्ट्र' का प्रयोग किया था, 'जिसके प्रभाव से सब प्रतिपक्षी अपने साथियों को अर्जुन के रूप में देखते थे और परस्पर युद्ध करके एक दूसरे को मारते थे।

वैद्य जी ने विमान (सौमनगर) का वर्णन करके तथा यह लिखकर कि "इस प्रसंग में जो सौम नाम आया है वह विमान ही होगा वे इसे दैत्य ने बनाया, इससे प्रतीत होता है कि वह कल्पित होगा। परन्तु यह देखकर आश्चर्य होता है कि पक्की दीवालों वाले नगरों पर विमानों द्वारा चढ़ाई की कल्पना कुछ नई नहीं। सहस्रों

1. 'महाभारत कालीन समाज', पृष्ठ-490-493

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वर्षों पुरानी है।" मेरा मत है कि इन सहस्रों वर्ष पुरानी घटनाओं को हम कल्पना ही कैसे मान सकते हैं। ये घटनाएं विश्व के बारम्बार विकास व ह्रास के नियमानुसार सत्य भी हो सकती हैं। विश्व एक ही बार विकास कर रहा है ऐसा नहीं है। इसके विकास व ह्रास का चक्कर निरन्तर दिन-रात की भांति चलता रहता है। न जाने कितनी बार विश्व की सभ्यताएं विकसित हो चुकी तथा नष्ट हो गईं। सिन्धुघाटी की सभ्यता में भी पानी की सतह तक सात पर्तें निकल चुकी हैं। पांच-छः हजार वर्षों में कोई सभ्यता जब सात बार विकसित होकर नष्ट हो सकती है तो महाभारत काल में विमान या दिव्यास्त्रों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। मेरे मत में तो रामायण व महाभारत काल के विमान व दिव्यास्त्र सभी सत्य हो सकते हैं, कल्पना नहीं। इन प्रयोग विधियों में भले ही अन्तर हो सकता है। प्राचीन भारत में अध्यात्म विज्ञान का भी महान विकास हुआ था। मंत्र शक्ति से अनेक कार्य सम्पन्न होते थे। उस शक्ति में दृढ़ विश्वास व संकल्प की शक्ति निहित रहती थी। वर्तमान काल में यह विज्ञान लुप्त हो चुका है किन्तु महाभारत में मंत्र शक्ति की महिमा का बहुत गान हुआ है। इन वैज्ञानिक प्रयोगों के शास्त्री प्रमाणों को ही जब कल्पित बतला दिया जावे तो फिर क्या प्रमाण दिया जा सकता है।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अष्टम अध्याय

उपसंहार

महाभारत कालीन समाज व्यवस्था पर एक विहंग दृष्टि

महाभारत ग्रन्थ का आलोचनात्मक अध्ययन करने से, उस काल की सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। उस काल की वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, राजनीति तथा समाज में प्रचलित अनेक प्रथाएं, मान्यताएं व्यापारिक व औद्योगिक स्थिति, धार्मिक रीति-नीति, सदाचार, मानव जीवन का उद्देश्य एवं उस उद्देश्य को प्राप्त करने के मार्ग अथवा साधन; उस काल के मानवों के रहन-सहन का ढंग व स्तर आदि का पूर्ण रूपेण ज्ञान होता है। पिछले अध्याओं में तत्कालीन समाज-व्यवस्था का जो विस्तृत वर्णन किया गया है उसी पर यहां संक्षेप से विचार करना है।

महाभारत काल में वर्ण व्यवस्था अपने पूर्ण विकसित रूप में थी। वर्ण, जन्म एवं कर्म दोनों ही कारणों से माने जाते थे। वर्णों के अपने-अपने निश्चित धर्म थे। उन धर्मों का भलीभांति पालन करने वाला व्यक्ति ही, श्रेष्ठ माना जाता था—समाज में सम्मानीय स्थान प्राप्त करता था, तथा उस वर्ण को समाज द्वारा प्राप्त अधिकारों का उपभोग कर सकता था, अन्यथा अपने वर्ण से भ्रष्ट, निन्दनीय समझा जाता था, तथा पंक्ति (समाज) में स्थान प्राप्त नहीं कर सकता था। भले ही उसकी जाति का नाम वही रहता था जो जन्मगत था। दुराचारी व अपने वर्ण-धर्म से भ्रष्ट ब्राह्मण को, शूद्र से भी हीन माना जाता था।

समाज अपने नियमों का दृढ़ता से पालन करता था। वे नियम समाज के हित को सामने रखते हुए निर्मित किये जाते थे। यह निश्चित् है कि समाज में ब्राह्मणों का सर्वोपरि स्थान था उनकी अधिक मान्यता थी किन्तु साथ ही यह भी निश्चित है कि उनकी यह मान्यता केवल ब्राह्मण वर्ण में जन्म लेने मात्र से ही नहीं थी अपितु यह सर्वोच्च स्थान उन्हें उनके गुणों से प्राप्त हुआ। आप गत पृष्ठों में ब्राह्मणों के आचरण,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उनका त्याग, तपस्या, अध्ययनशीलता, समृद्धि, सरलता, बुद्धिबल एवं आध्यात्मिक शक्ति के विषय में विस्तृत रूप से पढ़ चुके हैं। ये ही वे गुण थे जिनके कारण समाज को उन जितेन्द्रिय, परहित निरत, क्षमाशील तपःशक्ति, ज्ञान शक्ति तथा आत्मिक शक्ति सम्पन्न ब्राह्मणों को वरवश पूज्यता या श्रेष्ठता प्रदान करनी पड़ती थी।

वर्तमान काल में वे गुण हमें महात्मा गांधी जी में कुछ दिखाई देते थे। प्राचीन भारत में महात्मा जी से भी कहीं अधिक संयमी व तपस्वी ब्राह्मण थे। कुछ अपवाद भी थे किन्तु वे थे अल्पसंख्यक। समाज उनको निन्दनीय समझता था। सत्य, अहिंसा आदि सभी दैवी गुण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों में भी स्वाभाविक रूप से होते थे। क्योंकि उस काल के संस्कार ही ऐसे थे। अपने धर्मों (कर्त्तव्य कर्म) के पालन न करने में अनेक भय थे तथा उन भयों के प्रति अटल आस्था एवं विश्वास भी था। वे भय थे—समाज का भय, पुनर्जन्म में कीट पतंगादियोनियों में जन्म लेकर दुःख भोगने का भय, राजा का भय तथा नरक में जाने का भय। इस प्रकार अनेक भयों के कारण सभी लोग अपने कर्त्तव्य पालन में तत्पर रहते थे। उस काल की मान्यता थी कि 'यदि भय न हो तो लोग उच्छृंखल हो जावें तथा अपने-अपने कर्त्तव्य पथों का त्याग कर भटक जावें।

ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रिय, भुजबल जीवी वर्ग था। जैसे ब्राह्मण का कर्त्तव्य अपने ज्ञान (बुद्धिबल) से समाज को, राष्ट्र को, राजा को सन्मार्ग पर चलाना, उनके कर्त्तव्यों का निश्चय करना, उनका मार्ग प्रशस्त करना, राष्ट्र की, समाज की नीति निर्धारण करना था, उसी प्रकार क्षत्रियों का प्रथम कर्त्तव्य ब्राह्मणों के उन निर्देशों का पालन करना तो था ही साथ ही साथ, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र एव वर्णसंकर व अन्त्यज आदि सम्पूर्ण प्रजा का आततायी व्यक्तियों से, हिंसक पशुओं से, दस्युओं व बाह्य शत्रुओं से रक्षण करना भी था और वे भी सत्यता (ईमानदारी) से अपने कर्त्तव्य का पालन करते थे। उनके भय से दस्यु व आततायी व्यक्ति न तो उपद्रव कर पाते थे, और न ही अत्याचार व लूटमार ही कर सकते थे।

वर्ण विभाजन कार्यों के बटवारे के अनुसार किया गया था अतः सबके जन्म से ही अपने-अपने कर्त्तव्य निश्चित होते थे तथा भय के कारण सब उनका पालन करते थे अतः अव्यवस्था नहीं हो सकती थी। ब्राह्मण व क्षत्रियों की भांति वैश्यों के भी अपने कर्त्तव्य थे। वे अपने धर्मों (कृषि, गौरक्षा, वाणिज्य) का पालन करते थे। देश की सम्पति का अधिकांश भाग राजाओं या इन्हीं वैश्यों पर रहता था। सम्पत्ति के सबसे प्रमुख साधन भूमि की उपज, पशु, खानों की उपज (रत्न स्वर्णादि) तथा व्यापार ही थे और ये अबाध रूप से वैश्यों के हाथ में थे।

समाज में, अध्ययन, अध्यापन, रक्षण, पशुपालन, कृषि कर्म तथा व्यापार के अतिरिक्त अन्य अनेक कार्यों के लिये भी अनेक व्यतिक्यों की आवश्यकता होती थी, आज भी होती है, अतः उन कार्यों का सम्पादन करना शूद्रों का धर्म था। शूद्रों के साथ समानता

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का व्यवहार तो नहीं किया जाता था न शूद्र या अन्य अनेक जातियां परम्परागत स्वभाव के कारण, अपने को ब्राह्मणों या क्षत्रियों के समान मानना ही चाहती थीं क्योंकि उस काल के सामाजिक नियमों के अनुसार द्विजातियां उनका पूरा-पूरा ध्यान रखती थीं इन्हें अपने जीवन-निर्वाह की चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। वे निश्चित रूप से सेवारत रहते थे। महाभारत के अध्ययन से चारों वर्णों का इसी प्रकार का चित्र हमारे समक्ष आता है।

यदि सत्यता से विचार किया जाये तो समानता न तो उस काल में थी तथा न वर्तमान काल में है। आज भी चारों वर्ण हैं, जन्म से न सही तो केवल कर्मों से सही। सभी विभागों में, मिलों में, दुकानों पर सेवक (भृत्य) हैं। वही उनका कम वेतन, वही व उस काल से भी बुरी उनकी स्थिति, स्वामियों व अधिकारियों के द्वारा अपमानित जीवन। क्या वे शूद्र वर्ण (प्राचीन से अधिक दयनीय स्थिति में नहीं हैं। मैं जब प्राचीन व अर्वाचीन का मोह त्यागकर चिन्तन करता हूं तब यही पाता हूं कि हम यह सोच कर भले ही संतोष कर लें कि ब्राह्मण, क्षत्रिय भी भृत्य हैं, मजदूर हैं, नहीं तो संतोष करने योग्य और कोई विशेषता नहीं है। आज की परिस्थिति को देखकर हम यदि केवल कर्मों द्वारा ही वर्णों को मान लें तो वे ही चारों वर्ण हैं वही असमानता है। कोई राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री, राज्यपाल, मुख्य मन्त्री, मन्त्री, सचिव, मिल मालिक तथा ठेकेदार अनेक उच्च अधिकारी हैं। दस हजार, पांच हजार के वेतन हैं, विशाल भवन हैं, अनेक भृत्य हैं, वाहन हैं। इस प्रकार एक वर्ग तो विलासमय जीवन बिता रहा है दूसरी ओर छोटे-छोटे व्यापारी, छोटे-छोटे कर्मचारी, सेवकगण, मिल मजदूर, खान मजदूर व कृषि मजदूर तथा अनेक प्रकार की समाज सेवा करने वाले व्यक्ति दुर्दशाग्रस्त हैं, न मान है, न भरपेट भोजन, रहने को अच्छी झोंपड़ी भी नहीं। गन्दी बस्तियों के निवासी जो कष्ट भोग रहे हैं उससे समाज का कौनसा शिक्षित व्यक्ति परिचित नहीं होगा। गदहों व शूकरों के साथ एक ही झोंपड़ी में निवास आदि देखकर क्या हम उनके जीवन को पशु जीवन से भी हीन जीवन नहीं कह सकते।

एक बात अवश्य हुई है, वर्ण व्यवस्था की समाप्ति से, तथा धर्म का भय हट जाने से, किसी व्यक्ति का कोई निश्चित कर्त्तव्य कर्म (धर्म) न रहने से, समाज में उथल-पुथल मच गई है, अस्थिरता आ गई है सभी वर्णों की अपने-अपने कर्मों को सम्पादन करने की कुशलता समाप्त हो गई है। किसी भी व्यक्ति की न तो कोई निश्चित जीविका है न निश्चित कर्त्तव्य। लोग कहते हैं कि प्राचीन भारत में शूद्र वर्ण के साथ अत्याचार व अन्याय था कि उनको वेदाध्ययन का अवसर नहीं दिया जाता था। मैं उन महानुभावों से पूछता हूं कि उन व्यक्तियों को, जिनके कर्त्तव्य कर्मों में वेदाध्ययन की आवश्यकता ही न थी, आवश्यकता थी केवल अपने निश्चित कर्म में दक्षता प्राप्त करने की, यदि उनके कर्मों से विरत करके, वेदाध्ययन में भी लगा दिया जाता तो लाभ क्या होता ? वे वेदों के चिन्तन व मनन में भी पूर्ण सफल न होते, बुद्धि का संस्कार न होने से, तथा उनका

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनिवार्य कर्म समाज के लिये अत्यावश्यक होने के कारण किसी न किसी को करना ही पड़ता।

यदि यह कल्पना भी कर ली जाय कि 'ब्राह्मणादि द्विजाति उनके कर्मों को करती तो कौन-सा लाभ मिलता ऐसा करने से ? वे जातियां उनके कार्यों को दक्षता से न कर पाती तथा उन लोगों को भी अध्ययन का अवसर न मिलता, फिर क्या हुआ, उनकी जो स्थिति थी वह उनकी हो गई। अरे ! समाज के जो अनिवार्य कार्य हैं उनका निवारण कौन कर सकता है ? आवश्यकता तो केवल इतनी ही है कि व्यवहार तो चारों वर्णों में परस्पर समानता का किया जावे किन्तु कर्म अपना-अपना ही करें, जिससे वर्णों की कार्यकुशलता समाप्त न हो। चार वर्ण तो अभी भी हैं क्योंकि समाज के आवश्यक कार्य समाप्त नहीं किये जा सकते। उन कार्यों को किसी व्यक्ति को सौंपते समय उसकी योग्यता की यदि सत्य रूप से परीक्षा कर ली जावे तो उचित स्थान पर उचित व्यक्ति ही पहुंचे। किसी स्थान पर अयोग्य व्यक्तियों के पहुंच जाने पर उस कार्य में अव्यवस्था हो जाती है। जैसे अध्यापन कार्य के लिये उन्हीं व्यक्तियों की आवश्यकता है जिनमें वे गुण हों जो ब्राह्मण में होते थे। भले ही वे जन्म से किसी भी वर्ण के हों, इसी प्रकार देश रक्षा देश में आंतरिक शान्ति बनाए रखने के लिये भी क्षात्र गुणों की अत्यन्त आवश्यकता है। बलवान, धैर्य सम्पन्न, तथा साहसी पुरुष ही इस कार्य को सम्पन्न कर सकते हैं। अन्यथा कार्य बनने के स्थान पर बिगड़ जाता है।

आज शिक्षा सबके लिये सुलभ कर दी गई है, ठीक है, किन्तु इसका परिणाम बीस वर्ष में ही क्या हुआ है, यह क्या स्पष्ट करना होगा। देखिये, किसानों के बालक, दुकानदारों के बालक दस या बारह कक्षा तक अध्ययन करते हैं, इस बीच में वे अठारह बीस वर्ष के हो जाते हैं, अब सोचिये देश के समस्त बालकों को, जिनकी कि आकांक्षा कुर्सी पर बैठे-बैठे कार्य करने की हो गई है, पैतृक कार्य से जिन्हें घृणा हो गई है, तथा जो अपने उस कार्य के न तो अभ्यासी हो पाये हैं और न दक्षता ही प्राप्त कर सके हैं, सरकार नौकरी कहां दे सकती है। वैसा ही हम देख रहे हैं और सभी जानते हैं कि 'शिक्षितों की बेरोजगारी प्रति वर्ष बढ़ती जा रही है। इस वर्ष तक तो यही हाल है, भविष्य के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। मुझे जहां भी बालक मिलते हैं नौकरी के लिये तड़पते हुए व दुखी मिलते हैं। अपना पैतृक कार्य न तो उनसे बन पड़े, न उसमें उनकी रुचि ही रही है।

यह स्वीकार करने को मैं अवश्य तैयार हूं कि जिस महाभारत काल की समाज व्यवस्था की चर्चा मैं कर रहा हूं वह अति प्राचीन है। धीरे-धीरे उसमें दोष आने लगे। ब्राह्मण व क्षत्रियों ने अपने धर्मों का पालन करना तो त्याग दिया केवल जन्ममात्र का अभिमान उनमें रह गया कि मैं अमुक वर्ण में जन्म लेने के कारण श्रेष्ठ हूं। विदेशियों के आक्रमण हुए, बौद्ध व जैन धर्म के प्रवर्तक, महात्मा बुद्ध व महावीर स्वामी के समय तक इस व्यवस्था में अनेक दोष आ गये। ब्राह्मणों ने अहिंसा, सत्य, तप, इन्द्रिय संयम,

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

परोपकार, क्षमा, त्याग, आदि अनेक परम्परागत सद्‌गुणों त्याग दिया व केवल मान्यता की ही इच्छा रखने लगे। उन दोनों महापुरुषों ने इस व्यवस्था का विरोध किया, सुधार का प्रयत्न किया, किन्तु परिणाम में वे असफल रहे क्योंकि उनके क्रान्तिकारी विचारों का थोड़े से लोगों ने ही अनुसरण किया तथा भिक्षु व भिक्षुणी और मठ विहार आदि की स्थिति शनैः-शनै बिगड़ने लगी। काल के अनुसार परिवर्तन होते ही रहते हैं। सभी वर्ण धीरे-धीरे अपने धर्मों का त्याग करते ही चले गये। द्विजातियां जो महाभारत काल में शूद्रों से, ब्राह्मणों द्वारा निर्मित, सामाजिक नियमों का प्रेम व सम्मान पूर्वक पालन कराती थीं, जिनको एक ही शरीर का अंग मानती थीं, चाहे वह सिर हो या चरण, वे ही अभिमान वश अपने को स्वामी मानकर व सेवा करने वाले शूद्रों को नीच मानकर उनका अपमान करने लगी। अब दोहरी बात हुई एक तो ब्राह्मणों में वह प्रभाव नहीं रहा (सदाचार, तप व विशेष ज्ञान की हीनता से) जिससे कि शूद्र वर्ण प्रभावित रहता था, इतने पर भी पूर्व काल की अपेक्षा अधिक कठोरता व अपमान, तब तो शूद्रों के हृदय में द्वेष व समानता की इच्छा होना स्वाभाविक ही था।

इसके अतिरिक्त महाभारत काल में वर्ण व आश्रम दोनों के कर्त्तव्यों का पालन कराना राजा का कर्त्तव्य व अधिकार था। राज्य से इन धर्मों के पालन का घनिष्ठ सम्बन्ध था, इन धर्मों का पालन न करना अपराध माना जाता था एवं राज्य के द्वारा दण्ड का विधान था। अतः राजा इन धर्मों के पालन पर अपना नियन्त्रण रखता था और वह भी निरंकुश नहीं था क्योंकि विधानों का निर्माण करना एवं उनके अनुसार दण्ड विधान रखना ब्राह्मणों के हाथ में था। इस प्रकार शासन प्रबन्ध में ब्राह्मणों व क्षत्रियों का समान भाग था। वैश्य उद्योग धन्धों व व्यापार में लगे रहते थे, इस प्रकार आर्थिक उन्नति वैश्यों के हाथ में थी। शूद्र वर्ण व शूद्रेतर जातियां सेवा का कार्य सम्पादन करती थीं।

किन्तु बौद्धकाल से प्रारम्भ करके राजपूत काल व मुसलमान काल में यह नियम नहीं रहा। राजाओं का इन वर्णाश्रम धर्मों का पालन कराने से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। कोई अपने वर्ण धर्म का पालन करे अथवा न करे राजा का इससे कोई सम्बन्ध नहीं था अतः अव्यवस्था बढ़ती ही गई। अंत में महात्मा जी के समय तक यह वर्ण-व्यवस्था इतनी छिन्न-भिन्न व अव्यवस्थित हो गई कि उसका संभालना असंभव था तथा अंग्रेज लोग इस भेदभाव का लाभ उठाने के लिये प्रयत्नशील थे। अपमानित अन्त्यज जातियां ईसाई व मुस्लिम धर्मों को स्वीकार करने के लिये उद्यत थीं। उस समय महात्मा जी ने यही उचित समझा कि अब वर्ण व्यवस्था समाप्त होकर, समानता की व्यवस्था होना चाहिये तभी हिन्दू समाज छिन्न-भिन्न होने से बच सकता है, एक संगठित शक्ति हो सकता है। विदेशी इस अवस्था से लाभ न उठा सकें। यह व्यवस्था परिस्थिति के अनुसार लाभप्रद रही है किन्तु बिना कार्यों के बटवारे के उतनी शान्ति व नियन्त्रित अवस्था नहीं है जैसी महाभारत काल तक थी या कुछ-कुछ बुद्ध जी के समय में थी तो भी मध्य

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कालीन भारत की अपेक्षा यह अत्यन्त लाभप्रद व श्रेष्ठ है। आगे भविष्य में फिर कार्य विभाजन की आवश्यकता का अनुभव होगा। वह कार्य विभाजन भले ही जन्म के आधार पर न होकर कार्य के आधार पर ही हो। परन्तु सत्य है कि कार्य कुशलता व स्थिरता तभी आ सकेगी।

मानव जीवन का उद्देश्य चार फलों की प्राप्ति माना जाता था। इस मनुष्य शरीर की प्राप्ति के चार फल थे—अर्थ, धर्म, काम व मोक्ष। उस काल के मानव का विश्वास था कि इन चारों की प्राप्ति कर लेना ही सफल जीवन का लक्षण है। उन चारों फलों की प्राप्ति के लिए मानव-जीवन को चार भागों में विभाजित किया गया था। इन्हीं विभागों को आश्रम कहा जाता था, वे थे—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास। इन चारों आश्रमों का पालन भी इसी क्रम से किया जाता था। इन चारों आश्रमों में से गार्हस्थ्य आश्रम में अर्थ, धर्म व काम की प्राप्ति होती थी। इसे त्रिवर्ग कहते थे। ब्रह्मचर्य आश्रम का महत्व मनुष्य को गार्हस्थ्य आश्रम के पालन करने में सक्षम बनाने के कारण था। प्रथम आश्रम, द्वितीय आश्रम की तैयारी थी तथा तृतीय आश्रम चतुर्थ आश्रम की तैयारी थी। चतुर्थ आश्रम के नाम 'भैक्ष्य आश्रम' व मोक्ष आश्रम भी थे। इस आश्रम के धर्मों का पालन, मुक्ति प्राप्ति के लिये किया जाता था। प्रथम आश्रम के अनुसार बालक को उपनयन संस्कार के पश्चात् गुरुकुल भेज दिया जाता था। ये गुरुकुल ग्रामों व नगरों से दूर वनों में होते थे। आश्रम के अधिपति महामुनि ही कुलपति होते थे। उनके शिष्य ही अध्यापक होते थे। गुरु व शिष्य में पूर्ण-रूपेण पिता व पुत्र का सम्बन्ध होता था यहां तक कि 25 वर्ष की आयु तक, स्नातक, हो जाने पर ही बालक घर वापिस जाता था। छात्र भिक्षा के नियमों का पालन करते हुए, भिक्षावृत्ति से अन्न प्राप्त करके गुरुजी को समर्पित कर देते थे। उससे समस्त कुल के लिये भोजन तैयार होता था। अनुशासन इतना था कि छात्र प्रेम से गुरु के लिये प्राण तक देने के लिये उद्यत रहते थे। यह सब समाज के सुसंस्कार एवं गुरुओं के प्रेममय व्यवहार के कारण था। छात्रों का प्रथम कर्त्तव्य गुरुओं की सेवा करना था तथा द्वितीय कर्त्तव्य अध्ययन। छात्र प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठकर रात्रि के नौ बजे शयन काल तक गुरु सेवा में लगे रहते थे, साथ-ही-साथ नियमित अवकाश कालों में अध्ययन भी होता रहता था, जो कुछ भी होता था नियमित होता था। आश्रम में सर्वदा परम शान्ति का वातावरण रहता था। छात्र बड़ी दृढ़ता के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। वहां वे विद्या के साथ ही साथ कुछ सद्गुणों का प्रशिक्षण भी प्राप्त करते थे। वे थे—सेवा, विनय, ब्रह्मचर्य, कर्त्तव्य पालन के लिये महान्-से-महान् कष्ट सहने के लिये तैयार रहना, त्याग, सत्य, परोपकार आदि अनेक ऐसे गुण जिनके कारण मानव उन्नति कर सकता है तथा वास्तविक मानव कहलाने योग्य बनता है। विद्याध्ययन जो भी किया जाता था सम्पूर्ण कण्ठस्थ किया जाता था। वह कण्ठस्थ भी वर्तमान काल के छात्रों के कुछ प्रश्न रट लेने के समान न समझना। किसी ग्रन्थ को पूर्णरूपेण बाल की खाल निकालने

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

योग्य, वाद-विवाद के योग्य, समझकर, उस सम्पूर्ण ग्रन्थ को कण्ठस्थ कर लिया जाता था।

इस प्रकार छात्र शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा का पूर्ण विकास करके द्वितीय आश्रम में, जीवन के उस भाग में जो वास्तविक कर्म क्षेत्र था, जिसमें मोक्ष का ध्यान रखते हुए अर्थ, धर्म एवं काम—त्रिवर्ग का उपभोग अपनी-अपनी योग्यतानुसार करने का अवसर होता था, प्रवेश करता था। इस आश्रम में प्रवेश करते ही उसका प्रथम कर्त्तव्य था कि वह पितृऋण से उऋण होने के लिये सन्तानोत्पादन करने को किसी सुशीला, सद्गुणवती कुलीना कन्या से विवाह करे। विवाह से सम्बन्धित अनेक नियम व रीतियां सम्बन्धित अध्याय में वर्णित हैं। इतना अवश्य दोहराऊंगा कि बालकों के बाल विवाह की प्रथा तो नहीं थी उनके विवाह की सीमा 21 वर्ष से 30 वर्ष थी, किन्तु वालिकाओं के बाल विवाह की प्रथा थी। उनका विवह 7 से 10 तक कर देने का नियम था पर अधिकतर वर्णन बड़ी आयु के ही हैं। क्षत्रियों में अवश्य स्वयंवर भी होते थे, जिसमें वालिका अवश्य ही अधिक आयु की होती होंगी क्योंकि उसे स्वयं अपने पति का चुनाव करना होता था। कन्या के विवाह के सम्बन्ध में एक और नियम था कि वह ऋतुमती (13-14 वर्ष की आयु) होने के अधिक पश्चात् अधिक से अधिक 3 वर्ष तक, अपने विवाह के लिए, अपने पिता, भ्राता आदि कुटुम्बियों की प्रतीक्षा करे यदि इस अवधि में वे उसे योग्य वर को न सौंप दे तो वह स्वयं अपना पति चुनकर उसके साथ विवाह कर ले। जब कि ऐसा नियम था अतः माता-पिता भी पुत्री का अल्प वय में विवाह कर देते थे जिससे व अपनी पुत्री को ऋतुमती होते ही न देखें।

गृहस्थ का प्रथम कर्त्तव्य विवाह करके सन्तानोत्पादन तो था ही इसके अतिरिक्त पत्नी सहित गृहस्थ धर्म का पालन करना पड़ता था। पुरुष अपने वर्ण धर्म के अनुसार आजीविका के लिए उद्योग करता था। अर्थ प्राप्ति में, काम पूर्ति में—दोनों में ही धर्म की प्रधानता रखी जाती थी। धर्म से आज के हिन्दू धर्म को न समझना, गृहस्थ को अपने आश्रम के धर्मों (कर्त्तव्य कर्मों) का तथा कुछ मानव धर्मों का पालन करना पड़ता था। इसी कर्त्तव्य पालन को पुरस्सर करके वह अर्थोपार्जन एवं उसका उपभोग, कामनाओं की पूर्ति, कर सकता था। गृहस्थ का सर्वप्रथम धर्म था, अतिथि सत्कार, साथ ही, आश्रित, अनाथ, रोगी वृद्ध, बालक, दरिद्र, सेवक, ब्रह्मचारी, ब्राह्मण, संन्यासी पशु एवं पक्षी आदि का भरण-पोषण करने के पश्चात् ही अपना भरण-पोषण करना। इस धर्म का पालन करना सभी वर्ण वालों के लिये अनिवार्य था। गृहस्थों का नित्य कर्म पंच महायज्ञों का सम्पादन करना था जिनके द्वारा वह चार ऋणों से उऋण होता था। ऐसी मान्यता थी कि गृहस्थ पर चार ऋण हैं जिनको चुका देना, उसका कर्त्तव्य है। वे ऋण थे—देव ऋण, पितृ ऋण, ऋषि ऋण तथा भूत (प्राणी मात्र) ऋण। संध्या-वदन, हवन, यज्ञ, अग्नि पूजन आदि से गृहस्थ देव ऋण से मुक्त होता था। श्राद्ध, पिण्ड-दान व संतानोत्पादन करके पितृ ऋण से, वेद शास्त्रों का अध्ययन व ऋषि मुनियों

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की सेवा करके ऋषि-ऋण से, तथा उपर्युक्त अतिथि सेवक आदि कर्मों द्वारा प्राणी ऋण से मुक्त होता था। इस प्रकार आजीविकोपार्जन के अतिरिक्त वह परोपकार में ही लगा रहता था। इन सब कर्त्तव्यों के पालन में ही सुख व शान्ति का अनुभव करता था। सभी प्राणियों का, दीन, दुखियों, आश्रितों का तथा सभी आश्रमों का आश्रय होने से ही यह आश्रम सबसे कठिन व सबसे सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। सदाचार पर विशेष बल दिया जाता था। गृहस्थ आश्रम में स्वतः ही महान् तप हो जाता था तथा मानव सचाई से इस आश्रम का पालन करके ऐसा निर्दोष हो जाता था जैसे अग्नि में तपाया जाकर स्वर्ण।

फिर भी यहां वह अपनी योग्यतानुसार अर्थ व काम का उपभोग करके पूर्ण काम या तृप्त हो जाता था जीवन की अर्ध आयू समाप्त हो जाती थी अतः वह मानव जीवन का चरम लक्ष्य—मोक्ष प्राप्त करने के लिये, पूर्ण त्याग, अन्तःकरण की पूर्ण शुद्धि के लिये, संन्यास आश्रम में प्रवेश करने योग्य बनने के लिये, वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था वहां पत्नी सहित कठिन तपस्या करके, कठोर नियमों का पालन करके, इस शरीर की भी आसक्ति त्याग कर संन्यासी हो जाता था। इस आश्रम में पूर्णरूपेण आसक्ति का त्याग करके निरन्तर आत्मचिन्तन करते हुए ब्रह्म में लीन हो जाता था। अर्थात् उसका जीवत्व का अहंकार भी समाप्त हो जाता था।

इन चारों आश्रमों का पालन करना ब्राह्मणों का तो कर्त्तव्य ही था किन्तु शेष तीनों वर्णों का संन्यास (मोक्षाश्रम) में अधिकार नहीं था। किन्तु क्षत्रिय वानप्रस्थ आश्रम का पालन स्वतन्त्र रूप से करता था किन्तु संन्यासी होने के लिये उसे राजाज्ञा की आवश्यकता पड़ती थी क्योंकि भिक्षावृत्ति से ही इस आश्रम में जीवन निर्वाह किया जाता था और भिक्षार्जन की स्वतन्त्रता केवल ब्राह्मण को ही थी उसका वह धर्म ही था किन्तु क्षत्रिय वैश्य व शूद्र को निषेध था। अत. राजा यदि पात्रता समझे तो अन्य वर्णों को वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा देता था, अन्यथा नहीं। भिक्षा-वृत्ति पर राजा का नियन्त्रण था।

शिक्षा के क्षेत्र में उस काल में भारत बहुत आगे था। चारों वेद थे, उप-निषद् थे, षट्शास्त्र थे, सूत्र साहित्य था। स्मृतियां थी, पुराण थे। इस प्रकार महाभारत काल तक संस्कृत साहित्य समृद्ध हो चुका था। ब्राह्मण व बहुत से क्षत्रिय तथा उनसे कम संख्या में वैश्य भी इन सबका अध्ययन करते थे। शूद्रों को उस काल में वेद शास्त्रांगों का अध्ययन वर्जित था। अध्यापन कार्य ब्राह्मण ही करते थे। ब्रह्मणे-त्तर वर्ण नहीं। वेदों के छः अंग थे, चार उपवेद थे। इन एक-एक उपवेद में तथा वेदों के एक-एक अंग में भी अनेक उपविभाग तथा अनेक ग्रन्थ थे। इस प्रकार वैदिक साहित्य का बहुत विस्तार हो चुका था। क्षत्रियों को वेदाध्ययन करने के साथ-साथ धनुर्वेद पर विशेष ध्यान देना पड़ता था उस धनुर्वेद के भी अनेक अंग उपांग थे। अन्य शास्त्र संचालन, सैन्य संचालन, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में भारत

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ने उस काल तक महती प्रगति कर ली थी। मैं इस प्रबन्ध में थोड़ा-सा दिग्दर्शन मात्र करा सका हूं। सम्पूर्ण महाभारत का अध्ययन करके तथा उस समय की उच्च स्थिति देखकर, मैं यह सोचता रहा हूं कि क्या ग्रहण करूं तथा क्या न करूं।

अध्यात्म विद्या में तो उस काल तक भारी उन्नति हो चुकी थी। इस विषय पर 'समाज व्यवस्था' में लिखे जाने का बहुत कम अवकाश था फिर भी मैंने संन्यास आश्रम (जिनका नाम मोक्षाश्रम सी था) में थोड़ा बहुत जो मुझसे बन पड़ा, मोक्ष के साधनों का वर्णन किया है। सारांश यह है कि अपने-अपने आश्रमों का पालन करके मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता था तब उसके मोह, ममता आसक्ति, अहंभाव, राग द्वेष आदि समाप्त हो जाते थे। इस प्रकार उसका मनोनाश और वासना क्षय हो जाने पर वह जीवत्व से मुक्त हो जाता था।

वैश्यों के परिश्रम से उद्योग धन्धों में भी बहुत उन्नति हुई थी। खान उत्खनन का उद्योग बढ़ा-चढ़ा था। महाभारत काल में स्वर्ण व रत्नों की अपार राशियां थीं। महाभारत के पढ़ने से ही ठीक ज्ञान हो सकता है कि स्वर्ण व रत्नों से देश कैसे भरा हुआ था। उत्खनन के उद्योग के विषय में नाम मात्र की चर्चा आई है। यह ज्ञात होता है कि यह कार्य व्यापारियों के हाथ में ही था, राजा अपना कर लेता था। पशु पालन भी बड़ी प्रगति पर था। पशु बहुत धन बढ़ा-चढ़ा था तथा घी, दूध व दही इतना था कि समस्त देशवासी जितना उपयोग करना चाहें करें। कृषि के सम्बन्ध में भी यही था, सिंचाई के लिए नहरों, तालाबों आदि का प्रबन्ध था व अनाज की कमी सम्भवतः कभी नहीं पड़ती होगी।

कृषि में परिश्रम करना, खानों में काम करना अनेक प्रकार के शास्त्रास्त्रों का, रथों का निर्माण करना, भव्य भवन निर्माण करना, उपयोग में आने वाली अनेक वस्तुओं का निर्माण करना तथा चित्रकला आदि कर्म शूद्रों के थे। वे इन कार्यों में कुशल होते थे क्योंकि वंश परम्परा से इन कार्यों को करते चले आते थे।

समाज के सभी नियमों का दृढ़ता के साथ पालन किया जाता था। जो नियमों को भंग करता था उसे दण्ड अवश्य दिया जाता था चाहे वह दण्ड समाज की ओर से दिया जाये अथवा राजा की ओर से। समाज की ओर से जो दण्ड दिया जाता था उसे 'प्रायश्चित' कहते थे तथा राजा की ओर से दिये गये दण्ड को 'दण्ड' कहते थे। दण्ड विधान कठोर थे। दीन दुखियों का राजा की ओर से पालन-पोषण किया जाता था। राजा एवं राजपुरुष दस्युओं को परास्त करने में मृत्यु हो जाने को स्वर्ग की सीधी सीढ़ी समझते थे अतः दस्युओं का दमन होता रहता था, वे प्रबल होकर जनता को दुःखी नहीं कर सकते थे। दस्युओं के भी कुछ अच्छे नियम थे जिनका पालन उनमें से कुछ लोग करते थे। इस प्रकार वे निरीह जनता को अधिक दुःखी नहीं कर लेते थे।

सबसे बड़ी दुर्बलता राजनैतिक दुर्बलता थी। देश का कोई भी नागरिक अपने को भारत का नागरिक न मानकर अपने राज्य का ही नागरिक मानता था। भरत खण्ड

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के अनेक खण्ड हो गए थे। प्रत्येक छोटा राज्य भी उस राज्य के राज्य के राजा व नागरिकों द्वारा राष्ट्र समझा जाता था। 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग होता था। 'लोगों' में राष्ट्रीयता थी। लोग अपने राष्ट्र की रक्षा के लिये जीवन समर्पण करने के लिए तत्पर रहते थे किन्तु राष्ट्र का अर्थ व्यापक न होकर संकीर्ण था। इसका परिणाम यह हुआ था कि सैकड़ों राष्ट्र हो गये। भले ही विदेशी आक्रमण न हों वे राष्ट्र स्वयं ही एक दूसरे के शत्रु होते थे। परस्पर आक्रमण, रक्षा व नाश हुआ करते थे। राष्ट्रीय भावना का उदय ही नहीं हुआ था। विशेषत: इसी दुर्बलता का परिणाम ही 'महाभारत' युद्ध हुआ था। क्षत्रियों में विनय की अपेक्षा अहंकार व ऐंठ की मात्रा बढ़ गई थी। भारत में यह दुर्बलता महाभारत काल में भी थी तथा इसके पश्चात् अभी उन्नीसवीं शदी तक रही। केवल बीसवीं शदी में ही इस सर्वश्रेष्ठ गुण का उदय हुआ जो अर्वाचीन काल की एक महती देन है। सन् 1800 के पश्चात् अंग्रेजों ने ही भारत को एक सूत्र में बांधा था, जिसका परिणाम यह राष्ट्रीयता का उदय हुआ जो महान् अभ्युदयकारी है।

तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार राजनीति का पर्याप्त विकास हुआ था, जिसका कि संक्षेप में राजनीति के अध्याय में वर्णन किया गया है। राजनीति, लोक नीति आदि के अध्ययन से बिदित होता है कि उस काल के मनीषियों—समाजशास्त्रियों ने कितना गहन चिन्तन किया था। कूटनीति का भी पर्याप्त ज्ञान था किन्तु साधु नरेश उसका बहुत कम प्रयोग करते थे। महाभारत काल में अनेक गणतन्त्र भी थे। स्वयं श्री कृष्ण 'यादव गणतन्त्र' के प्रमुख नेता थे। गणतन्त्रों में आज जैसे चुनाव की प्रथा [illegible] किन्तु 'शूद्र' सहित चारों वर्ण अपने-अपने प्रतिनिधि चुनकर एक समिति का निर्माण करते थे, जो राजा पर नियन्त्रण रखती थी। गणतन्त्रों में भी राजा रखने की प्रथा थी। ऐसा लगता है कि कुछ-कुछ इंग्लैण्ड की स्थिति से मिलती-जुलती स्थिति थी अन्तर इतना था कि उस काल के भारतीय गणतन्त्रों में राज्य के अधिकार अधिक होते थे। जब कि इंग्लैण्ड का राजा वंश परम्परागत तो होता है पर होता है नाम मात्र को। समिति को यह अधिकार होता था कि राजा यदि कुमार्ग पर चलता था, प्रजापालन के स्थान पर प्रजा पर अत्याचार व अनीति का व्यवहार करता था तो पद से हटाकर उसके स्थान पर अन्य व्यक्ति को राजा बना दिया जाता था किन्तु ऐसे कम अवसर आते थे। उस काल में, राजा सभा व समिति के कारण निरंकुश अवश्य नहीं हो पाते थे। राजा-प्रजा में पर्याप्त प्रेम रहता था। प्रजा सुखी थी तथा कर भार से दबी नहीं थी। सर्वत्र सुख-शान्ति का साम्राज्य रहता था। राजा लोग अवश्य अन्य राजाओं के आक्रमण से भयभीत रहते थे जैसे कि इससे पूर्व ही चर्चा की जा चुकी है।

इस प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य तो 'महाभारत कालीन समाज व्यवस्था' के उन गुण एवं दोषों पर यथाशक्ति प्रकाश डालना है जिनका कि संग्रह व त्याग करना है। श्रेष्ठ पुरुषों का सिद्धान्त है कि 'न तो समस्त प्राचीन ही उत्तम या हीन है तथा न समस्त

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्वाचीन ही उत्तम या हीन है।' इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान समाज व्यवस्था एवं प्राचीन समाज व्यवस्था में सामंजस्य स्थापित करके, दोनों का समन्वय करना चाहिए अर्थात् समाज व्यवस्था में दृष्टिगोचर होने वाले गुणों को ग्रहण करके दोषों को त्याग देना चाहिये इसी प्रकार वर्तमान समाज व्यवस्था में जो गुण हों उन्हें ग्रहण करना चाहिये एवं दोषों का त्याग कर देना चाहिये। इस प्रकार दोनों कालों के दोषों को त्याग कर केवल गुणों को ही नवीन समाज व्यवस्था में स्थान देना चाहिये, यही बुद्धिमानी है। यही सिद्धान्त आप यूरोपीय एवं भारतीय समाज व्यवस्था में भी समझें। हमें पाश्चात्य सभ्यता मात्र से न तो राग ही करना चाहिए और न द्वेष तथा न प्राचीन भारतीय सभ्यता से ही राग या द्वेष। गुण और दोष तो दोनों में ही हैं। अतः दोनों के गुणों को ग्रहण करके दोनों से लाभ उठाना श्रेयष्कर है। आज के भारतीय नवयुवकों की प्रवृत्ति कुछ विपरीत ही हो गई है, उन्होंने श्रेयष्कर, भारतीय सिद्धान्तों को भी यह कहकर ठुकरा दिया है कि 'छोड़ो, गया समय इन बातों का, ये तो बहुत पुरानी बातें है, आज-कल इन्हें कौन मानता है। तथा पाश्चात्य सभ्यता की प्रशंसा करके उसे अग्रेसित (फारवर्ड) व भारतीय पुराने सभी नियमों को चाहे वे श्रेष्ठ हों, पिछड़े कहकर, यूरोपीय लोगों के केवल दोष तो ग्रहण किये हैं पर उनमें भी जो श्रेष्ठ गुण है उनकी ओर ध्यान ही नहीं देते। अतः यहां जितना हो सके उतना महाभारत कालीन एवं अर्वाचीन समाज व्यवस्था के गुण व दोषों पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है जिससे भारतीय नवयुवकों को कुछ मार्ग दर्शन प्राप्त हो सके।

महाभारत कालीन समाज व्यवस्था के गुण

(1) **यथोचित कार्य विभाजन**—मुझे महाभारत कालीन समाज व्यवस्था का सर्व-श्रेष्ठ गुण यही विदित होता है और वर्तमान में हमारा समाज बिल्कुल इसके विपरीत जा रहा है इसीलिए यह दुर्दशा है। जैसे उस काल में प्रत्येक कार्य उस कार्य के योग्य व्यक्तियों के हाथ में सौंपा जाता था, क्या अध्यापन, क्या न्याय, क्या सेना संचालन, क्या समिति की सदस्यता, क्या मन्त्रीपद तथा राज-पद सभी के आवश्यक गुणों का वर्णन है कि अमुक पद के लिये अमुक-अमुक गुणों की आवश्यकता है। इस प्रबन्ध में भी पिछले अध्यायों में कुछ वर्णन है। हम वर्ण व्यवस्था भले ही न मानें (जन्म से) किन्तु कर्म के अनुसार, गुणों के अनुसार तो उस वर्ण धर्म के पालन हेतु उस वर्ण के गुणों से युक्त व्यक्तियों को ही—उनका भलीभांति परीक्षण करके चुना जाना चाहिये। कल्पना कीजिए कि हमें अध्यापकों की आवश्यकता है, इसके लिये जन्म से जो ब्राह्मण है उसको ही नियुक्त करके यदि आपको आपत्ति है तो ठीक ही है क्योंकि जन्मगत वर्णों व जातियों में उनके वे गुण व स्वभाव नहीं रहे हैं जो प्राचीन भारत में थे, किंतु उस कार्य को भलीभांति सम्पादन करने वाले जो प्राचीन गुरुओं के, आचार्यों के गुण थे उन्हें तो अवश्य अपनाइए। अतः ब्राह्मण से लेकर हरिजन के बालक तक जहां भी आपको शास्त्रानुमोदित उन गुणों का या उनके

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अंग मात्र का दर्शन हो, उसे आप सहर्ष इस कार्य के लिये चुनिए। आपका कार्य ठीक चलेगा।

आधुनिक युग में यही देखने व सुनने को मिल रहा है कि न तो ब्राह्मण के कार्यों पर ब्राह्मण गुण से युक्त व्यक्ति नियुक्त हैं तथा न क्षत्रिय कार्यों पर क्षात्र धर्म (दस्युओं का दमन करते-करते मर जाने के इच्छुक व्यक्ति, मृत्यु को चुनौती देकर, डटकर सामना करने वाले) से युक्त व्यक्ति, भले ही वे क्षत्री न हों, पुलिस व सेना में हैं। तभी तो दस्यु निर्भय विचरते हुए, निरीह ग्रामीणों को पीड़ित करते रहते हैं, जीवन शान्ति-हीन हो गया है। यह है फल क्षत्रिय लक्षणों से हीन व्यक्तियों को क्षत्रिय धर्म पर नियुक्त कर देने का। इसी प्रकार चारों वर्णों के कार्य विभाजन में त्रुटियां हैं।

(2) **सत्यता (ईमानदारी)**—महाभारत काल की समाज व्यवस्था कुछ ऐसी थी कि लोग जन्म से ही सत्य प्रतिज्ञ, व वचनों पर दृढ़ रहने वाले होते थे, वे सभी के विश्वास पात्र होते थे। उन्हें यह भय रहता था कि हम सत्य रूपी धर्म से कहीं च्युत न हो जाएं। वे सरल स्वभाव के सन्तोषी व कर्त्तव्य का सत्यता से पालन करते हुए मरने के लिये तत्पर रहते थे। आज सत्यपरायणता, कर्त्तव्य परायणता समाज में लुप्त प्राय ही हो गई है। महाभारत के समस्त इतिहास से हमें यह शिक्षा मिलती है कि सर्वदा परिणाम में सत्य की ही विजय होती है। दुर्योधन, शकुनि, कर्ण व दुःशासन—इस चौकड़ी ने धर्मराज युधिष्ठिर उनके भाई भीमादि तथा उनकी पत्नी द्रौपदी के साथ कितनी दुष्टता की, कितने अधर्ममय व्यवहार किये, छल, कपट, धोखा, असत्य को काम में लाकर तथा अनेक प्रकार से अन्याय का आश्रय लेकर, सरल, दयालु, प्रेमी, क्षमावान् सत्यनिष्ठ एवं उदार युधिष्ठिर को समूल नष्ट करने के प्रयत्न किये किन्तु परिणाम में [illegible]ादि ही समूल नष्ट हो गये। युधिष्ठिर की—सत्य की—परिणाम में विजय हुई। दुर्योधन की धूर्तता, असत्य, छल की पराजय हुई।

(3) **विद्यार्थी जीवन**—महाभारत कालीन विद्यार्थी जीवन (ब्रह्मचर्याश्रम) को देखते हुए यदि हम आज के विद्यार्थी जीवन को ध्यानपूर्वक देखें तो आकाश-पाताल जैसा अन्तर दिखाई देगा। कहां वे श्रद्धालु, सौम्य, गुरुभक्त अध्यवसायी, ब्रह्मचर्य परायण, त्यागी तपस्वी व अपार विद्यावान्, तेजस्वी व विनयी छात्र, कहां आज का अनुशासन हीन छात्र वर्ग जो इन गुणों से सर्वथा हीन है। इसके यदि मूल कारण पर विचार किया जाए तो बेचारे छात्रों का कोई दोष नही, बालक जन्म से जैसा बनाया जाता है वैसा ही बन जाता है जिसके लिए अपराधी हम—माता-पिता एवं गुरुवर्ग ही हैं।

सर्व प्रथम तो 'परिवार' ही बालक की प्रथम शाला है। बालक यहीं विनय, अविनय, सद्गुण-दुर्गुण, खान-पान, रहन-सहन, आदि अनेक प्रकार के तत्वों को प्राप्त करता है, वह अधिकांश में माता-पिता के अनुरूप ही बनता है। बालक का निर्माण पांच-छः वर्ष की आयु तक परिवार में ही हो चुकता है। एक अंग्रेज विद्वान जेसुइट्स ने कहा है कि 'यदि बच्चा पांच वर्ष तक हमारे पास रहे तो वह पक्का रोमन कैथोलिक होगा

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

और उसके मस्तिष्क में धर्म परिवर्तन का प्रश्न कभी नहीं उठेगा।' इसी उक्ति के अनुसार, जो सत्य है, किसी भी बालक को उसके माता-पिता यदि उनमें क्षमता हो तो, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ गुणों से युक्त बना सकते हैं अथवा वे ही यदि दुराचारी है तो बालक को बड़ा से बड़ा दुराचारी बना सकते हैं। समाज का निर्माण बालकों से ही होता है, वे ही राष्ट्र के भावी नागरिक एवं कर्णधार हैं। बालकों के सुधार की ओर, सर्वप्रथम माता-पिता ने तथा पश्चात् गुरू वर्ग ने यदि ध्यान दिया तो समाज का व्यवस्थित होना, उसका कल्याण होना असम्भव ही है जो माता-पिता को (माता-पिता ही अध्यापक अध्यापिकाएं भी हैं वे दोनों का कार्य कर सकते हैं) अपने बच्चों को, माता-पिता होने से तथा अध्यापक अध्यापिका होने से छात्रों को सुधारने का कार्य करना है। वे प्रयत्न करने पर भी केवल उपदेशों से ही श्रेष्ठ या आदर्श नहीं बना सकते जब तक स्वयं का सुधार न कर लें क्योंकि बालक अनुकरणशील होते हैं, वे चुपचाप उनके आचरण करते रहेंगे तथा कोरे उपदेश निष्फल सिद्ध होंगे। एक रूसी विद्वान ने कहा है कि 'आप मुझे साठ श्रेष्ठ मातायें दीजिये, मैं आपको एक श्रेष्ठ राष्ट्र दूंगा।''

उपरोक्त सिद्धान्त पूर्णरूपेण मान्य व बुद्धिमत्ता पूर्ण है। माता-पिता व गुरु तीनों में से भी माता का ही बालक पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। अब्राहम लिंकन छत्रपति शिवाजी, महात्मा गांधी आदि सब अपनी-अपनी माता के आचरणों व उपदेशों से महान् बने, किन्तु श्रेष्ठ माताओं का मिलना ही कठिन है। यदि यही कार्य हो गया तो फिर समाज का निर्माण ही हो गया, राष्ट्र का उद्धार ही समझो। ऐसा हो सका तो श्रेष्ठ मातायें राष्ट्र को श्रेष्ठ बालक प्रदान करेंगी और वर्तमान अव्यवस्थित समाज व्यवस्थित होकर सच्ची प्रगति की ओर अग्रसर होने लगेगा।

समाज का कल्याण नैतिकता के बिना हो ही नहीं सकता, चाहे कितना [illegible] किया जाए। नागरिकों में नैतिकता तब तक नहीं आ सकती जब तक नैतिकता की शिक्षा बालकों को प्राथमिक व पूर्ण माध्यमिक कक्षाओं में अनिवार्य रूप से न दी जाये। नैतिकता के बिना ही आज की समाज-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो रही है, अतः सामाजिक-अध्ययन में ही या तो नैतिकता को सम्मिलित कर दिया जावे, क्योंकि समाज व नैतिकता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अनेक प्रकार के समाजों की अच्छाइयों को ही लाकर बालकों के समक्ष रखा जावे, अथवा नैतिक अध्ययन एक सरल सुबोध रूप में छोटा सा विषय रख दिया जावे। विषयों के भार की चिन्ता न की जावे क्योंकि नैतिकता जो अत्यन्त अनिवार्य विषय है उसके स्थान पर बालकों पर से बहुत से विषयों में से कुछ भी भार कम किया जा सकता है। नैतिकता से ही वैयक्तिक जीवन का, समाज का व राष्ट्र का उद्धार हो सकता है। इस विषय में सरल-सरल कथा कहानी रखी जानी चाहिये जिनके द्वारा किसी न किसी नैतिक गुण का प्रभावशाली उपदेश मिलता हो।

एक और बात है भारत धर्म-निरपेक्ष देश है, अतः यहां के कुछ विद्वानों ने धर्म या नीति को शिक्षा से पृथक् सा कर दिया है, किन्तु यह भूल है। धर्म से तात्पर्य किसी

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सम्प्रदाय विशेष से नहीं अपितु उन गुणों से है जो समाज को नियंत्रित रखकर स्थिर व व्यवस्थित बनाये रखते हैं। इस विषय में केवल मानव धर्मों की शिक्षा होनी चाहिये जो मानव मात्र को आवश्यक व हितकर है। उन गुणों की शिक्षा देने के लिये हमें यह उचित है कि सब धर्मों का त्याग न करके सभी धर्मों के साहित्य में जो भी नैतिक उद्देश्य हों अथवा जो भी नैतिकता की शिक्षा देने वाली कथाएं हों उनका संग्रह करें। यही सिद्धान्त पाठ-पुस्तक के पाठों के लिये भी अपनाया जाना चाहिये जिससे बालक सच्चा मानव बन सके, कहीं वह मानवता से च्युत न हो जाय नहीं तो दानव अवश्य बन जावेगा। शिक्षा का ही भेद होता है, नहीं तो मानव की मूल प्रवृत्ति तो एक ही है चाहे वह हिन्दू, मुसलमान और सिख आदि कुछ भी हों ये सभी सम्प्रदाय तो अन्ततः मानव-समाज द्वारा ही निर्मित हैं। नैतिक अध्ययन में सभी सम्प्रदायों के धर्म-ग्रन्थों-वैदिक-साहित्य, महाभारतादि इतिहास, हिन्दुओं के अनेक धर्मग्रन्थ, कुराण शरीफ, वाईविल, गुरूग्रन्थ साहेब, जैन व बौद्ध साहित्य आदि सभी में से नैतिकता से सम्बन्धित, मानव कल्याण कारी गुणों की, उनकी कथाओं के उपदेशों के अंशों को ग्रहण किया जाना चाहिए तथा प्रत्येक के धार्मिक संकुचित अंशों को त्याग देना चाहिये। विश्व के सभी धर्म ग्रन्थों में आपको नैतिकता के अंश प्राप्त होंगे।

यही एक उपाय है जिसके द्वारा हम आज के समाज की उन्नति कर सकते हैं, अन्यथा भारतीय समाज पतन की ओर तेजी से जा रहा है। हमें 'महाभारत कालीन समाज व्यवस्था' से ही पर्याप्त शिक्षा प्राप्त हो सकती है। महाभारत में नैतिक जीवन या सदाचार पर विशेष बल दिया गया है। महाभारत सदुपदेश, नीति वाक्य या सुभाषितों [illegible]रा पड़ा है। इस 'महाभारत' इतिहास से हमें अनेक शिक्षाएं मिलती हैं। [illegible]ारत से जगत् पर यह बात स्पष्ट हुई है कि विजय सत्य की ही होती है। प्रारम्भ में चाहे असत्य की विजय होने का भान होता है पर असत्य अन्त में हार जाता है। जिस ओर न्याय पक्ष होता है उसकी ही विजय होती है। महाभारत से हमें शिक्षा मिलती है कि 'जब सर्वनाश निकट होता है तब समाज के नियम नष्ट हो जाते हैं, उच्छृंखलता छा जाती है तथा लोगों की बुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है।

सरकार को बालकों की शिक्षा में नैतिकता, सदाचार, कर्त्तव्यपरायणता एवं संयम पर अधिक बल देना चाहिये तभी वास्तविक उन्नति सम्भव है। ये चारों तत्व शाश्वत, पथ्य (हितकर) हैं, देश, काल व परिस्थिति के अनुसार केवल इनके पालन करने के ढंग में ही भेद हो सकता है। सत्य, अहिंसा, तप, त्याग सभी इनके अंतर्गत आ जाते हैं हमारे युग पुरुष महात्मागांधी जी ने भी सदाचार, संयम आदि पर पर्याप्त बल दिया था किन्तु हमारे देशवासी उनकी कुछ ही बातों पर ध्यान दे सके हैं।

अंत में निवेदन करूंगा कि यद्यपि प्रत्येक देश व काल की समाज-व्यवस्था में गुण दोष दोनों होते हैं तथापि महाभारत काल की समाज-व्यवस्था वर्तमान समाज व्यवस्था की अपेक्षा अधिक स्थिर, लोकोपकारी तथा प्रगति की ओर ले जाने वाली

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

थी। काल प्रेरणा से कुछ थोड़े से व्यक्तियों का बुद्धि विपर्यय होने से इतना बड़ा जन तथा भारत सदा पतन के गर्त में चला गया। इस सर्वनाश में प्रधान कारण मद व स्वार्थान्धता ही थे। आज हमें इन दोनों दोषों से ही अपनी रक्षा करनी है।

जगत् नियन्ता से प्रार्थना है कि वे हम सब भारतीयों को ऐसी सुबुद्धि दें जिससे हम केवल अपनी स्वार्थ सिद्धि की कामना से प्रेरित न होकर अपने कर्त्तव्य का सचाई व दृढ़ता से पालन करें तथा अपने ही साथ साथ अन्य लोगों के हित, लाभ व सुखों का भी ध्यान रखें, नैतिक नियमों का पालन करे, उच्छृंखल न हो जावें, सदाचार मय जीवन व्यापान करते हुए धर्म युक्त अर्थ व काम का सेवन करें। सभी भारतीय, अपने राष्ट्र 'भारत' से प्रेम करते हुए, अपने-अपने कर्मों का तो ईमानदारी (सत्यता), परिश्रम व लगन से सम्पादन करें ही साथ ही किसी भी कर्म के करने में अपने स्वार्थ के साथ-साथ अपने भाइयों के स्वार्थ का भी ध्यान रखें सभी व्यक्ति भारतीय होने के नाते कर्त्तव्यों का तो पालन करें किन्तु कोई किसी के कार्य से या किसी व्यक्ति से ग्रहण न करे। अस्पृश्यता, भेद भाव, नीच-ऊंच के भाव समाप्त हो जावें जिससे समाज के किसी भी अंग को, किसी भी कर्म करने में संकोच न हो। सभी परस्पर भाई-भाई की भांति प्रेम करें। भारतीय, केवल भारतीयों को ही नहीं अपितु विश्व के सभी मानवों के प्रति प्रेम करें, विश्व में विश्वास पात्र, प्रेमी व सम्मानीय समझें जावें जिससे पुनः भारत का मस्तक ऊंचा हो।

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पुस्तक-सूची

1. 'महाभारत' (गीता प्रेस, गोरखपुर) प्रथम खण्ड
2. ,, ,, द्वितीय खण्ड
3. ,, ,, तृतीय खण्ड
4. ,, ,, चतुर्थ खण्ड
5. ,, ,, पंचम खण्ड
6. ,, ,, षष्ठम खण्ड
7. हरिवंश पुराण (गीता प्रेस, गोरखपुर)
8. ऋग्वेद संहिता
9. यजुर्वेद संहिता
10. अथर्ववेद संहिता
11. तै[illegible] संहिता
[illegible] ऐतरेय ब्राह्मण
13. कौशेतवी ब्राह्मण
14. काठक संहिता
15. गोपथ ब्राह्मण
16. तैत्तरीय आरण्यक
17. वृहदारण्योपदनिषद्
18. छान्दोग्योपनिषद्
19. तैत्तरीय ब्राह्मण
20. तैत्तरीय उपनिषद्
21. मनुस्मृति
22. बाल्मिकी रामायण
23. आपस्तम्ब धर्म सूत्र
24. आश्वलायन गृह्य सूत्र
25. वैशेषिक सूत्र

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

26. वायु पुराण
27. मत्स्य पुराण
28. विष्णु-पुराण
29. शतपथ ब्राह्मण
30. बाजसनोर्य संहिता
31. 'हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर'—मैकडोनल
32. 'ऋग्वेदिक कल्चर'—ए०सी०दास
33. 'वेदकालीन समाज'—डा० शिवदत्त ज्ञानी
34. 'वैदिक साहित्य'—बलदेव उपाध्याय
35. 'वाल्मीकि रामायण एवं रामचरित्र मानस का तुलनात्मक अध्ययन' —डा० विद्या मिश्र
36. 'रामायण में हिन्दू संस्कृति'—श्री शान्ति कुमार नानूराम वैश्य
37. 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह'—इन्द्र विद्यावाचस्पति
38. 'विनय पत्रिका'—श्री गोस्वामी तुलसीदास
39. 'हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन'—प्रभु
40. 'महाभारत कालीन समाज'—सुखमय भट्टाचार्य
41. 'महाभारत मीमांसा'—ले० श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य, अनु० माधवराव सप्रे
42. 'प्राचीन भारत का इतिहास'—डा० विमल चन्द पाण्डेय
43. 'प्राचीन भारत'—राजाकुमुद मुकर्जी
44. 'प्राचीन भारत का इतिहास'—डा० रमा शंकर त्रिपाठी
45. 'प्राचीन भारत'—रमेशचन्द मजुमदार
46. 'इतिहास प्रवेश'—जयचन्द्र विद्यालंकार
47. 'ऋग्वैदिक आर्य'—राहुल सांकृत्यायन
48. 'विश्व सभ्यता का इतिहास'—विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह
49. 'प्रागितिहास'—धीरेन्द्र नाथ मजुमदार तथा गोपाल शरण
50. 'प्राचीन भारत'—डा० रामबली पाण्डेय
51. 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास'—रांगेय राघव
52. 'भारतीय की संस्कृति और कला—सिन्धु संस्कृति'—राधाकमल मुखर्जी
53. 'वैदिक संस्कृति और सभ्यता'—डा० मुन्शीराम शर्मा
54. 'वैदिक एज' (भारतीय विद्या भवन)
55. 'इन्डोआर्यन पालिटी'—वसु
56. 'हीम्स फ्रॉम दि ऋग्वेद'—मैकडोनल
57. 'वैदिक इन्डेक्स'—मैकडोनल एण्ड कीथ
58. 'धर्म शास्त्र का इतिहास'—खण्ड-2

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

59. धर्म शास्त्र का इतिहास—खण्ड-3
60. 'मनु की समाज व्यवस्था'—सत्य मित्र दुबे
61. 'सोशल साइक्लोजी'—यंग
62. 'प्रिन्सीपल्स आफ सोशल सायकोलोजी'—विलियम
63. भारतीय संस्कृति का विकास--डा० मंगलदेव शास्त्री
[illegible]ीन भारतीय वेषभूषा'—डा० मोतीचन्द
65. 'भारत की प्राचीन संस्कृति'—डा० रामजी उपाध्याय
66. 'भारतीय संस्कृति का इतिहास'—चतुरसेन शास्त्री
67. 'प्राचीन भारत का इतिहास और संस्कृति—बी० जी० गोखले
68. 'बुद्ध पूर्व का भारतीय इतिहास —डा० श्याम विहारी मिश्र, रायबहादुर डी०लिट्
69. 'पाणिनि कालीन भारत'—वासुदेव शरण अग्रवाल
70. 'पतंजलि कालीन भारत'—डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री
71. 'संस्कृत साहित्य का इतिहास'—'वाचस्पति गैरोला
72. 'एम० विन्टरनित्ज—'प्राचीन भारतीय साहित्य'
73. 'हिन्दू संस्कार'—डा० राजबली पाण्डेय
74. 'हिन्दू सभ्यता'—ले० डा० राधा कुमुद मुकर्जी, अनु० वासुदेव शरण अग्रवाल
75. 'ऋग्वैदिक इंडिया'—ए० सी० दास
76. 'भारतीय [illegible]शास्त्र'—शंकर बाल कृष्ण दीक्षित
77. 'सो[illegible]' —मैकाइवर एण्ड पेज

□□

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jayatu Sanskritam, Kathmandu, Nepal